SUN	MON	TUE	WED	THU	FRI	SAT
17 षष्टी	18 सप्तमी	1 अष्टमी				
24 त्रयोदशी	25 चतुर्दशी	26 पूर्णिमा	27 भा० कृ०१ द्वित	28 तृतीया	29 चतुर्थी	3

1980 भाद्रपद **SEPTEMBER** आश्विन २०३७

SUN	MON	TUE	WED	THU	FRI	SA
	1 सप्तमी	2 अष्टमी	3 नवमी	4 दशमी	5 एकादशी	6
7 त्रयोदशी	8 चतुर्दशी	9 अमावस्या	10 भा० शु० १	11 द्वितीया	12 तृतीया	1

पचमी	षष्टी	सप्तमी	सप्तमी	अष्टमी	नवमी
21	22	23	24	25	2
	त्रयोदशी	चतुर्दशी	पूर्णिमा	श्रा० कृ० १	द्विती
	29	30			
	षष्टी	सप्तमी		2nd Janmashtami	

रितमानस
यण के हर
मझाने का
न की सभी
चरित्रों व
गया है ।

नागपुर में
शन प्रस्तुत
जनता के

Rs 15/=

Ved Mandir Library
No. 674/H.
Date 26.2.81
JAMMU.

मानस-मन्थन

प्रथम रत्न

मानस-मन्थन

प्रथम रत्न

•

मूर्धन्य मानस मर्मज्ञ

श्री पं० रामकिंकर जी उपाध्याय

के प्रवचनों का संग्रह

सम्पादक

श्री स्वामी आत्मानन्द जी

संचालक

विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म० प्र०)

•

तुलसी तत्त्वानुसंधान केन्द्र

कानपुर

तुलसी तत्त्वानुसंधान केन्द्र
कानपुर द्वारा प्रकाशित

●

© पं० रामकिंकर जी उपाध्याय

●

तृतीय आवृत्ति : विजयादशमी २०३७

●

लोकभारती प्रेस
१८, महात्मा गांधी मार्ग,
इलाहाबाद-१ द्वारा मुद्रित

मूल्य : १५.००

प्राक्कथन

गोस्वामी तुलसीदासजी द्वारा विरचित रामचरितमानस एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें मानव-जीवन की सभी विधाएँ, उसके सारे आदर्श कुशल पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त किये गये हैं। 'मानस' का मूल स्वर है कि राम ईश्वर हैं और उनकी प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य है। पर उनकी यह प्राप्ति उनके प्रति अनुराग के बिना सम्भव नहीं—'मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा'। अतएव 'मानस' का ताना-बाना इस प्रकार बुना गया है कि श्रीराम की लीलाओं में मन लगे और फलस्वरूप उनके प्रति अनुराग जागे। 'मानस' का कथानक इसी दृष्टिकोण से लिखा गया है कि दशरथनन्दन श्रीराम अपने अनुपम व्यक्तित्व के कारण भक्तों के 'भवपीरहारी' भगवान् बन जायँ। यही कारण है कि तुलसी के राम मात्र इतिहासपुरुष नहीं हैं, वे भावपुरुष भी हैं; तुलसी की दृष्टि ऐतिहासिक के बदले भावात्मक अधिक है। या यों कह लें कि तुलसी केवल भाव-नेत्रों से अपने राम को देखना पसन्द करते हैं, और भाव की यह विशेषता होती है कि वह इतिहास के तंग दायरों को ढहा देता है। यदि श्रीराम मात्र ऐतिहासिक पुरुष होते, तो उनका जन्म आज से कुछ सहस्र वर्ष पूर्व अयोध्या नामक स्थान में दशरथ-कौशल्या के पुत्र के रूप में ही माना जाता और तब यह भी स्वीकार किया जाता कि एक दिन उनकी मृत्यु हुई थी। इनका तात्पर्य यह होता कि श्रीराम इतिहास के देश-कालात्मक दायरों से कभी मुक्त न हो पाते। यह तो भाव की विशेषता होती है, जो अपने विशेष्य को देश और काल की सारी सीमाओं से परे करा देती है। तुलसी का भावात्मक दृष्टिकोण राम को सार्वकालिक, सार्वभौमिक और सार्वजनिक बना देता है। तुलसी के ये राम कहीं भी और किसी भी क्षण अवतरित हो सकते हैं। यदि भक्त अपने हृदय को अयोध्या धाम बना ले, तो 'अवध तहाँ जहँ रामनिवासू' के अनुसार श्रीराम वहीं और उसी क्षण प्रकट हो जाते हैं। यह भावदृष्टि की विशेषता है। इसीलिए 'मानस'

के राम का न तो जन्म होता है, न मरण। उनका मात्र प्राकट्य होता है, जैसा तुलसी स्वयं कहते हैं—'जगनिवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक विश्राम', 'भये प्रगट कृपाला दीनदयाला'।

फिर, गोस्वामी तुलसीदासजी का आदर्श वह नहीं, जो केवल शारीरिक बल की पराकाष्ठा प्राप्त किये हुए हो, और वह भी नहीं, जो मात्र मानसिक या आध्यात्मिक बल के शिखर पर पहुँचा हुआ हो किन्तु शरीर-बल से हीन हो। यदि ऐसा होता, तो रावण को हरानेवाले बालि और सहस्रबाहु उनके आदर्श होते, या फिर मुनि वसिष्ठ को उन्होंने अपने महाकाव्य के नायक के रूप में स्वीकार किया होता। उनका आदर्श तो वह है, जो शारीरिक बल के साथ ही साथ मानसिक एवं आध्यात्मिक बल की पराकाष्ठा पर पहुँचा हो। उनका आदर्श केवल बाहर के दीखनेवाले बली रावण का ही संहार नहीं करता, वरन्, अन्तःकरण के अन्दर जो दुर्धर्ष रावण पैठा हुआ है, उसको भी वह विनष्ट कर देता है। जहाँ शारीरिक बल से बाहरी शत्रुओं पर विजय होती है, वहीं आध्यात्मिक बल भीतर के शत्रुओं को पछाड़ता है। जहाँ इन दोनों का समन्वय है, वही गोस्वामीजी के आदर्श पुरुष हैं।

प्रस्तुत आठ प्रवचनों में 'मानस' के प्रख्यात टीकाकार एवं रामकथा के अनुपम गायक पं० रामकिंकर जी उपाध्याय ने इसी दृष्टि से 'तुलसी के राम' को हम सबके समक्ष रखा है। उन्होंने अपनी बेजोड़ शैली में रामचरित का ऐसा सरस वर्णन किया है कि अनास्था से आक्रान्त ऊसर हृदय भी आस्था के इस अमिय संस्पर्श से जरखेज हो उठता है।

मुझे विश्वास है कि पंडित रामकिंकर जी की मौलिक विवेचना और रसपूर्ण व्याख्या से युक्त यह ग्रन्थ राम-कथा साहित्य की श्रीवृद्धि करेगा और पाठकों को राम-कथा के अध्ययन के लिये एक अभिनव दृष्टि प्रदान करेगा।

—स्वामी आत्मानन्द

अनुक्रमणिका

एक अंतरंग परिचय	....	xi
प्रथम व्याख्यान	....	१
द्वितीय व्याख्यान	....	२५
तीसरा व्याख्यान	....	५३
चौथा व्याख्यान	....	८५
पाँचवाँ व्याख्यान	....	११९
छठा व्याख्यान	....	१५३
सातवाँ व्याख्यान	....	१८९
आठवाँ व्याख्यान	....	२२३

भूमिका

पंडित रामकिंकर जी शास्त्री ने 'रामचरित मानस' का अनोखे ढंग से अभ्यास किया है। रामायण' के हर प्रसंग को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समझने व समझाने का प्रयास किया है। साथ ही आधुनिक जीवन की सभी ज्वलंत समस्याओं का हल इसी ग्रन्थ के चरित्रों व प्रसंगों के आधार पर ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है। तुलसी तत्त्वानुसंधान केन्द्र, कानपुर ने नागपुर में दिये गये शास्त्रीजी के प्रवचनों का प्रकाशन प्रस्तुत करने का जो प्रयास किया है वह सामान्य जनता के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। 'श्रीमद्-भागवत् गीता' को पढ़कर जिस प्रकार मानव 'कर्म' की ओर प्रेरित होता है उसी प्रकार रामकिंकर जी ने राम चरित्र का महत्त्व बताकर लोगों को 'आदर्श' की ओर प्रेरित किया है।

सौभाग्यवश मुझे ऐसे महान् विद्वान् ज्ञानी पुरुष को अधिक समीप से देखने व समझने का सु-अवसर प्राप्त हुआ। नागपुर आने पर वे मेरे ही निवासस्थान में रहे। कुछ समय के लिये घर को मंदिर में परिवर्तित कर उन्होंने अपने निरभिमानी, स्नेही, सरल स्वभाव से सभी को जीत लिया। वे जो कुछ प्रवचन में कहते हैं उसे उन्होंने दैनिक जीवन में खरा उतारा भी है। वास्तव में देखा जाय तो स्वास्थ्य से वे दुर्बल हैं किन्तु मनोबल के आधार पर वे बीमारी के दूसरे दिन भी यथायोग्य प्रवचन देते चले जाते हैं। राम नाम पर अडिग श्रद्धा व जनकल्याण की भावना में डूबे हुये पंडित जी सदैव कार्यरत रहते हैं। इनकी भगवान्

राम के प्रति यही श्रद्धा, भक्ति, प्रेम को देखकर यह कहा जाय कि पंडित रामकिंकर जी शास्त्री आधुनिक युग के तुलसीदास हैं, अतिशयोक्ति न होगी।

तुलसी तत्त्वानुसंधान केन्द्र, कानपुर ने शाखा ने परिश्रम उठाकर 'मानस-मन्थन' यह पुस्तक प्रकाशित की है यह उनका एक स्तुत्य कार्य है। वे इसमें पूर्ण रूप से सफल हों ऐसी कामना करता हूँ व भविष्य में ऐसे ही सुकार्य होते रहेंगे ऐसी शुभ-कामना देता हूँ।

१३-११-७४
दीपावली, २०३१

—रजनीकांत पंडित
"रजनी"
ए-१११, न्यू रामदासपेठ
नागपुर

एक अन्तरंग परिचय

श्री रामकिंकर जी महाराज
रामकथा के प्रयागराज

बोलती महफिल में एक खामोश महफिल चाहिए ।

उर्दू शायरी में एक मार्मिक पंक्ति है यह, और कर्म होता है स्थूल, तो दीखता है साफ-साफ, पर मर्म होता है सूक्ष्म और दीखता नहीं गुणी उन उसे अनुभूति के माध्यम से पहचानते हैं । यही है बोलती महफिल कि खामोश महफिल कि महफिल की चहक तो दूर से भी अपना पता देती है । पर उसकी भीनी महक का आनन्द तो रसिक जन ही लेते हैं । समादरणीय श्री रामकिंकर जी महाराज की कथा उर्दू पंक्ति की दो तहों से आगे बढ़कर तीन तह वाली है । अध्यात्म की तात्त्विकता, राम की कथा और संस्कृति की नैतिकता की त्रिवेणी है रामकिंकर जी की कथा ।

कथा उनका साध्य नहीं है, साधन है । साध्य है भारतीय जीवन की उदात्तता और भारतीय जीवन की गरिमा को पुनर्जागरण की ज्योति से प्रदीप्त करना, पर धर्म प्रचारक की तरह नहीं, राष्ट्र के प्रतिभाशाली विचारक की तरह ।

क्या हम उन्हें तुलसीदास की रामायण के ज्ञाता, प्रवक्ता, व्याख्याकार या फिर भाष्यकार कहकर अपनी बुद्धिमत्ता को सराहें और अपने शब्दों में रामकिंकर जी की सराहना मानें ? अवश्य मानें, यदि हमे आत्मवंचना करनी हो पर यदि हमें सत्य का समझदार दृष्टा कहलाना अभीष्ट हो तो हम इन शब्दों में न उलझें और इससे आगे बढ़ें; क्योंकि वे तुलसीदास की कविता के अध्येता, विशेषज्ञ नहीं, अपितु तुलसीदास की आत्मा के सहचर हैं ।

रामकिंकर जी महाराज का यह परिचय कि वे तुलसीदास की आत्मा के सहचर हैं, सुन्दर हैं, कलात्मक हैं, पर इसके अन्तर में पहुँचना आवश्यक है; क्योंकि उसके बिना हम शब्दों की सुन्दरता-कलात्मकता

का आनन्द तो ले सकते हैं, पर उसका रहस्य नहीं पा सकते। अंगूर के छिलके में रंग का सौन्दर्य है, निर्माण की सौम्यता है पर उसे ही हम देखते रहें तो उसके स्वास्थ्यवर्धक रस का आस्वाद नहीं पा सकते, तो इस परिचय के अन्तर में उतरें।

इस अन्तर का प्रवेश द्वार है यह प्रश्न—क्या तुलसीदास ने राम की कथा लिखी है ? इस प्रश्न का उप प्रश्न है—क्या तुलसीदास कोई कथा लेखक हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में हाँ कहना ऐसा ही है, जैसा यह कहना कि गीता का संदेश है घर बार छोड़कर जंगल में जा बैठना।

तुलसीदास का नाम सुनते ही हममें धर्म की एक मूढ़ भावना स्फुरित होती है और हमारे चिन्तन की शब्दावली होती है—एक महान सन्त थे तुलसीदास।

इसी धारा में आगे बढ़ें तो रामचरितमानस का नाम सुनते ही हममें स्फुरित होती है भक्ति की एक मूढ़ भावना और हमारे चिन्तन की शब्दावली होती है बड़ी पुण्यदायिनी है तुलसीदास की रामकथा।

क्या 'धर्म की मूढ़ भावना' और 'भक्ति की मूढ़ भावना' कहते समय मेरे मन में अवज्ञा-निंदा का हलका भाव है ? 'नम्रता से कहूँ, जिसके जीवन में आधी शताब्दी, यानी ५० वर्ष संस्कृति की सेवा-साधना में लगे हों, वह धर्म और भक्ति के लिए अवज्ञा के माया-जाल में कैसे उलझेगा ? कृति के साथ समय के प्रवाह में विकृति भी आ जाती है, तो धर्म की भावना और धर्म की मूढ़ भावना में वही अन्तर है, जो धर्म-श्रद्धा और धर्मान्धता में।

मुझे इस भेद का साक्षात्कार हुआ था, १९५० के हरिद्वार-कुम्भ में। गंगा तट पर एक पंडितजी तुलसी की राम कथा कह रहे थे तल्लीन भाव से और सैकड़ों श्रोता सामने थे, पर चारों ओर कोलाहल इतना अधिक था कि पास बैठे श्रोता भी कुछ नहीं सुन पा रहे थे। श्रोता फिर भी शान्त थे। क्या यह शान्ति उनका चरित्र थी ? न, वे सन्तुष्ट थे कि कथा सुनाई नहीं पड़ती, तो क्या, हम धर्म कथा का पुण्य-लाभ तो ले ही रहे हैं। मतलब यह उनके लिए कथा का सन्देश आचरणीय तो दूर, श्रवणीय भी नहीं है। यह है धर्म को मूढ़ भावना, यह है भक्ति की मूढ़ भावना।

धर्म का सशक्त द्वारपाल है कर्मकाण्ड। तुलसीदास कर्मकाण्ड के आचार्य या सन्त नहीं हैं; सच तो यह है कि धर्म के भी सन्त नहीं हैं; वे

युग-सन्त हैं और पूर्ण सत्य तो यह है कि राष्ट्र निर्माता हैं, अपने समय में राष्ट्र की मूल संस्कृति के पुनरुद्धारक हैं।

भारतीय धर्म का एक स्वरूप है वेद-वर्णित, एक स्वरूप है शंकराचार्य प्रतिपादित। पर तुलसीदास के काल में धर्म के ये दोनों संस्करण गतिहीन हो गये थे। कहें, भारतीयता जीवनहीन हो चली थी तब तुलसीदास ने रामचरितमानस के द्वारा रामराज्य के रूप में, पारिवारिकता की, आज की भाषा में राष्ट्रीयता की ऐसी रचनात्मक सृष्टि की जिसने धर्म, भक्ति, राष्ट्रीयता, मानवता यानी सम्पूर्ण संस्कृति की ऐसी जीवन्त भावना-प्रतिमा गढ़ी जो बिना शासन-सत्ता की सहायता लिये और बिना शासन सत्ता से टकराये, राष्ट्र के घर-घर पनप उठी कि बाद में औरंगजेब की धर्मान्ध तलवार भी उसे खण्डित न कर सकी। बन्देमातरम के गायक बंकिम चन्द्र ने लिखा—'तोमार प्रतिमा गढ़ी मन्दिरे मन्दिरे'—हर एक मन्दिर में भारत माता की प्रतिमा प्रतिष्ठित हो गई, हर एक परिवार एक छोटा भारत बन गया। यही मैं निवेदन करता हूँ कि तुलसीदास युग सन्त हैं, राष्ट्र निर्माता हैं, बिखरती भारतीयता के रक्षक हैं भारतीय एकता के पोषक हैं।

पं० रामकिंकरजी महाराज इन्हीं तुलसीदास की आत्मा के सहचर हैं; न धर्मोपदेशक, न कर्मकाण्डी कथावाचक। वे रामराज्य के संविधान का विश्लेषण नहीं करते, वे तो रामराज्य के वातावरण में जीते हैं, साँस लेते हैं और रामचरितमानस के पात्र, उसी रामराज्य के वातावरण से अभिसिक्त होकर उनके अन्तःकरण में जीवित-जागृत हैं, बुद्धि पटल पर टंकित मात्र नहीं।

पं० रामकिंकर जी महाराज के परिचय में कहे शब्द अब भी अधूरे हैं, क्योंकि पंडित जी के समय की परिस्थिति, तुलसीदास के समय की परिस्थिति से निश्चय ही भिन्न है। पर विचित्र और विशिष्ट बात यह है कि भिन्न नहीं भी है। भिन्न है, राष्ट्र की राज्य सत्ता के स्वरूप में और समान है इस अर्थ में कि भारत के प्रभु सत्ता सम्पन्न होने पर भी भारतीयता फिर खतरे के द्वार पर नहीं खतरे के घेरे में है।

इस भयानक खतरे से पाठकों का परिचय कराने के लिए मैं उन्हें राष्ट्र निर्माता सन्त गांधी जी के आश्रम सेवाग्राम में ले जाना चाहता हूँ। वहाँ एक दिन, भारत की गुलामी के दिनों की बात है महात्मा गांधी ने कहा था—जवाहरलाल और मेरा थोड़ा मतभेद है। जवाहरलाल कहता है

कि अंग्रेज भले ही भारत से अभी चले जायें अंग्रेजियत अवश्य कुछ साल रह जाये, पर मैं कहता हूँ कि अंग्रेजियत आज ही भारत से चली जाये भले ही अंग्रेज कुछ साल और रह जायें। स्पष्ट है कि राष्ट्र निर्माता गांधी जी विदेशी राज्य से, विदेशी संस्कृति के प्रवाह को अधिक भयानक अनुभव करते थे। उनका अनुभव आज हमारे सामने है कि अंग्रेजियत को विदेशी दलदल में स्वयं फँसकर ही नहीं, अपने परिवारों को, बहू-बेटियों को, बालक-बालिकाओं को स्वेच्छा से फँसाकर हमारा उच्च वर्ग गौरव का अनुभव करता है।

राष्ट्रीयता के लिए भारत की महान् संस्कृति के लिए भारतीयता के लिए यह एक भयानक खतरा है और मैं मन के सम्पूर्ण आदर के साथ कहूँ कि पं० रामकिंकर जी महाराज अपनी जगह और अपनी शैली में इसी सांस्कृतिक खतरे के विरुद्ध वैचारिक युद्ध कर रहे हैं। तभी तो मैंने कहा कि वे धर्म प्रचारक नहीं राष्ट्र विचारक हैं और यहीं वे युग के, समाज के अभिनन्दनीय हैं।

रामचरित्र और रामराज्य अतीत के शृंगार हैं, इतिहास की विभूति हैं, पर रामकिंकर जी अतीत जीवी नहीं हैं। वे अतीत का 'ओर' वर्तमान के छोर से ऐसा जोड़ते हैं कि लगता है कि आज की बात कह रहे हैं पर जोड़ ऐसा लगाते हैं कि न रफूगरी, न पैबन्द हाँ वनस्पति विशेषज्ञ की लगाई 'कलम' की द्वैत भी और अद्वैत भी और राम कथा का श्रद्धा संस्कार भी और राष्ट्रीय चरित्र का उद्बोधन भी। वे धन्य हैं।

—कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'
(जीवन निर्माण साहित्य तथा पत्रकारिता के प्रकाशस्तम्भ)

मानस-मन्थन

प्रथम रत्न

प्रथम व्याख्यान

परम श्रद्धेय स्वामी आत्मानंदजी महाराज,
उपस्थित बंधुओ व देवियो,

भगवान की महती अनुकम्पा से यह सुअवसर प्राप्त हुआ है कि उनके चरित्र की कुछ चर्चा आप लोगों के बीच कर सकूँ। आइये, सबसे पहले गोस्वामी जी की भगवान राम के प्रति जो दृष्टि है, उस पर विचार कर लें। गोस्वामी जी की जो मान्यताएँ हैं, उन्हें रखने के पश्चात् मैं आपके समक्ष भगवान श्रीराम के चरित्र की एक संक्षिप्त झाँकी रखने का प्रयास करूँगा।

पूज्य स्वामी जी ने पृष्ठभूमि के रूप में उस दृष्टि का संकेत आपको दिया है। उन्होंने उस पद का उद्धरण भी आपको दिया जिसमें कहा गया है कि वाल्मीकि ही तुलसी के रूप में अवतरित होते हैं। वाल्मीकि तुलसी के रूप में क्यों अवतरित होते हैं, यदि इस प्रश्न पर विचार करें तो हमारा ध्यान चला जाता है श्रीमद्भागवत के एक प्रसंग की ओर। भगवान व्यास विपाशा नदी के तट पर गंभीर मुद्रा में विराजमान थे। देवर्षि नारद उनके पास आये। व्यासजी ने उनका स्वागत किया। उसके पश्चात् बड़े ही सांकेतिक शब्दों में देवर्षि नारद ने भगवान व्यास से पूछा—आपने महाभारत जैसे महान् ग्रंथ की रचना की है जो ज्ञान का अप्रतिम कोष है। आपको इस रचना के पश्चात् तो संतोष एवं शांति की अनुभूति हो रही होगी ? आप स्वयं में कृतकृत्यता और पूर्णता का अनुभव कर रहे होंगे ? देवर्षि के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान व्यास ने कहा कि महाभारत की रचना को रचना की दृष्टि से महत् मानते हुए भी मैं ऐसा अनुभव नहीं करता कि उसकी रचना के बाद मुझे समग्र

शांति या संतोष का अनुभव हुआ हो। उन्होंने देवर्षि से पूछा कि इसका कारण क्या है ?

देवर्षि नारद ने कहा कि महाभारत की रचना उत्कृष्ट होते हुए भी आपने जिस दृष्टि से वह रचना की है, समग्र अर्थों में वह आपको संतोष और शांति नहीं दे सकती है। आप पुनः श्रीकृष्ण के चरित्र की रचना करें और उस रचना के पश्चात् आपको संतोष एवं शांति का अनुभव होगा। और फिर देवर्षि की प्रेरणा से भगवान व्यास ने श्रीमद्भागवत की रचना की, तब उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि उस रचना के पश्चात् उन्हें परम शांति की उपलब्धि हुई। बड़ी अद्भुत बात है कि महाभारत इतना महत् ग्रंथ है, इतना अप्रतिम है, पर उसके पश्चात् भी भगवान व्यास को ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें संतोष की उपलब्धि नहीं हुई, इसलिए वे उसके बाद श्रीमद्भागवत की रचना करते हैं। तो, मैं कहूँगा कि जिस प्रेरणा से महर्षि व्यास ने महाभारत के बाद श्रीमद्भागवत की रचना की, उसी प्रेरणा से वाल्मीकि भी तुलसी के रूप में अवतरित हो गये। और तब वे भगवान राम के चरित्र को नई दृष्टि से सामने रखते हैं। महर्षि व्यास ने तो अपना कार्य तत्काल कर लिया जबकि महर्षि वाल्मीकि ने उसके लिये कलियुग का चुनाव किया। लेकिन दोनों स्थानों पर दृष्टि एक ही है। भगवान श्रीकृष्ण महाभारत में भी हैं और श्रीमद्भागवत में भी, किंतु रचनाकार की दृष्टि दोनों जगह अलग-अलग है।

वाल्मीकि रामायण के प्रतिपाद्य हैं श्रीराम। वाल्मीकि तुलसीदास के रूप में अवतरित होकर जब श्रीराम के चरित्र का वर्णन करते हैं, तब भी उनके ग्रंथ के नायक श्रीराम हैं, पर दोनों में दृष्टि का पार्थक्य है। जो बात महाभारत और श्रीमद्भागवत की रचना को अलग बनाती है, वह वाल्मीकि एवं तुलसीकृत रामायण की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाती है। वह दृष्टि क्या है जिसकी ओर पूज्य स्वामी आत्मानंदजी ने संकेत किया है ?—वह है ऐतिहासिक दृष्टि और भावदृष्टि। महाभारत इतिहास को प्रधानता देता है तथा श्रीमद्भागवत भाव को। और यही बात रामचरितमानस के विषय में है। वाल्मीकि का काव्य इतिहास-प्रधान है, और जब वे तुलसीदास के रूप में रामचरितमानस की रचना करते हैं तो भावप्रधान हो जाता है।

इतिहास और भाव की दृष्टि में अंतर कहाँ है ? इतिहास की दृष्टि व्यक्ति के ज्ञान की वृद्धि तो कर सकती है पर व्यक्ति के अंतःकरण को

संतुष्ट नहीं कर सकती। वह तो भावदृष्टि है जो व्यक्ति के अंत:करण को संतोष या शांति का अनुभव कराती है। वाल्मीकि ने भगवान राम का वर्णन भले ही सांकेतिक रूप से किया हो किंतु वे मुख्य रूप से मानव-चरित्र की दृष्टि से, मानव के रूप में श्रीराम का प्रतिपादन करते हैं। और दूसरी ओर तुलसीदासजी का मूल प्रश्न ही यह है कि श्रीराम ईश्वर हैं या मनुष्य ? यही रामचरितमानस का एक मूल प्रश्न है जिसके उत्तर में सारी रामकथा कही गई है।

रामचरितमानस के जो वक्ता और श्रोता हैं—भगवान शंकर और पार्वती, काकभुशुंडि और गरुड़, याज्ञवल्क्य और भरद्वाज, तीनों के मन में एक ही प्रश्न है। पार्वती का प्रश्न है कि क्या ब्रह्म मनुष्य के रूप में अवतरित हो सकता है, क्या श्रीराम ईश्वर हैं ? उन्होंने लंका के रणांगन में भगवान राम को मेघनाद के नागपाश में बँधे देखा था और उनको लगा था—नहीं, नहीं, यह तो एक साधारण व्यक्ति है ! और ठीक यही प्रश्न व्यंग्यभरी भाषा में भरद्वाज याज्ञवल्क्य से करते हैं। पूछते हैं—आप कृपाकर यह बताइये कि ये राम कौन हैं जिनकी इतनी प्रशंसा की जाती है ? वे बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से ऐतिहासिक वर्णन करते हैं और रामकथा को केवल दो या तीन पंक्तियों में ही समाप्त कर देते हैं—

एक राम अवधेश कुमारा, तिन्ह कर चरित बिदित संसारा। १।४५।७

—एक राम अयोध्या के राजा के लड़के थे और उनका चरित तो संसार में बहुत प्रसिद्ध है कि—'**नारि बिरहँ दुख लहेउ अपारा**'—पत्नी के वियोग से उन्हें बड़ा दुख हुआ, बहुत रोये और '**भयउ रोषु रन रावनु मारा**'—उसके बाद क्रोध आ गया तो रावण को मार दिया। व्यंग्य क्या था इस गाथा में ? व्यंग्य इस प्रश्न में यह था कि राम में ऐसी कौन-सी बात है जो इतिहास में बार-बार नहीं दोहराई गई ? किस व्यक्ति को अपनी प्रिय वस्तु के वियोग से दुख नहीं होता और कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो अपनी प्रिय वस्तु को पाने के लिए शक्ति होने पर भी संघर्ष न करे ? ऐसी स्थिति में यदि श्रीराम ने भी अपनी पत्नी को पाने के लिये रावण से संघर्ष कर विजय प्राप्त कर ली, तो क्या श्रीराम को इतना महत्त्व दिया जाना चाहिये ? और साथ-साथ भरद्वाज यह भी पूछते हैं कि यह तो बताइये कि जिन श्रीराम का नाम शंकर जपते हैं, वे यही अयोध्या के राजा के पुत्र थे या कोई और थे ? यही वह प्रश्न है, जिसके

उत्तर में रामकथा लिखी जाती है। तो, रामचरितमानस का मूल प्रश्न यह है कि श्रीराम मनुष्य हैं या ईश्वर हैं ? बात बड़ी अटपट-सी लगती है। कभी तो लगता है कि तुलसीदासजी ने यह जो श्रीराम को ईश्वर बना दिया, वह कुछ ठीक नहीं है।

मुझे स्मरण आता है, कुछ वर्ष पूर्व बंबई में एक सम्मेलन हुआ जिसमें उद्‌घाटन करने के लिये एक मंत्री महोदय पधारे। उन्होंने भाषण करते हुए तुलसीदासजी की प्रशंसा तो की, किंतु उन्होंने एक आलोचना करना भी आवश्यक माना। उन्होंने कहा कि तुलसीदासजी का काव्य बहुत सुंदर है, बहुत श्रेष्ठ है, परन्तु यदि वे श्रीराम का वर्णन मनुष्य-रूप में करते तो हम उससे अधिक लाभ लेते; उन्होंने श्रीराम को ईश्वर बनाकर उन्हें हमसे दूर कर दिया; यह मैं गोस्वामीजी की त्रुटि मानता हूँ। उस दिन मुझे भी बोलना था। इसका उत्तर देते हुए मैंने कहा कि हमारे इतिहास में केवल श्रीराम ही तो नहीं हैं। हमारे देश का इतिहास बड़ा लम्बा है जिसमें मनु से लेकर हरिश्चंद्र हैं, दधीचि हैं, रंतिदेव हैं, बलि हैं; इतने ऐतिहासिक पात्र हैं कि उनकी कोई गिनती ही नहीं है। श्रीराम को अगर हम इतिहास से अलग भी कर दें तो हजारों व्यक्ति ऐसे हैं जिनका वर्णन इतिहास में मनुष्य के रूप में किया गया है, ईश्वर के रूप में नहीं। और साथ-साथ मैंने यह भी जोड़ दिया कि अभी वर्तमान युग में महात्मा गाँधी हुए हैं, उन्हें भी आप मनुष्य ही मानते हैं। जब इतने मनुष्यों से आप कुछ नहीं सीख पाये, तो एक राम ही यदि मनुष्य बन जाते तो आप सब कुछ सीख लेते ? यह कहाँ की बुद्धिमत्ता है ? यदि आप इतिहास के व्यक्तियों से कुछ सीखना चाहते हैं तो कोई रोक है क्या ? आप सीखिये न लोगों को मनुष्य मानकर। यह जो बुद्धिवादी-सा प्रतीत होने वाला तर्क है, वह वस्तुतः बुद्धिवादी नहीं है। सत्य तो यह है कि तुलसीदासजी ने श्रीराम के ईश्वरत्व का प्रतिपादन कर उन्हें हमारे निकट पहुँचा दिया। मनुष्य के रूप में तो श्रीराम हमसे बहुत दूर हो जाते। तुलसीदासजी ने उनके ईश्वरत्व का वर्णन कर उन्हें हमारे जीवन के निकट जितना ला दिया, जितना हमारे काम का बना दिया, जितना हमारे लिये प्रेरक बना दिया—मनुष्य के रूप में श्रीराम हमारे उतने काम के कभी हो ही नहीं सकते थे, वे तो इतिहास के एक युग की बीती गाथा मात्र होते। इतिहास के अनेक पात्रों में वे एक और पात्र जुड़ जाते।

इतिहास तो शव-विच्छेद की एक प्रक्रिया है। यह ठीक है कि वह भी एक आवश्यक अंग है, किन्तु आप जानते हैं कि शव-विच्छेद की प्रक्रिया कोई सुखद प्रक्रिया नहीं है। यहाँ तक कि जो डाक्टर उसे करता है उसे भी उसमें कोई आनन्द नहीं मिलता। उससे उसके ज्ञान में वृद्धि तो होती है और उसका करना भी अपेक्षित है किंतु उसे बन्द कमरे में किया जाता है और उसके निष्कर्ष मात्र अपेक्षित हुआ करते हैं। इतिहास का बस यही लेना-देना है।

इस संदर्भ में मुझे एक प्रसंग याद आता है। वाल्मीकि बैठे हुए थे और देवर्षि नारद उनसे मिलने आये। ये देवर्षि नारद हर जगह हैं, हर काल में हैं। वाल्मीकि हों तो उनके सामने हैं और महर्षि व्यास हों तो उनके सामने भी। वाल्मीकि ने देवर्षि से पूछा—

को न्वस्मिन् सांप्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्

—'महाराज, कृपा करके बताइये कि इस समय संसार में सबसे अधिक गुणवान् और वीर्यवान् कौन है? तब, इस प्रश्न के उत्तर में, देवर्षि नारद ने सूत्र के रूप में भगवान श्रीराम के चरित्र की ओर संकेत किया और वाल्मीकि से कहा कि अब आप इस चरित्र का विस्तार कीजिये। यह पौराणिक तथ्य है कि वाल्मीकि भगवान राम के समकालीन थे, किन्तु समकालीन होते हुए भी वे उनका परिचय देवर्षि नारद से पाते हैं। लगता है उनका भगवान राम से सीधा परिचय नहीं है। इधर ऐतिहासिक दृष्टि से तुलसीदासजी का जन्म बहुत बाद में होता है। श्रीराम का जन्म होता है त्रेता में और तुलसीदासजी आज से चार-साढ़े चार सौ वर्ष पहले पैदा होते हैं। पर तुलसीदासजी जब राम का वर्णन करते हैं तो वे किसी तीसरे व्यक्ति से राम का परिचय नहीं प्राप्त करते। यह विचित्र बात है कि जो समकालीन था वह तो राम से दूर था, और जो काल की दृष्टि से दूर था वह राम का समकालीन था। जब तक इस गुत्थी को आप समझ न लेंगे, तब तक तुलसीदासजी के इस विलक्षण भाव को हृदयंगम नहीं कर सकेंगे। महर्षि वाल्मीकि देवर्षि नारद के माध्यम से राम से परिचित होते हैं और तुलसीदासजी राम से सीधे परिचित होते हैं, वे भगवान राम की प्रत्येक लीला में सम्मिलित होते हैं, चाहे वह जन्म की लीला हो, चाहे विवाह की। तुलसीदासजी ऐसा अनुभव करते हैं कि जब राम का अवतार हुआ तब भी तुलसीदासजी थे और जब तुलसीदास-

जी का जन्म हुआ तब भी श्रीराम विद्यमान हैं। इसका अभिप्राय यह है कि भक्त और भगवान एक दूसरे से अलग नहीं होते। काल या देश का कोई परिच्छेद उनको एक दूसरे से अलग नहीं बनाता। इसीलिये तुलसीदासजी जब भगवान राम का जन्म होता है तब बधैया गीत गाते हैं। भगवान राम जब होली खेलते हैं तो तुलसीदासजी भी उनके साथ खेलनेवालों में से एक हैं। वे लिखते हैं—भगवान राम अपने मित्रों के साथ होली का खेल खेले। इसके बाद उन्होंने दान दिये।

तुलसीदासजी कहते हैं कि बहुतों ने बहुत दान पाया। पर यहाँ वे एक बात जोड़ना नहीं भूलते—**'तुलसिदास तहँ भगति दान बर माँगि—** तब तुलसीदासजी ने भगवान से भक्ति का वर माँगा। तुलसीदासजी का तात्पर्य यह है कि जब भगवान राम होली खेल रहे थे तो मैं भी खेलनेवालों में सम्मिलित था। तुलसीदासजी ऐसा अनुभव नहीं करते कि भगवान राम रंग की पिचकारी चलावें तो औरों पर चलावें, वे तो राम के रंग में अपने को रँगा हुआ पाते हैं। श्रीराम उनके लिये प्रत्येक लीला में हैं तथा उन्हें प्रत्यक्ष देखकर ही वे उनका वर्णन करते हैं।

हम देखते हैं कि भगवान राम के विषय में जितने ग्रन्थ लिखे गये हैं उनमें घटनाओं का अन्तर पाया जाता है। पूछा जाता है, कि वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, लोमश रामायण, भुशुंडि रामायण तथा अगस्त्य रामायण आदि में घटनाओं का क्रम एक जैसा क्यों नहीं है? कहीं देशमूलक असंगतियाँ हैं तो कहीं कालमूलक। जब आप रामचरितमानस को पढ़ते हैं तो देखते हैं कि भगवान श्रीराम जब चित्रकूट की ओर जा रहे थे तब गंगा के किनारे उन्हें केवट मिला और केवट ने भगवान राम का चरण-प्रक्षालन किया। अगर आप अध्यात्म रामायण उठाकर पढ़ें तो उसमें आपको एक भिन्न बात मिलेगी। अध्यात्म रामायण में भी केवट भगवान राम के चरण धोता है और उन्हें पार उतारता है, लेकिन कब? जब भगवान राम सीता-स्वयंवर के प्रसंग में जनकपुरी की ओर जा रहे थे तब। अब देखिए, देश और काल की दृष्टि से बड़ी भिन्नता हो गई। विवाह के समय यदि केवट मिला तो बारह बरस पहले मिला और वन जाते समय यदि मिला तो बारह बरस बाद मिला। अगर चित्रकूट के मार्ग में मिला तो वह भौगोलिक दृष्टि से एक अलग मार्ग है और यदि जनकपुर के मार्ग में मिला तो भौगोलिक दृष्टि से वह बिल्कुल भिन्न मार्ग है। अब इन रामायणों में सही रामायण कौन-सी है? कुछ

लोग कहते हैं कि वाल्मीकि रामायण सही है और अन्य रामायणें सही नहीं हैं। तुलसीदासजी के सामने भी यही प्रश्न था जिसका वे बिल्कुल सही आध्यात्मिक उत्तर देते हैं। वे कहते हैं, रामायणें जितनी हैं, वे सभी सही हैं। यह पूछने पर कि कितनी रामायणें हैं, वे एक नई बात कहते हैं—**'रामायन सतकोटि'**—सौ करोड़ रामायणें। सुननेवाले को लगेगा कि यह अतिशयोक्ति है किन्तु तुलसीदासजी तो सौ करोड़ के बाद भी एक शब्द बढ़ाना आवश्यक मानते हैं—वे कहते हैं मुझसे कोई पूछे तो कहूँगा रामायणें सौ करोड़ ही नहीं अपार हैं—**'रामायन सतकोटि अपारा'**—वैसे सौ करोड़ रामायणें तो आज भी नहीं मिलेंगी पर तुलसीदासजी सौ करोड़ के बाद भी 'अपार' लिखना आवश्यक मानते हैं। यही ऐतिहासिक और भावदृष्टि का अन्तर है।

प्रसंग आता है, भगवान राम लंका की विजय के बाद अयोध्या वापस लौटते हैं। उनका स्वागत करने सारी अयोध्या उमड़ पड़ती है। प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि मैं भगवान श्रीराम के निकट पहुँच पाता तो कितना अच्छा होता। लेकिन श्रीराम अगर एक व्यक्ति हैं तो कुछ ही लोग उनसे मिल पायेंगे और लाखों व्यक्ति उनसे दूर होंगे। तब तुलसीदासजी एक नई बात कह देते हैं—

प्रेमातुर सब लोग निहारी, कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी।
अमित रूप प्रगटे तेहि काला, जथा जोग मिले सबहि कृपाला॥
७।२।४-५

—अयोध्या के जितने नागरिक थे, भगवान राम ने उतने रूप बना लिये और वे सबसे मिले। अब आप कल्पना कीजिये, उस समय की रामायण क्या होगी ? जो बड़ा है, भगवान राम उसके चरणों में प्रणाम करते हैं; जो छोटा है उसके सिर पर हाथ रखते हैं; जो बराबरी का है उसको गले से लगाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने राम से मिलकर रस तथा आनंद का अनुभव कर रहा है। अब यदि इनमें से प्रत्येक व्यक्ति रामायण लिखेगा तो प्रत्येक की रामायण अलग-अलग हो जायगी। एक कहेगा कि ज्योंही राम उतरकर आये, उन्होंने मुझे हृदय से लगा लिया। दूसरा कहेगा कि राम जब उतरे तो उन्होंने मुझे आशीर्वाद दिया और तीसरा कहेगा कि विमान से उतरकर श्रीराम ने मुझे प्रणाम किया। अब किसकी रामायण को ठीक कहें ? सभी अपने राम में डूबे हुए हैं। तुलसीदासजी

यह मानते हैं कि संसार में जितने प्राणी हुए हैं और आगे चलकर जितने होंगे, उन सबके लिये जब तक एक-एक राम नहीं हो जाते तब तक मनुष्य को संतोष प्राप्त नहीं हो सकता। उन्हें सार्वजनिक राम से संतोष नहीं होगा। भला ऐतिहासिक राम से उन्हें कैसे संतोष मिलेगा ? ऐतिहासिक पात्र के लिये शिकायत हो सकती है कि भले ही वे किसी के लिये अच्छे रहे होंगे और उन्होंने किसी के साथ बड़ा सद्व्यवहार किया होगा, पर उससे हमारा क्या हुआ ? तुलसीदासजी इसीलिये 'अपार' शब्द का प्रयोग करते हैं। क्योंकि, भला कौन बता सकता है कि इस विश्व में अनादि-काल से अनंतकाल तक कितने जीव पैदा होंगे ? तुलसीदासजी की मान्यता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिये भगवान राम के अवतार की आवश्यकता है और यह तभी संभव होगा जब श्रीराम मनुष्य न होकर ईश्वर हों। तभी वे हर व्यक्ति की भावना को तुष्टि दे सकेंगे, प्रत्येक के अपने बन सकेंगे और प्रत्येक के जीवन में प्रवेश पा सकेंगे।

राम-कथाओं में आपको टकराव दिखाई न पड़े इस दृष्टि से तुलसीदासजी कहते हैं—

हरि अनंत हरिकथा अनंता, कहहिं सुनहिं बहुबिधि सब संता।
रामचंद्र के चरित सुहाये, कलप कोटि लगि जाहिं न गाये॥
१।१३६।५-६

—इस तरह गोस्वामीजी हमें एक दृष्टि देते हैं और चाहते हैं कि इतिहास में श्रीराम को एक बार आया हुआ मानकर हम उन्हें अपने से दूर न बना दें। हमारे श्रीराम तो ईश्वर हैं। वे अयोध्या के कोटि-कोटि नागरिकों से एक साथ मिल सकते हैं—और मिलते भी इस प्रकार हैं कि 'जो जेहि भाय रहा अभिलाषी'—जो जैसा चाहता है उससे वैसा ही मिलते हैं। अतएव यदि वाल्मीकि श्रीराम को एक रूप में और तुलसीदासजी उन्हें एक दूसरे रूप में देखते हैं तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। यह तो बड़ा स्वाभाविक है। तुलसीदासजी कहते हैं कि जो राम हमारी भावना के अनुकूल नहीं होंगे, वे हमें कैसे तृप्ति देंगे ? जैसे, एक न्यायाधीश अपने जीवन में पिता भी है, पति भी है और अपने पद पर न्यायाधीश भी है। उसका बालक अपने पिता के न्यायाधीशत्व से प्रसन्न नहीं होगा। बालक यह नहीं देखेगा कि हमारा पिता कितना बड़ा न्यायाधीश या न्याय का पंडित है। उसकी दृष्टि तो यह होगी कि पिता में वात्सल्य कितना है।

एक दूसरा व्यक्ति जो उसके न्यायालय में जाता है, उसकी दृष्टि मुख्य रूप से यह होगी कि उसको न्याय की, कानून की कितनी जानकारी है, उसमें कितना पांडित्य है तथा वह कितना उत्कृष्ट न्याय कर पाता है। इसी प्रकार हम अपनी भावना की तृप्ति के लिये किन राम को चाहते हैं, यह मुख्य प्रश्न है। श्रीराम के ईश्वरत्व का लाभ यह है कि हम उन्हीं राम से मिल सकते हैं, बात कर सकते हैं और अपने जीवन में उतार सकते हैं जो हमारे हृदय के निकट हैं। श्रीराम की विलक्षणता का एक चित्र तुलसीदासजी अरण्यकांड में प्रस्तुत करते हैं—

बैठे परम प्रसन्न कृपाला। कहत अनुज सन कथा रसाला ॥

—भगवान राम मुस्कराते हुए प्रसन्न भाव से बैठे हुए हैं और लक्ष्मणजी को कोई रसमयी कथा सुना रहे हैं। पर इस दोहे की अगली ही पंक्ति एक भिन्न दृष्टि प्रस्तुत करती है। इसके तुरन्त बाद, तुलसीदासजी अगली पंक्ति में लिखते हैं—उसी समय नारदजी वहाँ आये और—

बिरहवंत भगवंतहि देखी। नारद मन भा सोच बिसेषी ॥

—भगवान को विरह में आँसू बहाते देख उनके हृदय में अत्यन्त शोक हुआ। अब ये दोनों पंक्तियाँ परस्पर-विरोधी हैं। यदि कुछ दूरी से होती तो कल्पना की जा सकती थी कि कुछ देर पहले भगवान श्रीराम प्रसन्न रहे हों और अब उदास हो गये हों, पर एक ही पंक्ति के आस-पास उलटी बात लिखना बड़ा असंगत लगता है। किन्तु यहाँ तुलसीदासजी की भाव-दृष्टि से विचार करके देखिये। श्रीराम को देखने वहाँ पर कौन आया हुआ है ? एक ओर तो शंकरजी आये हुए हैं, उनकी दृष्टि में श्रीराम ईश्वर हैं; ब्रह्म हैं और ब्रह्म में आनन्द को छोड़ कुछ हो ही नहीं सकता। इसलिये जब वे देखते हैं तो श्रीराम कैसे दिखाई देते हैं ? '**बैठे परम प्रसन्न कृपाला।**' उसी समय नारदजी आ गये; और नारद को श्रीराम रोते हुए दिखाई देते हैं। क्यों ? नारद ने भगवान को शाप दिया था कि तुमने मेरा विवाह नहीं होने दिया; मुझे बड़ा दुःख पहुँचाया इसलिये तुम्हें भी पत्नी के वियोग में रोना पड़ेगा। श्रीराम का चमत्कार यही है कि एक ही समय वे शंकरजी को प्रसन्न, मुस्कराते हुए दिखाई देते हैं और नारद को रोते हुए। ऐसा चामत्कारिक अभिनय तो ईश्वर ही कर सकता है, व्यक्ति बिचारा कैसे करेगा ! व्यक्ति तो जिस समय रोता होगा, रो ही

रहा होगा; जिस समय मुस्कराता होगा उस समय होंठों पर मुस्कराहट ही होगी।

नारदजी भगवान राम को रोते हुए देखकर दुखी होते हैं पर मन ही मन प्रसन्न भी होते हैं। वे सोचते हैं कि—

मोर साप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुखभारा॥

—मेरी बात की रक्षा करने के लिये ही भगवान ने इतना दुख स्वीकारा है। तो, जो शिव की दृष्टि है, वह नारद की दृष्टि नहीं हो सकती और जो नारद की दृष्टि है वह शिव की नहीं हो सकती। इस प्रकार नारद एवं शिव के राम एक होकर भी एक नहीं हो सकते, क्योंकि उन दोनों के हृदय की माँग अलग-अलग है। श्रीराम उनके हृदय की माँग के अनुकूल उनके सामने आते हैं। तुलसीदासजी की मान्यता है कि हमें जिस प्रकार के राम की आवश्यकता हो, हम अपने जीवन में भगवान राम को जिस रूप में पाना चाहें, ले आना चाहें, उनको हम अब भी ला सकते हैं। इस देश में, इस काल में और इस क्षण में प्रत्येक व्यक्ति श्रीराम को अपनी इच्छा के अनुकूल पा सकता है! किसी को भगवान राम का मर्यादामय रूप प्रिय है, तो किसी को उनका कृपामय रूप, किसी को शूरतामय रूप प्रिय है तो किसी को उनका कोमलता से भरा रूप, और किसी को उनका विलक्षण रूप प्रिय हो सकता है। तुलसीदासजी अपने इस महान् ग्रंथ के द्वारा एक नई दृष्टि देते हैं।

वाल्मीकि रामायण एक मंदिर है, रामायण का अर्थ ही है—राम का मंदिर। पर रामचरितमानस रामायण नहीं है। तब क्या है? तुलसीदासजी कहते हैं—

पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा॥

१।११२।७

तुलसीदासजी अपनी रामकथा का वर्णन या तो सरोवर के रूप में करते हैं, या नदी के रूप में। उनकी रामकथा एक गंगा है और वाल्मीकि की रामकथा एक मंदिर। हमारी संस्कृति में दोनों को आदर का स्थान प्राप्त है। पर मंदिर और गंगा में अंतर कहाँ है? मंदिर एक देश में है, वह स्थिर है। पर गंगा एक जगह स्थिर नहीं है, वह चलती है, वह हिमालय से निकलकर देश की दूरियों को पार करती हुई समुद्र की ओर

जा रही है। मंदिर समय पर खुलता और समय पर बंद होता है। यदि आप समय पर मंदिर नहीं पहुँचते तो आपको देवता के दर्शन नहीं होंगे। पर गंगा किस समय खुलती है और कब बंद होती है ? गंगा की धारा काल के व्यवधान को स्वीकार नहीं करती, वह उन्मुक्त है; प्रतिक्षण उसका द्वार खुला हुआ है। मंदिर में जाइये तो भगवान से आपकी दूरी बनी रहेगी। मंदिर में जाने पर देवता को दूर से नमस्कार करेंगे। पर गंगा में जाइये तो वहाँ दूरी नहीं है, भीतर घुसकर गोता लगाइये, गंगा को और अपने को एक बना लीजिये। मंदिर कहता है—भाई, पहले स्नान करो, पवित्र बनो, तब मेरे पास आओ, जबकि गंगा कहती है—जैसे भी हो मेरे पास चले आओ, किसी पवित्रता की आवश्यकता नहीं, तुम मुझमें गोता लगा कर पवित्र हो जाओ।

वाल्मीकि द्वारा संस्कृत में रचित उनका रामायण महाकाव्य मंदिर के समान महार्घ है, दिव्य रत्नों से युक्त है; उसका वैभव, उसकी समृद्धि, उसकी काव्यरचना अनुपम है; किन्तु फिर भी वाल्मीकि के राम के और हमारे बीच एक दूरी का अनुभव होता है। तुलसीदासजी के राम गंगा की धारा की तरह हमारे इतने निकट हैं कि उनके पास जाने में हमें किसी तरह का भय नहीं लगता; ऐसा प्रतीत नहीं होता कि वे बहुत बड़े या बहुत महान् हैं। वाल्मीकि-रामायण पढ़कर लगता है कि श्रीराम कितने महान् हैं, जबकि तुलसीदासजी के राम की कथा को पढ़कर लगता है कि राम दूसरों को कितना महान् बना देते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि दोनों दृष्टियाँ अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण हैं, पर श्रीराम हमारे जीवन में जितने निकट तुलसीदासजी के द्वारा पहुँचाये जाते हैं, निश्चित रूप से वाल्मीकि के द्वारा वह संभव नहीं था। इसीलिये यदि वाल्मीकि ने पुनः अवतरित हो एक नई दृष्टि से रामकथा का निर्माण किया हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। इस दृष्टि से आप यदि विचार करके देखें तो गोस्वामीजी ने जानबूझकर कुछ अनोखी बातें लिखी हैं। वे एक सरोवर की उपमा देते हैं। जब एक नदी या सरोवर की ओर हम या आप जाते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति की एक ही दृष्टि नहीं होती। कोई वहाँ स्नान करने के लिये जाता है, तो कोई जल पीने के लिये, तीसरा व्यक्ति कपड़ा साफ करने के लिये जाता है तो चौथा जाता है उसकी गहराई में गोता लगाने के लिये। तुलसीदासजी इन चार घाटों की कल्पना के द्वारा हम सबको सरोवर में आने का आमंत्रण देते हैं। वे कहते हैं—हमारे श्रीराम का

चरित्र दिव्य जल से भरे सरोवर की तरह है। जब कोई व्यक्ति स्नान करने के लिये जायेगा तो सबसे पहले उसकी दृष्टि इस ओर जायेगी कि सरोवर का जल साफ है या नहीं। यदि जल स्वच्छ नहीं है तो नहाने का मन नहीं करेगा। और जो व्यक्ति जल पीने के लिये जायेगा उसकी दृष्टि स्वच्छता पर ही केन्द्रित नहीं रहेगी, वह यह भी देखेगा कि जल पीने में मीठा और शीतल है या नहीं। पर जो व्यक्ति तैरने के लिये जायेगा वह केवल स्वच्छता, मिठास अथवा शीतलता पर ही दृष्टि नहीं डालेगा, वह यह भी देखेगा कि जल में गहराई है या नहीं।

तुलसीदासजी का संकेत यह है कि जो चरित्रवादी धार्मिक प्रवृत्ति के लोग हैं, वे आवें और भगवान श्रीराम के चरित्र की स्वच्छता में अपने चरित्र को स्वच्छ बनावें—

लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करइ मल हानी॥
१।३५।५

उन्होंने कहा कि जो लोग सगुण-साकारवादी (चरित्रवादी) हैं उनके लिये श्रीराम के चरित्र की शुद्धता और पवित्रता ही जल की स्वच्छता है। जो लोग ज्ञानी हैं, तैराक हैं, गहराई में जाना चाहते हैं, उन्हें भी गोस्वामीजी निमंत्रण देते हैं—

रघुपति महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ बर बारि अगाधा॥
१।३६।२

यह एक पुराना विवाद है कि ईश्वर निर्गुण-निराकार है या सगुण-साकार? कुछ लोग कहते हैं कि कबीर, दादू आदि सन्त निर्गुण-निराकारवादी थे और तुलसीदास, सूरदास आदि लोग सगुण-साकारवादी। मैं इससे सहमत नहीं। तुलसीदासजी कोई वादी नहीं हैं। वे निर्गुण और सगुण दोनों को स्वीकार करते हैं। उनसे पूछा गया कि आप निर्गुण को स्वीकार करते हैं या सगुण को? उन्होंने भावना भरे शब्दों में उत्तर दिया—यदि अपने घर में दो अतिथि आ जायें तो क्या यह आवश्यक है कि एक को निकाल बाहर किया जाये और दूसरे को ठहरा लिया जाये? मैं तो निर्गुण और सगुण दोनों का स्वागत करता हूँ और दोनों के रहने के लिये दो कमरे भी ठीक कर देता हूँ—

हिय निर्गुन नयननि सगुन।

इतनी बड़ी बात तुलसीदासजी ने छोटे से वाक्य में कह दी। वह ईश्वर मेरे हृदय में निर्गुण-निराकार है पर मेरी आँखों में सगुण-साकार। निर्गुण-निराकार की सत्ता कोई अस्वीकार कैसे कर सकता है? अंतर्यामी के रूप में तो ईश्वर बैठा ही हुआ है, पर निर्गुण-निराकार के इस अंतर्यामित्व से आँखों को संतोष कैसे होगा? आँखें तो तब सन्तुष्ट होंगी जब वह उनके सामने दिखाई दे, जब उन्हें उसकी रूपमाधुरी के दर्शन हों। यद्यपि तुलसीदासजी कहते हैं कि मैंने दोनों को दो स्थान दे दिये हैं, फिर भी उन दोनों को कमरा देने में तो पक्षपात हो ही सकता है—एक को बढ़िया कमरा दे दिया तो दूसरे को साधारण कमरे में ठहरा दिया। गोस्वामीजी से पूछा कि महाराज, आपने बड़ा या श्रेष्ठ स्थान किसे दिया? अब बताइये, हृदय श्रेष्ठ है या नेत्र? इसका निर्णय कौन करेगा? तुलसीदासजी एक और मीठी बात कहते हैं कि भाई, मैंने तो सबसे बढ़िया कमरा एक तीसरे को दे रखा है—

हिय निर्गुन नयननि सगुन, रसना राम सुनाम।
मनहुँ पुरट संपुट लसत, तुलसी ललित ललाम॥

—नेत्रों में सगुण-साकार को रखा है और हृदय में निर्गुण-निराकार को, तथा राम-नाम को जिह्वा पर रख दिया है। स्वर्ण-मंजूषा में कोई दिव्य रत्न ही रखा जाता है। निर्गुण और सगुण मानो मंजूषा के दो भाग हैं जिनके बीच रखा हुआ रत्न तो रामनाम है। यदि यह विवाद हो कि अमुक व्यक्ति निर्गुण है या सगुण, तो हम क्या करते हैं? हम उसका नाम लेकर पुकारते हैं और वह सामने आकर अपना परिचय दे देता है। इसी प्रकार तुलसीदासजी कहते हैं, तुम रामनाम लेकर पुकारो तो, वह जैसा भी होगा, सामने आकर परिचय देगा। अगर वह निर्गुण होगा तो निर्गुण रूप में अपनी सत्ता प्रकट करेगा और यदि सगुण होगा तो सगुण रूप में सामने आ जायेगा। वे कहते हैं कि इस रामचरितमानस में जो श्रीराम की अगुण महिमा है, वह गहराई है और जो सगुण-साकार लीला है, वह स्वच्छता है।

रघुपति महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ बर बारि अगाधा॥

—बड़ी दार्शनिक बात तुलसीदासजी ने यहाँ कही। देखिए, जल की

स्वच्छता पर जो व्यक्ति दृष्टि डालता है, शायद वह जल की गहराई पर ध्यान न देता हो। पर आप अच्छी तरह जानते हैं कि जल की स्वच्छता का उसकी गहराई से बड़ा गहरा संबंध है। जल जितना गहरा होगा उतना ही साफ होगा और गहराई का जितना अभाव होगा, स्वच्छता उतनी ही सीमित होगी। आप एक छोटे से पात्र में जल ले लें और उस में एक गंदा वस्त्र डाल दें, तो आपका कपड़ा भले ही साफ हो जायगा पर आप बाद में देखेंगे कि जल गँदला हो चुका है। तुलसीदासजी का तात्पर्य यह है कि राम को यदि हम केवल व्यक्ति या सगुण मानेंगे तो स्वच्छता तो होगी, पर राम स्वयं मलिन हो जायेंगे; इसीलिये सगुण राम का निर्गुण होना आवश्यक है। उनमें अगुण की गहराई बनी रहे तभी सगुण की स्वच्छता रहेगी। अगर अगुण की गहराई को हमने भुला दिया तो सगुण की स्वच्छता नहीं रह सकती।

तुलसीदासजी के राम में अगुण की गहराई है और सगुण की स्वच्छता भी। ज्ञानी तैराक हैं, वे गहराई के प्रेमी हैं। जो कर्मी हैं वे स्वच्छता के प्रेमी हैं। जल पीने वाले भक्त जल की मिठास और शीतलता चाहते हैं। उनके लिए तुलसीदासजी कहते हैं—

प्रेम भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई॥

१।३५।६

—रामचरितमानस में जो प्रेम और भक्ति है वही उसकी मधुरता और शीतलता है। इसके द्वारा गोस्वामीजी ने ज्ञानी और भक्त का अंतर प्रकट कर दिया। ज्ञानी गोता लगाता है और भक्त प्रेमरूपी जल को पीता है। दो ही उपाय हैं—भगवान में स्वयं को डुबोना या भगवान को स्वयं अपने आप में ले आना। ज्ञानी भगवान में डूबता है और भक्त भगवान को अपने आप में ले आता है। दोनों ही मार्ग हैं। इस प्रकार तुलसीदासजी निमंत्रण देते हैं कि जो ज्ञानी हैं वे राम के चरित्र की गहराई को देखें, जो भक्त हैं वे चरित्र की मधुरता और शीतलता का आनंद प्राप्त करें और जो चरित्रवादी हैं वे राम के चरित्र की स्वच्छता पर दृष्टि डालें। अब तुलसीदासजी से पूछा गया कि वह चौथा घाट आपका कहाँ से आ गया। आपने राम के चरित्र से क्या लिया?—गहराई ली, स्वच्छता ली, मधुरता ली या शीतलता ली? तो तुलसीदासजी कहते हैं कि मैंने राम के चरित्र से कुछ नहीं लिया। तब? तुलसीदासजी कहते

हैं कि औरों ने तो राम के चरित्र से लिया, पर मैंने दिया ! क्या दिया आपने ? तुलसीदासजी कहते हैं कि जल के और जितने गुण हैं वे सब तो श्रीराम में थे, पर जल का एक गुण राम में नहीं था। उनका चरित्र जल के समान गहरा, स्वच्छ, मधुर और शीतल तो था, पर उसमें हलकापन और होना था। जल अगर हलका हो तो वह एक गुण है, उससे जल सुपाच्य हो जाता है। पर चरित्र को यदि हलका कह दिया जाय तो बड़ी निंदा की बात हो जाती है। तुलसीदासजी कहते हैं कि राम के चरित्र में और तो सब था पर हलकापन नहीं था और मुझ तुलसीदास के चरित्र में सब हलकापन ही है और कुछ नहीं। अतः मैंने भगवान से कहा कि प्रभो, आपके चरित्र में यदि मेरा हलकापन और जुड़ जाय तो वह सार्थक हो जाय। इसलिए मैंने भगवान को अपना हलकापन दे दिया !

तुलसीदासजी का तात्पर्य यह है कि श्रीराम का महत्त्व इसमें नहीं कि वे कितने बड़े हैं बल्कि इसमें है कि वे एक साधारण से साधारण व्यक्ति को भी कितना महत् बना देते हैं।

उत्तरकांड के अन्त में एक चित्र आता है। काकभुशुंडिजी श्रीराम के साथ खेल रहे हैं। अचानक श्रीराम की लीला को देखकर उनको भ्रम हो गया। रामायण में तीन शब्द आते हैं—चरित्र, लीला और कथा। चरित्र तो आप जानते ही हैं। किसी व्यक्ति के जीवन में जो विशिष्टता या मूल गुण हैं उन्हें आप चरित्र के रूप में कह सकते हैं। लीला का तात्पर्य है—अभिनय, जो कि नाटक के रूप में किया जाता है। यह आवश्यक नहीं कि लीला और चरित्र बिल्कुल एक-जैसे हों। मान लीजिये आपका कोई मित्र बड़ा सत्यवादी है। यदि नाटक में उसे झूठ बोलने का काम दे दिया जाय, तो वह वहाँ झूठ बोलेगा। इसके विपरीत, जीवन में प्रायः झूठ बोलनेवाले को यदि नाटक में हरिश्चंद्र की भूमिका दे दी जाय तो वह सत्यवादी बनकर बोलने लगेगा। अतः नाटक में आप किसी व्यक्ति की लीला को देखकर यदि उसके चरित्र के विषय में निर्णय करने लग जायँ तो आपको धोखा हो जायगा। काकभुशुंडि को कुछ ऐसा ही भ्रम हो गया। वे भगवान के साथ खेल रहे थे। कौसल्याजी ने मालपुआ ले जाकर राम के हाथ में दे दिया। श्रीराम उस मालपुए को खाने लगे। काकभुशुंडि यह सोचकर कि मुझे भी प्रसाद मिले, श्रीराम के समीप गये। उनको आशा थी कि श्रीराम उन्हें मालपुए में से कुछ भाग देंगे पर श्री-राम ने हाथ हटा लिया। जब वे रूठकर कुछ दूर चले गये तो श्रीराम

ने फिर मालपुआ दिखाया। फिर जब काकभुशुंडि लेने के लिये आये तो फिर हाथ हटा लिया। और तब काकभुशुंडि कहते हैं—

प्राकृत सिसु इव लीला देखि भयउ मोहि मोह।
कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंद संदोह॥ ७-७७ (ख)

—श्रीराम तो कर रहे थे लीला और मैं देखने लगा चरित्र। श्रीराम तो बालकों की लीला कर रहे थे। भला एक बालक इतनी सरलता से कौए को मालपुआ कैसे दे देगा ? श्रीराम ने तो अभिनव का ठीक-ठीक निर्वाह किया। पर काकभुशुंडि को लगा कि ईश्वर को तो बड़ा उदार कहा जाता है, अत: वह कैसे ईश्वर हो सकता है जो मालपुआ देने में भी कृपणता करे ? काकभुशुंडिजी गरुड़ से कहते हैं कि इससे मेरा मन भ्रम में पड़ गया और मैं श्रीराम से दूर उड़ चला—

तब मैं भागि चलेउँ उरगारी। राम गहन कहँ भुजा पसारी॥
जिमि जिमि दूरि उड़ाउँ अकासा। तहँ भुज हरि देखउँ निज पासा॥
५।७८।७-८

—मैं भागने लगा और श्रीराम ने अपनी भुजा मुझे पकड़ने के लिये बढ़ाई। आकाश में मैं जहाँ-जहाँ गया वहाँ मैंने भगवान राम की भुजा को देखा।

ब्रह्मलोक लगि गयउँ मैं चितयउँ पाछ उड़ात।
जुग अंगुल कर बीच सब राम भुजहि मोहि तात। ७।७९

—मैं जहाँ भी गया, मैंने अपने पीछे राम की भुजा को देखा। उनकी भुजा में और मुझमें दो अंगुल की दूरी बनी हुई थी। और तब व्याकुल हो मैंने नेत्र मूँद लिया। जब मैंने नेत्र खोला तो आकर भगवान के चरणों पर गिर पड़ा। जब मैं चरणों पर गिरा तो भगवान राम मुस्कराये और अचानक उन्होंने मुझे मुँह में रख लिया। भगवान के उर में जब मैं गया तो उनके उदर में बने कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों का मैंने दर्शन किया। यह रामायण का दर्शन है जहाँ देश-काल की सारी परिभाषाएँ परिवर्तित हो गई हैं। सारे ब्रह्माण्ड में भारत, भारत में अयोध्या, अयोध्या में दशरथ, दशरथ का महल, दशरथ के महल में उनका आँगन, उस आँगन में श्रीराम और उनके पास काकभुशुंडि। काकभुशुंडि कहते हैं कि जब वे

भगवान् राम के मुख में बैठे तो उन्हें कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों का दर्शन करते हुए यह विचित्रता लगी कि जहाँ-जहाँ वे गये, उन्होंने प्रत्येक ब्रह्माण्ड में राम का अवतार देखा। इतना ही नहीं, उन्हें यह देखकर और भी आश्चर्य हुआ कि हर जगह कोई न कोई काकभुशुंडि बैठा हुआ है। हर ब्रह्माण्ड में राम का अवतार और हर ब्रह्माण्ड में काकभुशुंडि। उन्होंने यह भी देखा कि प्रत्येक ब्रह्माण्ड में दशरथ हैं, कौसल्या हैं और हर ब्रह्माण्ड में प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग है। राम तो हर जगह वही हैं, पर दशरथ अलग हैं, कौसल्या अलग हैं, काकभुशुंडि अलग हैं। वे १०१ कल्प तक भगवान् राम की लीलाओं का दर्शन अमित ब्रह्माण्डों में करते रहे। जब वे ब्रह्माण्डों का दर्शन करते-करते घबरा गये तो अचानक भगवान् हँस पड़े और काकभुशुंडि उनके मुख से बाहर निकल आये। तब उन्हें लगा कि—**'उभय घरी महँ मैं सब देखा'**—मैंने दो ही घड़ी में सब कुछ देख लिया। पर राम के उदर में तो उन्हें ऐसा लगा था कि मैं १०१ कल्प तक घूमता रहा। इसका अभिप्राय क्या है? मानो भगवान् बताना चाहते हैं कि देश और काल भी मात्र संवेदनात्मक हैं। जिस देश और काल को व्यक्ति ने इतना ठोस मान रखा है वह तात्विक नहीं। काक-भुशुंडि को एक नये सत्य का ज्ञान हुआ और वह सत्य हमारे, आपके एवं सबके लिये बड़े काम का है।

गत दिनों मैं दिल्ली में था। वहाँ रामलीला के दौरान एक दिन श्रीराम के राज्याभिषेक की लीला चली। रामराज्य में **'प्रथम तिलक वसिष्ठ मुनि कीन्हा।'** मुझसे कहा गया कि आप तिलक कीजिये, तो मैंने श्रीराम को तिलक लगाया। मैंने तब कहा कि भगवान् राम की लीला का यही आनन्द है। यदि भगवान् राम इतिहास में होते तो मैं मुनि वसिष्ठ नहीं हो सकता था। मैं वसिष्ठ इसीलिये बन पाया कि श्रीराम शाश्वत हैं। इसी प्रकार आप भी दशरथ बन सकते हैं, कौसल्याजी आपके भी जीवन में आ सकती हैं। आप चाहे जिस देश या काल में हों, भगवान् श्रीराम को आप पा सकते हैं, उनसे नाता जोड़ सकते हैं।

तुलसीदासजी का कथन है कि प्रत्येक ब्रह्माण्ड में भगवान् का अवतार होता है। प्रत्येक कल्प में वे ब्रह्माण्ड की दो परिभाषाएँ करते हैं—एक ब्रह्माण्ड तो भौगोलिक है और दूसरा ब्रह्माण्ड प्रत्येक व्यक्ति का शरीर है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आपमें एक अनोखा ब्रह्माण्ड है। जो विराट ब्रह्माण्ड है, उसी का एक नन्हा प्रतिरूप व्यक्ति का ब्रह्माण्ड है। इसी

प्रकार, एक कल्प तो वह है जो घड़ी के द्वारा या समय के मापदंड द्वारा जाना जाता है और दूसरा कल्प वह है जो हमारी एवं आपकी अनुभूति से सम्बद्ध है। अनुभूति से सम्बद्ध होने का तात्पर्य क्या? कहा है कि भगवान् एक कल्प में अवतार लेते हैं, अब यदि कोई व्यक्ति यह मान ले कि भगवान् त्रेतायुग में अवतार लेते हैं, तो कितनी बड़ी निराशा उसके हाथ लगेगी? अभी तो कलियुग चल रहा है, इसके बाद सतयुग आयेगा और तब कहीं त्रेता की पारी आयेगी। तब तो श्रीराम और हमारे बीच इतनी बड़ी दूरी हो जाती है कि हम श्रीराम को कभी पा ही नहीं सकते। किन्तु गोस्वामीजी कहते हैं—नहीं, नहीं, कल्प तो आपकी मन की व्याकुलता की अनुभूति से सम्बद्ध है; वह कोई घड़ी से सम्बद्ध नहीं है। अगर वह घड़ी से सम्बद्ध होता तो आप उन्हें पा ही नहीं सकते थे। पर यह त्रेतायुग और कल्प तो चाहे जब आपके जीवन में आ सकता है।

एक व्यंग्य आता है। हनुमानजी से श्रीरामचंद्रजी ने पूछा कि हनुमान, यह तो बताओ सीताजी लंका में कैसी हैं? हनुमानजी ने कुछ तो सुना दिया और कुछ के लिये कहा कि प्रभो, पूछिये मत। भगवान् ने कहा—ऐसी क्या बात है? दस ही महीने से तो सीताजी लंका में हैं। हनुमानजी ने कहा—नहीं प्रभो, आप जो बात कह रहे हैं वह नहीं है। जब आप कहते हैं कि दस महीने से सीताजी लंका में हैं तो आपने सही गणित नहीं किया—

निमिष निमिष करुनानिधि जाहिं कलप सम बीति। ५।३१

—सीताजी के जीवन में इतनी व्याकुलता है कि उनका एक-एक निमिष कल्प के समान व्यतीत हो रहा है। आपको तो चाहिए था कि पहले ही अवतार लेकर उनका कष्ट दूर कर देते। पर लगता है आप अपनी प्रतिज्ञा भूल रहे हैं कि आप प्रत्येक कल्प में अवतार लेते हैं। हनुमानजी का संकेत यह था कि व्याकुलता का जो कल्प है वह प्रत्येक व्यक्ति के लिये संभव है। घड़ी वाला कल्प एक अलग बात है, पर हमारे अंतःकरण की अनुभूति का जो कल्प है, वह अधिक सार्थक है। अगर हमें ठीक-ठीक अनुभव होने लगे कि हमें ईश्वर की आवश्यकता है तो अनुभूतिवाला कल्प हमारे जीवन में किसी भी क्षण आ सकता है। मानो इस प्रकार तुलसीदासजी ने राम को हमारे पास पहुँचा दिया। काल के परिच्छेद को उन्होंने दूर कर दिया। उन्होंने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति का शरीर, उसका जीवन

एक ब्रह्माण्ड की तरह है। और इसीलिये वे रामायण के प्रारम्भ में भगवान् राम के अवतार की कई गाथाओं का वर्णन करते हैं।

कहते हैं, एक बार जय और विजय रावण और कुंभकर्ण बने। फिर कहा जाता है कि एक बार रुद्रगण रावण और कुंभकर्ण बने। यह भी कहते हैं कि प्रतापभानु रावण बना, तो एक स्थल पर यह कहा गया कि जो जलंधर था वह आगे चलकर रावण बना।

जय और विजय भगवान् के द्वारपाल हैं। सनक, सनंदन, सनातन और सनत्कुमार नामक ऋषि भगवान् नारायण से मिलने गये। जब उन्होंने भगवान् के धाम में प्रविष्ट होने की चेष्टा की तो इन दोनों द्वारपालों ने छड़ी अड़ाकर उन्हें रोका। और तब उन महात्माओं ने क्रुद्ध होकर श्राप दे दिया कि जाओ, तुमको तीन जन्मों तक असुर बनना पड़ेगा। फलस्वरूप वे द्वारपाल रावण और कुंभकर्ण बन गये।

दूसरी कथा आती है देवर्षि नारद की। भगवान् ने उन्हें बन्दर की आकृति दे दी थी और उसके बाद जब वे स्वयंवर-सभा में बैठे हुए थे तो शंकरजी के दोनों गण उनके आसपास बैठे उनपर व्यंग्य कर रहे थे। नारदजी ने उन्हें श्राप दे दिया कि तुमने हमारी हँसी उड़ाई है इसलिए जाओ, राक्षस हो जाओ। और तब वे रावण और कुंभकर्ण बने।

प्रतापभानु महान् धार्मिक प्रकृति का राजा था। पर उसने एक बार ब्राह्मणों को ऐसा भोजन कराने की चेष्टा की जिसमें मांस सम्मिलित था। आकाशवाणी होने पर ब्राह्मणों ने क्रुद्ध होकर उस राजा को श्राप दे दिया जिससे उसे रावण बनना पड़ा।

इन कथाओं का अभिप्राय यह है कि रावण बुराई का एक प्रतीक है और प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में एक जैसा रावण नहीं होता। जय और विजय देखने में बिलकुल भगवान् जैसे हैं। जब ये चारों महात्मा आये और भीतर जाने लगे तब इन द्वारपालों के मन में यह अहंकार आया कि हम भी तो भगवान्-जैसे ही हैं; ये हमारा ही दर्शन करके संतुष्ट क्यों नहीं हो जाते ? ये भीतर जिसका दर्शन करने जा रहे हैं उसमें कोई विशिष्टता है क्या ? तो, यहाँ जो रावण है वह अहंकार का प्रतीक है। यहाँ ईश्वर से स्पर्धा की जो भावना है वह रावण के जन्म का हेतु बनती है।

रूद्रगणों के प्रसंग में एक दूसरी ही वृत्ति कार्यरत है—वह है दूसरे के पतन पर आनंद का अनुभव करना। भगवान् ने नारद को बंदर की आकृति दी तो सही पर उनकी इच्छा यह थी कि नारद की रक्षा हो।

शंकर के गण होने के नाते रूद्रगणों की आँखें बड़ी पैनी हैं। आँखें पैनी हों यह अच्छा है लेकिन रुद्रगणों की तरह पैनी होना भी ठीक नहीं। यदि किसी के पास ऐसी दृष्टि आ जाये जिसके द्वारा वह दूसरों के दोष या पाप को जानकर उनकी हँसी उड़ाने लगे या उनको कष्ट पहुँचाने में आनंद ले, तो उस दिव्य दृष्टि की निंदा की जाये अथवा प्रशंसा ? इन दोनों रूद्रगणों ने अपनी प्राप्त दिव्य दृष्टि का दुरुपयोग किया। रुद्रगण भला स्वयंवर में गये क्यों थे ? उन्हें तो विवाह करना नहीं था। वे केवल इसलिए गये थे कि नारद की दुर्दशा देखकर उनकी हँसी उड़ायें। यह तो वैसी ही बात हुई जैसे आप किसी का पीछा करें और वह फिसलकर गिरे तो तालियाँ बजाकर आनद लें। रुद्रगण नारद पर व्यंग्य कर रहे हैं। अंत में भगवान् आते हैं और माया भगवान् के गले में जयमाला डाल देती है। भगवान् जब विश्वमोहनी को लेकर चले जाते हैं तो तुरंत रुद्रगण नारद से कहते हैं—**'निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई'** जाकर शीशे में अपना मुख देखो। दर्पण ऐसी अनोखी चीज है कि उससे बढ़कर कोई प्यारा नहीं। साथ ही यह ऐसा अनोखा शब्द है कि इससे बढ़कर चिढ़ानेवाला शब्द भी कोई नहीं। कौन ऐसा व्यक्ति होगा जिसके घर में दर्पण न हो और जो शीशे में अपना मुँह न देखता हो ? हर व्यक्ति दर्पण देखता है, चाहे वह दर्पण मूल्यवान् हो या सस्ता। फिर भी यह शब्द इतना अनोखा है कि स्वयं देखिये तो आनंद आता है, लेकिन दूसरा देखने के लिये कह दे तो क्रोध आ जाता है। जो व्यक्ति कह देता है कि जरा शीशा देख लो, वह मानो समाज के सामने हमारे दोषों को उजागर करना चाहता है। स्वयं शीशा देखना एक बात है और दूसरों को दर्पण दिखाना भिन्न बात। रुद्रगणों ने स्वयं दर्पण नहीं देखा। उन्होंने दूसरे को दर्पण देखने की बात कही। नारदजी ने उन्हें श्राप दे दिया कि जाओ, राक्षस हो जाओ। मानो नारदजी ने भी उन्हें दर्पण देखने की बात कह दी। स्वयंवर में नारदजी की मुखाकृति पर काम का आवेश दिखाई दे रहा था। रुद्रगण यह तो देख रहे हैं कि नारद की आकृति बंदर की है, पर यदि स्वयं शीशे में देखते तो पता चलता कि उनकी भी शक्ल राक्षसों-जैसी हो गई है। दूसरों के पतन पर आनंदित होना राक्षसी वृत्ति का द्योतक है, जो कि बंदर-वृत्ति से भी घातक है। दोनों ने एक दूसरे को शीशा देखने की बात कही। इस तरह बंदर और राक्षस बनकर वे एक-दूसरे के सामने आ गये। तो, दूसरों के पतन पर यह

जो आनन्दित होने की वृत्ति है, वह रावण बनकर हमारे जीवन में आ जाती है।

कहा जाता है कि प्रतापभानु रावण बन गया। प्रतापभानु सत्यकेतु का पुत्र था और उसका पतन कालकेतु के कारण हुआ। सत्यकेतु और कालकेतु मानो जीवन के दो दर्शन हैं। सत्यकेतु वह है जिसकी विचार-धारा में स्थिरता है, जो मानता है कि जीवन में कुछ सिद्धांत हैं, कुछ आस्थाएँ हैं, जिनके आधार पर जीवन चलना चाहिये। कालकेतु वह है जो अवसरवादी है—जो मानता है कि "जैसी बहे बयार पीठ पुनि तैसी कीजै"—जब जिसमें लाभ दिखाई दे, अपना स्वार्थ पूरा कर ले। केतु का अर्थ तो आप जानते ही होंगे। केतु माने झण्डा। सत्यकेतु माने सत्य का झण्डा और कालकेतु माने अवसर के अनुकूल झण्डा। यह सत्यकेतु और कालकेतु का संघर्ष था जिसमें प्रतापभानु का पतन हो गया। सत्य-केतु का बेटा कालकेतु के सामने हार गया। काल के समक्ष सत्य परा-जित हो गया।

यह आप अच्छी तरह समझ लें कि बुराई और अच्छाई के बीच एक बहुत बड़ा अंतर यह है कि बुराई को अपनी सफलता के लिए पूर्णता की आवश्यकता नहीं है, जब कि अच्छाई को अपनी सफलता के लिए पूर्णता की आवश्यकता है। या यों कह लीजिये कि मिलावट के लिए मात्रा का कोई बंधन नहीं है, पर शुद्धि के लिए तो यह बंधन आवश्यक है। मिलावट के लिये चाहे कोई एक तोला करे या पावभर। पर जो शुद्ध है उसके लिए तो नियम है—शुद्ध माने पूरा शुद्ध। उसके लिए तो एक कण भी बुराई नहीं होनी चाहिये। अगर हिंसा और अहिंसा का संघर्ष होगा तो अहिंसा जीतेगी, पर यदि कम हिंसा और अधिक हिंसा का संघर्ष होगा तो अधिक हिंसा जीतेगी। कई बार लोग कहा करते हैं कि अच्छे लोग हार जाते हैं और बुरे लोग जीत जाते हैं। यह बिल्कुल गलत बात है। हाँ, यह कहिये कि कम बुरा हार गया और अधिक बुरा जीत गया! कम बुरे और अधिक बुरे में निश्चित रूप से अधिक बुरा ही जीतेगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जहाँ व्यक्ति बुराई का चुनाव करेगा वहाँ बुराई को अपनी सफलता के लिए पूर्णता की आवश्यकता नहीं है। सत्य को पूरा सत्य बनाना पड़ेगा, पर असत्य को ऐसा कोई बंधन नहीं है।

राजा प्रतापभानु वन में शिकार करने गया। वह सफल हो कर लौट

रहा था कि एक मृग दिखाई पड़ा। वह उसके पीछे भागा। यही लोभ है। गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में कहते हैं—'लोभ **शूकररूप**'। लोभ का शूकर सामने आया और प्रतापभानु उसके पीछे भागा। वह शूकर कौन था ? कालकेतु ही सुनहरे मृग का रूप बनाकर आया था। विचित्र व्यंग्य है कि जो प्रतापभानु मृग से ठगा गया वही जब रावन बना तो राम को ठगने के लिए मृग लेकर आया। यह ठगी का चक्र ऐसे ही चलता है। हमें किसी ने ठगा तो हम भी उसी पद्धति से दूसरे को ठगेंगे। हमें अगर किसी ने खोटा सिक्का दिया तो हम भी उसे किसी न किसी के माथे मढ़ने की कोशिश करेंगे। बुराई तो तब मिटेगी जब कोई व्यक्ति साहसपूर्वक उसका परित्याग कर दे। लेकिन यह सत्यकेतु का पुत्र तो कालकेतु रूपी मृग के पीछे भागता है। इसका अर्थ यह हुआ कि सत्य का पालन करनेवाला भी अगर जीवन में वही प्रलोभन, वही लाभ, वही सफलता चाहता हो जो अवसरवादी खोजते हैं तो वह मात्र सत्यकेतु का बेटा होने के नाते संघर्ष में विजयी नहीं होगा। अगर वह अपने जीवन में थोड़ा भी असत्य स्वीकार करेगा तो उसका पतन अवश्यंभावी है। और यही हुआ भी। जब प्रतापभानु कपटमुनि के द्वार पर पहुँचा तो उससे मुनि ने पूछा कि आप का नाम क्या है ? राजा ने कहा–मैं प्रतापभानु राजा का मंत्री हूँ। हँसकर कपटमुनि ने कहा—मैं तो जानता हूँ कि आप कौन हैं। तब प्रतापभानु बोला—महाराज, मैंने आपसे छिपाया था; मैं प्रतापभानु राजा का मंत्री नहीं, मैं ही प्रतापभानु हूँ। हँसकर कपटमुनि ने कहा—'**कीन्हेहु कपट लाग भल मोही**'—तुम्हारा कपट मुझे अच्छा लगा। इसमें व्यंग्य यह है कि चलो, तुमने कपट से प्रारंभ किया तो मुझे भी छूट है। मुझे कोई असंतोष नहीं है। चलो, कम असत्य ही सही, पर असत्य का प्रयोग तो तुमने किया। यही धोखाधड़ी समाज में भी है। महाभारत में भी यह धोखा था। सत्य में भी मानो खाने बना दिये गये। भीम ने कहा—हम 'अश्वत्थामा मारा गया' कहेंगे तो, पर पहले अश्वत्थामा नामक हाथी को मार कर कहेंगे। यही सत्य के साथ छल है। अश्वत्थामा हाथी को मार दिया गया और द्रोणाचार्य से जाकर भीम ने कह दिया कि अश्वत्थामा मारा गया। भीम को यह संतोष है कि मैंने पूरा झूठ कहाँ कहा। जैसे कि झूठ भी पूरा और अधूरा होता हो ! युधिष्ठिर बड़े सत्यवादी कहे जाते हैं, पर जब उनके सामने समस्या आयी तो उन्होंने कहा—"अश्वत्थामा हतो, नरो वा कुंजरो वा'—अश्व-

त्थामा मारा गया पर पता नहीं कि वह मनुष्य था या हाथी। ऐसा कहकर युधिष्ठिर किसे धोखा दे रहे थे—अपने को या किसी और को? जब यह अच्छी तरह से पता था कि अश्वत्थामा हाथी मारा गया है तब यह कहना कि मनुष्य या हाथी—पूरा झूठ था, पर अपने को धोखा देने के लिए इतना तो आवश्यक ही था। जब मनुष्य अपने आपको ठगता है तब कालकेतु को भी लाभ लेने का अवसर मिल जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि कभी हमारे जीवन का अहंकार, कभी मात्सर्य, कभी प्रलोभन तो कभी स्वार्थ रावण के रूप में हमारे जीवन में आ जाता है और यदि इन रावणों को हम पहचान सकें तो हम निर्णय कर सकते हैं कि हमें किन राम की आवश्यकता है। राम तो अनगिनत रूपों में आने को तैयार हैं। तुलसीदासजी कहते हैं, आप उन्हें बुलाइये तो।

वे कहते हैं कि एक कल्प में कश्यप और अदिति दशरथ और कौसल्या बने तथा दूसरे कल्प में मनु और शतरूपा दशरथ और कौसल्या बनकर प्रकट हुए। कितनी बढ़िया बात उन्होंने कही! कश्यप ऋषि हैं और मनु एक राजा हैं। मानो गोस्वामीजी कहते हैं कि राम तो दोनों के घर में जन्म लेने को तैयार हैं–चाहे वह राजा हो या ऋषि। यह तो हमें चुनाव करना है कि हम राजा के रूप में जन्म लेकर दशरथ बनना पसन्द करेंगे या ऋषि के रूप में। इस प्रकार तुलसीदासजी भगवान् का व्यापक एवं अद्भुत रूप हमारे सामने रखते हैं। वे ऐतिहासिक दृष्टि के स्थान पर भावदृष्टि को प्राधान्य देते हैं। वास्तव में भावदृष्टि ही व्यक्ति को संतोष, शांति और आनंद की प्राप्ति करा सकती है।

मुझे याद आता है जब चंद्रमा पर कुछ लोगों ने विजय प्राप्त की तो एक सज्जन कहने लगे, अब तो चंद्रमा को निकट से जाकर देख लिया गया है। चंद्रमा में कोई सुंदरता नहीं है। साहित्य में जहाँ-जहाँ चंद्रमा को सौंदर्य का प्रतीक बताया गया है उसे निकाल देना चाहिये। मुझे बड़ी हँसी आई। मैंने कहा—भाई, अगर आपके लड़के को कोई रोग हो जाय और आप उसे डाक्टर के पास ले जायँ और यदि वह उसका एक्सरे ले, तो क्या आप उस एक्सरे वाले चित्र को कमरे में लटकायेंगे? वैसे देखा जाय तो असली चित्र वही है पर जो चित्र आप अपने घर में, कक्ष में टाँगते हैं वह साधारण कैमरे से लिया गया चित्र होता है। जब आपको चिकित्सा करनी होती है, रोग का निदान करना होता है तो आप एक्सरे वाला चित्र लेते हैं और जब आप को स्नेह करना होता है, तो आप वह चित्र लेते

हैं जिसे बाहरी रूप का चित्र कहा जाता है। इसी प्रकार चंद्रमा भले ही तात्त्विक दृष्टि से सुन्दर न हो, पर आज भी हम जब दृष्टि उठाकर देखते हैं तो चंद्रमा उतना ही सुंदर दिखता है। विज्ञान के कारण चंद्रमा की सुंदरता समाप्त नहीं हो गई। चंद्रमा में अब भी उतनी ही शीतलता है। इसका अभिप्राय यह है कि विज्ञान ही सब कुछ नहीं है। वह जीवन का एक अंग है। पर साहित्य उससे कम महत्त्व का अंग नहीं है। विज्ञान उस सत्य का वर्णन करता है, जिसे वह यंत्र के माध्यम से देखता है तथा भाव और साहित्य उस सत्य को बताता है जो कि होना चाहिये और जिसके हुए बिना मनुष्य को सुख और संतोष नहीं मिल सकता।

ज्ञानी कहता है कि भगवान् ऐसे हैं और भक्त कहता है कि हम उन्हें ऐसा चाहते हैं। या यों कह सकते हैं कि निर्गुण एक फल का बीज है और सगुण उसी का फल है। जैसे आम की गुठली और आम। गुठली से ही वृक्ष निकलता है। जो मूल में है वही अंत में आता है। फल के रूप में भी वही आता है जो मूल में था। निर्गुण के रूप में जो अव्यक्त था वही सगुण फल के रूप में सामने आ गया। पर दोनों में एक अंतर है। गुठली में तो केवल गुठली ही है पर फल लीजिये तो गुठली तो मिलेगी ही, साथ ही आपको रस का भी लाभ मिलेगा। फल में जो लाभ है वह गुठली में नहीं।

तुलसीदासजी राम के इस रसमय दिव्यरूप को केवल इतिहास या विज्ञान की दृष्टि से नहीं बल्कि भाव और प्रीति की दृष्टि से देखते हैं। यह दृष्टि देश-काल के परिच्छेद को पार कर राम को हमारे निकट पहुँचा देती है। ये राम हमारे जीवन के लिए जितने प्रेरक हैं उतने ऐतिहासिक राम नहीं हो सकते थे। तुलसीदासजी ने इन श्रीराम का चित्र और चरित्र किस रूप में प्रस्तुत किया है इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

प्रथम व्याख्यान समाप्त

द्वितीय व्याख्यान

गोस्वामीजी की भगवान् राम के प्रति जो दृष्टि है उसकी सांकेतिक चर्चा आपसे की गई थी। जब मैं यह कहता हूँ कि गोस्वामीजी की दृष्टि श्रीराम के प्रति ऐतिहासिक नहीं हैं तो इसका गलत अर्थ न लें। इसका तात्पर्य यह नहीं कि गोस्वामीजी भगवान् राम का अवतरण इतिहास में नहीं मानते। इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि गोस्वामीजी के लिये श्रीराम का चरित्र केवल प्रतीक या कल्पना है। इतिहास होते हुए भी भगवान् राम के चरित्र के इतिहास में एक भिन्नता है। गोस्वामीजी की मान्यता यह तो है कि त्रेता युग में भगवान् राम अवतार लेते हैं; लेकिन गोस्वामीजी उन्हें इस अर्थ में इतिहास का पात्र नहीं मानते कि इतिहास का व्यक्ति पहले था और अब नहीं है। जब किसी भूतकालीन घटना का हम वर्णन करते हैं तब वह इतिहास होता है, पर श्रीराम तो ईश्वर हैं; वे भूतकाल के एक व्यक्ति नहीं हो सकते। त्रेतायुग में भले ही उनका अवतरण होता है पर गोस्वामीजी की दृष्टि में उनका अवतरण अनेकानेक बार होता है, । भक्त जब भी चाहता है, भगवान् आते हैं। इसे मैं थोड़ा और स्पष्ट कर दूँ, मानस-चतुश्शती के संदर्भ में इसका और भी महत्त्व है।

कहा जाता है कि रामचरितमानस की रचना को चार सौ वर्ष पूरे हो रहे हैं; किंतु इस धारणा में थोड़ा संशोधन अपेक्षित है। चार सौ वर्ष पहले गोस्वामीजी ने रामचरितमानस का अनुवाद किया; उसकी रचना नहीं की। इसका आग्रह गोस्वामीजी ने प्रारंभ में ही कर दिया। गोस्वामीजी कहते हैं कि इस मानस के रचयिता भगवान् शंकर हैं। भगवान् शंकर से यह कथा काकभुशुंडि को प्राप्त हुई। काकभुशुंडि से वह याज्ञवल्क्य को मिली और मुझे अपने गुरु से। मैंने निर्णय किया कि—

'भाषाबद्ध करबि मैं सोई' (१।३०।२)। और तब संवत् १६३१ में रामचरितमानस के रूप में गोस्वामीजी ने भगवान् राम के चरित का प्राकट्य किया। गोस्वामीजी ने यह तो लिख दिया कि उन्होंने रामचरितमानस का यह रूप कब प्रस्तुत किया, किंतु स्वाभाविक रूप से यह पूछा जाना संभव है कि भगवान् शंकर ने किस युग में, किस संवत् में रामचरितमानस का निर्माण किया। इस विषय में गोस्वामीजी मौन हैं। यही नहीं, वे एक बड़ी अद्‌भुत बात कहते हैं; उनके शब्दों पर आप ध्यान देंगे—

रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा ॥
१।३४।११

—भगवान् शंकर ने इस रामचरितमानस की रचना कर उसे अपने हृदय में रख लिया। उचित अवसर पाकर उन्होंने यह रामकथा पार्वतीजी को सुनाई जैसे संवत् १६३१ का उल्लेख गोस्वामीजी के रामचरितमानस के प्रणयन-वर्ष के रूप में किया जाता है; तो यह प्रश्न भी उठना स्वाभाविक है कि शंकरजी के द्वारा इसकी रचना का काल क्या है ? इस संदर्भ में संभवतः यह भी आपको सुनने को मिला होगा कि महर्षि वाल्मीकि ने अपनी रामायण की रचना कब की थी ? जनश्रुति यह है कि वाल्मीकि जी ने भगवान् राम के अवतार के पहले ही रामायण की रचना कर ली थी। कई लोगों को यह बात युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती; और श्रद्धालु जन इसका उत्तर यह कह कर देते हैं कि मुनि त्रिकालदर्शी थे, उन्हें भविष्य का ज्ञान था, अतः यदि उन्होंने श्रीराम के जन्म से पहले रामचरित की रचना कर ली तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। पर यहाँ यह कह दें कि वाल्मीकि जी की रामायण से इसकी पुष्टि नहीं होती कि रामावतार के पूर्व उसकी रचना की गई थी; क्योंकि उसमें प्रश्न आता है—**कोन्वस्मिन् सांप्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्**। अतएव श्रीराम-जन्म से पूर्व वाल्मीकि के द्वारा रामचरित की रचना किया जाना एक जनश्रुति प्रतीत होती है और मैं इस जनश्रुति को एक दूसरे अर्थ में स्वीकार करना चाहता हूँ।

प्रश्न यह है कि भगवान् राम के चरित्र में होनेवाली घटनाओं को हम इतिहास मानते हैं या नाटक ? अगर इतिहास मानते हैं यो पहले घटना घटित होगी और बाद में वह लिखी जायगी। पर यदि नाटक

मानते हैं तो नाटक पहले लिखा जायगा, बाद में खेला जायगा। इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर यदि नाटक खेलने के लिये अवतरित होगा तो नाटककार पहले नाटक लिखेगा, तभी तो पात्र खेलकर दिखायेगा। इसलिये जबतक शंकरजी नाटक नहीं लिखते तब तक राम भला कौन सी लीला दिखाते? रामचरितमानस में बार-बार एक शब्द आता है कि—**'गिरिजा सुनहु राम कै लीला'** (१।११२।८)। इस लीला का अर्थ है नाटक। जिस प्रकार अभिनेता स्वयं में स्वतंत्र नहीं है, उसी प्रकार ईश्वर के पास कोई तैयार नाटक नहीं है, वह तो भक्तों का मुँह देखा करता है, मानो पूछता है कि अच्छा, अब आगे बताओ मुझे क्या करना है, जैसा-जैसा कहोगे वैसा करके दिखाऊँगा।

बड़ी मीठी बात आती है—कौसल्या माता के सामने राम प्रकट हुए। माँ आश्चर्यचकित थीं—

ब्रह्माण्ड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै।
मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै॥
१।१६१।६-१०

—'जिस ब्रह्म के रोम-रोम में कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हैं वह मेरे गर्भ में कैसे आ गया, जब मैं इस बात की कल्पना करती हूँ तो मेरी बुद्धि विपरीत हो जाती है।' श्रीराम प्रथम दिव्य चतुर्भुज रूप में माता के सामने प्रकट हुए। उन्होंने कहा—यह जो मैंने दर्शन दिया है, यह मेरी अपनी कोई योजना नहीं थी। इसके लिये तुम मुझे दोष नहीं दे सकतीं कि मैं एक नन्हें बालक के रूप में तुम्हारे सामने आने के बदले इस दिव्य ईश्वरीय रूप में क्यों आया? इसका कारण तो तुम्हीं हो। कैसे?

गोस्वामीजी निर्गुण और सगुण दोनों को स्वीकार करते हैं। ब्रह्म मूलतः निर्गुण है पर भक्तों की आकांक्षा पूर्ण करने के लिये वह सगुण हो जाता है। ज्ञान का तात्पर्य है—ब्रह्म जैसा है वैसा जानना और भक्ति का तात्पर्य है—भक्त उसे जिस रूप में चाहता है, वैसा बनने के लिये उसे बाध्य करना। श्रीमद्भागवत में वर्णन आता है कि जब देवता संकटग्रस्त होते हैं तो क्षीरसागर जाते हैं; वहाँ वे भगवान् को पुकारते हैं और भगवान् उन्हें आश्वासन देते हैं कि वे अवतार लेंगे। रामचरितमानस में इस धारणा में थोड़ा संशोधन है—यहाँ पर भी देवता संकटग्रस्त हैं और वे भगवान् की खोज करने के लिए एकत्र होकर इस प्रश्न पर विचार

करते हैं कि ईश्वर कहाँ है ? कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वर बैकुंठ लोक में रहता है—**'पुर बैकुंठ जान कह कोई'** । (१।१२४।२) अन्य दूसरे कहते हैं कि बैकुंठ में तो शायद कठिनाई से ही प्रवेश मिले, यह ब्रह्म क्षीरसागर में भी तो रहता है, अतः हमें वहीं चलना चाहिये । दोनों दलों में विवाद होने लगा । जब विवाद करने वाले लड़ते-लड़ते थक गये तो सबकी दृष्टि शंकरजी की ओर गई, जो मौन भाव से बैठे हुए थे । उन्होंने शंकरजी से पूछा—महाराज, आप बताइये कि आपकी दृष्टि में भगवान् कहाँ रहते हैं—क्षीरसागर में या बैकुंठ में ? और यदि कोई तीसरा स्थान है तो वह बताइये । शंकरजी उमा से कहते हैं—**तेहिं समाज गिरिजा मैं रहेऊँ । अवसर पाइ बचन एक कहेऊँ**—(१।१८४।४) मैं देवताओं के उस समाज में उपस्थित था और जब देवताओं ने मुझसे पूछा तो मैंने कहा—

देसकाल दिसि बिदिसिहु माहीं । कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं ।।
१।१८४।६

—प्रभु कहाँ नहीं हैं ? देवताओं ने कहा कि यह दार्शनिक विवेचन तो हम बहुत दिनों से सुनते आये हैं, पर उससे हमारी समस्या का समाधान नहीं होगा । तब मैंने उन्हें समझाते हुए कहा कि जैसे लकड़ी में अग्नि व्याप्त है, पर यदि घर्षण द्वारा हम उस अग्नि को प्रकट न करें तो उसका हमें लाभ नहीं मिलता, ठीक इसी प्रकार निर्गुण-निराकार ब्रह्म को अपने प्रेम के द्वारा सगुण साकार रूप देकर जबतक हम सक्रिय नहीं बनाते तबतक हमारी समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता । भगवान् शंकर की दृष्टि समन्वयात्मक है वे कहते हैं—

अग जगमय सब रहित बिरागी । प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी ।।
१।१८४।७
जाके हृदयँ भगति जसि प्रीती । प्रभु तहँ प्रगट दसा तेहिं रीती ।।
१।१८४।३

इस प्रकार गोस्वामीजी ने श्रीमद्भागवत की धारणा में थोड़ा संशोधन कर दिया । श्रीमद्भागवत में देवता लोग क्षीरसागर की ओर जाते हैं, पर गोस्वामीजी कहते हैं कि देवताओं ने वहीं बैठे-बैठे भगवान् को पुकार लिया । वे यह भावना रखकर हमारे युग का प्रतिनिधित्व करते हैं । सैद्धांतिक दृष्टि से उन्हें निर्गुण और सगुण का समन्वय ही अपेक्षित

था। अगर वे लिख देते कि भगवान् बैकुंठ में या क्षीरसागर में हैं तो इसका अभिप्राय यह हो जाता कि मूल रूप से वे सगुण हैं। दूसरी बात यह भी है कि यदि संकट पड़ने पर भगवान् को खोजने क्षीरसागर जाना पड़े, तो हम किस क्षीरसागर की खोज में जायें ? इसीलिये गोस्वामीजी ने कहा कि कहीं जाने की आवश्यकता नहीं। जब संकट हो तब हम बैठे-बैठे भगवान् को पुकारें। यह आवश्यकता थोड़े ही है कि हमीं भगवान् के पास चलकर जायें; भगवान् भी तो हमारे पास चलकर आ सकते हैं। ऐसी स्थिति में गोस्वामीजी ने पहला संशोधन लोकसंबंधी मान्यता का किया। भगवान् के प्राकट्य के लिये उन्होंने किसी लोक या क्षीरसागर का चुनाव न कर, उनका निर्गुण-निराकार व्यापक ब्रह्म के रूप में निर्वाह किया।

अब थोड़ा सूक्ष्म विश्लेषण कर लें। ईश्वर को निर्गुण से सगुण बनाने की आकांक्षा जिस व्यक्ति में उत्पन्न होती है उसका नाम है मनु। मनु माने मानवजाति के आदि पुरुष। वे स्मृति के निर्माता हैं और उन्होंने राष्ट्र का संचालन एक संविधान के अनुकूल किया। मनु को ऐसा प्रतीत हुआ कि स्मृति के द्वारा संचालित राष्ट्र चल तो रहा है, उसके द्वारा व्यक्ति के बहिरंगजीवन में व्यवस्था तो दिखाई दे रही है, लेकिन स्वयं उनके ही जीवन में संतोष और सुख की अनुभूति नहीं हो रही है। इसके लिए वे अपेक्षा करते हैं कि ईश्वर मनुष्य के रूप में अवतरित हो। फलस्वरूप ईश्वर राम के रूप में अवतरित होकर रामराज्य का निर्माण करता है।

रामराज्य माने क्या ? रामराज्य माने व्यवस्थित राज्य नहीं। मुझे याद आता है, कई वर्ष पहले एक न्यायाधीश के यहाँ कथा-प्रसंग था। मैंने उनसे पूछा कि मैं किस विषय पर कथा कहूँ। उन्होंने कहा कि रामराज्य की न्याय-व्यवस्था पर प्रकाश डालिये। स्वाभाविक रूप से एक न्यायाधीश का यह आग्रह उचित था, किंतु मैंने खेद प्रकट करते हुए असमर्थता व्यक्त की, क्योंकि रामराज्य में न्याय-व्यवस्था नाम की कोई चीज ही नहीं थी। रामराज्य में एक भी न्यायाधीश नहीं था। रामराज्य का यह अर्थ नहीं कि वहाँ बहुत अच्छे न्यायाधीश थे या कि वहाँ बहुत अच्छे औषधालय थे या कि वहाँ की व्यवस्था बहुत सुंदर थी। रामराज्य कोई व्यवस्थित राज्य नहीं था। व्यवस्था अपने आप में बहुत अच्छी वस्तु है और अव्यवस्था की तुलना में तो व्यवस्था का पक्ष लेना

ही पड़ता है; किंतु व्यवस्था स्वयं इस बात को प्रकट कर देती है कि उसकी आवश्यकता वहीं पर है जहाँ पर अव्यवस्था पैदा करनेवाले लोग हों। उदाहरणार्थ, यदि किसी सभा में जूते की रक्षा का प्रबंध करना पड़े तो इससे सिद्ध होता है कि वहाँ कुछ ऐसे व्यक्ति होंगे जिनके विषय में जूता चुराने का भय होगा। अगर इस प्रकार के व्यक्ति न हों तो व्यवस्था की आवश्यकता ही नहीं रह जायगी। इसी तरह, रामराज्य का अर्थ है व्यवस्था का अभाव, अथवा मानसिक क्रांति। जब लोगों के हृदय में इतना बदलाव या परिवर्तन आ जाये कि व्यक्ति के हृदय में बुराई का उदय ही न हो तो रामराज्य आ जाता है। आप देखेंगे कि तुलसीदास ने सांकेतिक दृष्टि से बड़ी अनोखी बात कही है। हम सभी जानते हैं कि राजनीति के चार चरण होते हैं—

साम दाम अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा॥

६।३७।६

—जब तुलसीदासजी से पूछा गया कि क्या रामराज्य में राजनीति के ये चारों चरण मौजूद थे? तो उन्होंने कहा नहीं! वे कहते हैं कि रामराज्य में दंड का इतना अभाव हो गया था कि अगर कहीं दंडी-संन्यासी के हाथ में दंड न होता तो लोग 'दंड' शब्द को भी भूल जाते। भेदनीति का भी इतना अभाव हो गया था कि यदि संगीत में राग-रागिनी का भेद न सुनाई पड़ता तो लोगों के मस्तिष्क से 'भेद' शब्द ही उड़ जाता। वे कहते हैं—

दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र के राज॥ ७।२२

तब प्रश्न यह आता है कि जब रामराज्य में दंडनीति और भेदनीति नहीं है, तो रामराज्य क्या अधूरा नहीं है? राजनीति में तो चारों चरण होने चाहिये और अगर रामराज्य की राजनीति में दो ही चरण हैं तो क्या वह राजनीति अधूरी नहीं है? इसका उत्तर यह है कि जब तक राजनीति पशुवत् रहेगी, उसे चार चरणों की आवश्यकता होगी। जब वह मानव राजनीतिक होगी तो उसके दो ही चरण होंगे, चार नहीं। राम ने पशु-राजनीति को सीधा खड़ा कर दिया और मानो कहा कि जब तक समाज में दंड और भेद की आवश्यकता है तब तक समाज पूर्ण नहीं है। दंड

की आवश्यकता तो पशु के लिये है और भेदनीति की आवश्यकता बुरे लोगों में फूट डालने के लिये है। राजनीति की पूर्णता और पराकाष्ठा तो तब है जब व्यक्ति को दंडित करने की आवश्यकता न हो। रामराज्य का अभिप्राय है—मानव-मन में परिवर्तन। इसका मूल प्रारम्भ होता है मनुस्मृति से, जिसके अनुरूप मनु ने समाज को चलाने की चेष्टा की। मनु को लगा कि स्मृति मनुष्य को एक सीमा तक ही नियंत्रित कर सकती है, कानून के द्वारा व्यक्ति एक सीमा तक ही संचालित हो सकता है, पर एकमात्र बाहरी कानून ही सबसे बड़ी वस्तु नहीं है। मन में परिवर्तन लाने के लिये तो प्रेरणा को बाहर से नहीं, भीतर से लाना पड़ेगा। आप देखेंगे कि यह क्रम एक परम्परा के रूप में दिखाई पड़ता है।

मनु दशरथ के रूप में जन्म लेते हैं और जब दशरथ के घर में राम का अवतार होता है तो उनके पहले भी एक राम इस समाज में विद्यमान हैं, जिनका नाम है परशुराम। यह माना जाता है कि परशुराम ईश्वर के अवतार हैं। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि परशुराम के होते हुए भी एक नये अवतार की आवश्यकता पड़ी। यही नहीं; परशुराम और राम का संघर्ष पहले होता है, राम और रावण का संघर्ष बाद में। रावण निशाचर है, अंधकार है,। अंधकार और प्रकाश का संघर्ष तो समझ में आता है, लेकिन यह तो प्रकाश और प्रकाश का संघर्ष है। परशुराम भी अवतार और श्रीराम भी अवतार! फिर अनोखी बात यह कि ये दोनों ही राम हैं, जबकि दूसरे अवतारों में नाम भी बदले हुए हैं। इन्हीं कारणों से हम परशुराम को अंशावतार कहते हैं, जबकि श्रीराम को पूर्णवतार। परशुराम की अपूर्णता कहाँ है? शस्त्र तो परशुराम के हाथों में भी है और भगवान् राम के हाथों में भी। हाथ में परशु होने से उनका नाम परशुराम पड़ गया, पर भगवान् राम का नाम धनुषराम नहीं पड़ा। इसका सीधा तात्पर्य यही है कि परशुराम ने यह मान लिया था कि समाज को सही ढग से चलाने के लिये सबसे बड़ी वस्तु है फरसा। इसी के द्वारा लोगों के होश ठिकाने किये जा सकते हैं। इसीलिये वे हरदम उसे कंधे पर रखते थे। पर भगवान् राम की मान्यता यह है कि शस्त्र एक बाध्यता है। शस्त्र का उपयोग दंड के रूप में न होकर उपचार के साधन के रूप में होना चाहिये। जैसे एक डाक्टर जब छुरी का उपयोग करता है तो उसकी मान्यता क्या होती है? कोई कितना भी बढ़िया डाक्टर क्यों न हो, आप उसे हमेशा छुरी लिये हुए नही देखेंगे यह नहीं देखेंगे

कि वह छुरी लेकर रास्ते पर चल रहा है। वह तो आवश्यकता होने पर छुरी उठाता है। वह शल्य-चिकित्सा करके शस्त्र को रख देता है। अब अगर एक डाक्टर दिन-रात छुरी चमकाता रहे तो वह लोगों के अंतःकरण में एक भय की सृष्टि ही तो करेगा। भगवान् राम की विशेषता यह है कि वे शस्त्र पकड़ते तो हैं, पर शस्त्र छोड़ना भी जानते हैं, क्योंकि उनका शस्त्र दंड के लिये नहीं बल्कि चिकित्सा के लिये है। संकेत आता है कि जब वे लंका की लड़ाई जीतकर अयोध्या आये तो गुरु वसिष्ठ को सामने देखकर पहला काम यह करते हैं—

बामदेव बसिष्ठ मुनि नायक। देखे प्रभु महि धरि धनुसायक॥
७।४।२

—धनुष और बाण रख देते हैं और गुरुदेव के चरणों में प्रणाम करते हैं। गोस्वामीजी की सावधानी यह है कि वे भगवान् राम द्वारा धनुष के रखने का वर्णन तो करते हैं, किंतु उठाने का वर्णन नहीं करते। मानो श्रीराम का संकेत यह था कि गुरुदेव, शस्त्र उठाना तो एक बाध्यता थी; अब लंका के युद्ध के बाद शस्त्र की आवश्यकता नहीं है; रामराज्य शास्त्र के द्वारा चलेगा, शस्त्र के द्वारा नहीं; आपके चरणों में यह शस्त्र समर्पित है।

परशुराम की समस्या यह है कि उन्होंने शस्त्र को ऐसा कसकर पकड़ा कि छोड़ने का मन ही नहीं हुआ। यह न छोड़ पाना मानो सिद्ध करता है कि उनके हृदय में शस्त्र के प्रति बड़ी तीव्र आसक्ति है। और इसीलिये जब राम और परशुराम दोनों आमने-सामने हुए तो परशुराम का ध्यान सबसे अधिक अपने शस्त्र की ओर था। जब लक्ष्मण जी ने बड़ी ढिठाई से परशुराम जी को उत्तर देना प्रारंभ किया तो उन्हें ऐसा लगा कि शायद इस लड़के ने मेरे फरसे को नहीं देखा है। वे अपने फरसे की ओर सिर उठाते हैं, अपनी आँखें उस फरसे की ओर फेरते हैं; जिससे यह बालक भी अपनी दृष्टि उस ओर फेरे और सावधान हो जाये। तुलसीदासजी बड़ा मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत करते हैं—

बोले चितइ परसु की ओरा। रे सठ सुनेहि सुभाउ न मोरा॥
१।२७१।४

—अपने फरसे की ओर दृष्टि उठा कर परशुराम कहते हैं—अरे मूर्ख

बालक, क्या तूने मेरा स्वभाव नहीं सुना ? फिर भी लक्ष्मण एक बार भी फरसे की ओर दृष्टि उठाकर नहीं देखते। तब तो परशुराम जी से नहीं रहा गया। उन्होंने सीधे लक्ष्मणजी से कह दिया—**'परसु बिलोकु महीप कुमारा'** (१।२७१।८)—पहले फरसे को देख ले, फिर बात कर। पर फिर भी जब लक्ष्मण जी ने दृष्टि नहीं डाली तब परशुरामजी बिगड़कर कहते हैं—क्या तूने मेरे या मेरे परशु के विषय में नहीं सुना ? लक्ष्मण जी कहते हैं कि मैं देख तो आप की ही ओर रहा हूँ लेकिन **'भृगुसुत समुझि जनेउ बिलोकी'** (१।२७२।५)—आपका जनेऊ देखता हूँ, परशु नहीं। लक्ष्मण जी का संकेत यह था कि मैं तो उस वस्तु को देखता हूँ जो ज्ञान का चिह्न है, मैं शस्त्र के सामने नहीं झुकता तथा उसके द्वारा आप हमें झुका भी नहीं सकते। परशुरामजी इस संकेत को नहीं समझ पाते। गोस्वामीजी बड़ासुन्दर चित्र प्रस्तुत करते हैं। परशुरामजी श्रीराम से बिगड़कर कहते हैं कि तुम इतने सज्जन हो पर तुम्हारा भाई निपट निरंकुश है। लगता है, तुममें सज्जनता तो है पर दूसरों को वश में रखने की शक्ति नहीं है। तुम जब अपने छोटे भाई को ही अपनी इच्छा के अनुकूल नहीं चला सकते तो समाज को अपनी इच्छा के अनुकूल क्या चलाओगे ? और तब श्रीराम नयन तरेर कर, आँखें टेढ़ी कर लक्ष्मण जी की ओर देखते हैं। बस, त्योंही लक्ष्मण जी चुप हो जाते हैं—**'गुरु समीप गवने सकुचि परिहरि बानी बाम।'** (१।२७८) परशुराम को लगा कि मेरी बात राम ने स्वीकार कर ली, तभी तो नयन तरेर कर देखा। पर सत्य कुछ दूसरा ही था। श्रीराम तो लक्ष्मण जी की ओर नयन तरेर कर परशुराम जी के आरोप का उत्तर दे रहे थे। परशुराम ने कहा था कि यह बालक बिल्कुल निरंकुश है। भगवान् राम ने दिखा दिया कि महाराज, वह तो आँखों की भी भाषा समझ लेता है; जो व्यक्ति नेत्र देखकर चुप हो जाता है पर परशु देखकर चुप नहीं होता तो इससे आपको यह विचार करना चाहिये कि कहीं परशु को आपने अत्यधिक महत्त्व तो नहीं दे दिया ? इसका अभिप्राय यह कि जब भी समाज में दंड या कानून को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता है तो वह एक क्षणिक चिकित्सा ही सिद्ध होती है। उसका समाज पर वास्तविक प्रभाव नहीं पड़ता। भगवान् राम इन्हीं अपूर्णताओं को पूर्ण करने के लिए अवतरित होते हैं।

इस संदर्भ में मनु का असंतोष मन में उठनेवाले विभिन्न मनोभावों का सुन्दर चित्रण करता है। गोस्वामीजी कहते हैं—

स्वायंभू मनु अरु सतरूपा। जिन्ह तें भै नरसृष्टि अनूपा॥
दम्पति धरम आचरन नीका। अजहुँ गाव श्रुति जिन्ह कै लीका॥
१।१४१।१-२

—मनु ने एक लीक का निर्माण किया जिस पर समाज को चलना चाहिये, किंतु—

तेहिं मनु राज कीन्ह बहुकाला। प्रभु आयसु सब बिधि प्रतिपाला॥
१।१४१।८

होइ न विषय बिराग भवन बसत भा चौथपन।
हृदय बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु॥ १।१४२

—कर्म पूरी तरह मन को संतोष नहीं दे पाता। स्मृतियों का विधान उनके जीवन में आत्मसंतोष की सृष्टि नहीं कर पाता। इसका अर्थ यह है कि कर्म जीवन का बहुत बड़ा अंग होते हुए भी जीवन की चरम परिणति नहीं है। आप यदि कभी नदी की ओर दृष्टि डालें तो उससे बढ़कर अजस्र कर्म का प्रवाह कहाँ दिखाई देगा? नदी प्रतिक्षण प्रवाहित हो रही है, प्रतिक्षण सेवा कर रहो है, अपने जल के द्वारा लोगों को स्वच्छता दे रही है, तृप्ति दे रही है। नदी चौबीसों घंटे कर्म में रत है। नदी इतनी बड़ी सेविका तो है, पर वह मुड़कर रेगिस्तान की ओर नहीं जाती, वह तो समुद्र की ओर बही जा रही है, जहाँ पहले से ही अगाध जलराशि है और जहाँ जल की आवश्यकता नहीं। नदी दूसरों की सेवा करते हुए भी यह जानती है कि उसकी पूर्णता स्वयं विलीन हो जाने में है। इसी को प्रतीक बनाकर गोस्वामीजी किष्किंधाकांड में कहते हैं—

सरिता जल जलनिधि महुँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई॥
४।१३।८

इसी प्रकार, जीव निरंतर कर्म करता हुआ भी जबतक ईश्वर से एकत्व या सामीप्य का बोध नहीं कर लेता, तबतक उसके जीवन में समग्र संतोष या शान्ति का दर्शन नहीं हो सकता। मनु के जीवन में इसी असंतोष का दर्शन होता है। जब मनु राज्य छोड़कर जा रहे हैं तो उन्हें

अकेले जाना चाहिये, किंतु वे अकेले नहीं जाते। मनु के साथ शतरूपा भी हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि यदि मनु का उद्देश्य व्यक्तिगत मुक्ति होता तो मनु अकेले ही जाते, किन्तु उनका ऐसा लक्ष्य नहीं है। जब मनु और शतरूपा वनपथ में चलते हैं तो तुलसीदासजी कहते हैं—ऐसा लगता है जैसे मूर्तिमान ज्ञान और मूर्तिमती भक्ति शरीर धारण करके वनपथ में जा रहे हैं—

पंथ जात सोहहिं मति धीरा। ज्ञान भगति जनु धरे सरीरा॥

गोस्वामीजी के इस कथन का तात्पर्य यह है कि अगर ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना है तो ज्ञान की आवश्यकता है और अगर ब्रह्म को अपनी इच्छा के अनुकूल परिवर्तित करना है तो भक्ति की आवश्यकता है। अर्थात् ज्ञान के द्वारा ब्रह्म को जानें और भक्ति के द्वारा उसे परिवर्तित करें। मनु इसी मूल माँग को देखते हुए अकेले नहीं जाते। मनु और शतरूपा ज्ञान एवं भक्ति के समन्वय हैं।

मनु ने अपने प्रारंभिक जीवन में कर्म का पालन किया और कर्म से संतोष न होने पर वे ज्ञान एवं भक्ति के समुचित रूप की खोज में आगे बढ़ते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—

पहुँचे जाइ धेनुमति तीरा। हरषि नहाने निर्मल नीरा॥
१।१४२।५

—उन्होंने गोमती नदी में स्नान किया और तत्पश्चात् मुनियों से कथाएँ सुनी तथा पुराणों का स्मरण किया। क्या राजा के रूप में उन्होंने पुराणों का स्मरण नहीं किया होगा? पर राजा के रूप में स्मरण करना एक और बात है। हर सुनने वाले की एक ही दृष्टि थोड़े ही होती है? सुनने वाला व्यक्ति उतना ही सुनेगा जितना सुनने का वह अधिकारी है, चाहे कथा कितनी ही ऊँची क्यों न कही जाय। कोई व्यक्ति कथा को अपने मन में बैठकर सुनता है तो कोई व्यक्ति चित्त या बुद्धि में बैठकर। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इन चारों के विषय में विचार करें तो अहंकारी तो कथा सुन ही नहीं सकता। अहंकारी व्यक्ति अपने अहं में भूला हुआ जब सुनेगा तो उसे सुनाई ही कहाँ देगा? अहं तो उसके जीवन में किसी वस्तु का प्रवेश होने ही नहीं देता। अब शेष रह गये तीन--मन, बुद्धि और चित्त। विषयी व्यक्ति कथा को मन में बैठकर सुनता है, ज्ञानी बुद्धि

में बैठकर और उसके ऊपर उठे हुए साधक चित्त की भूमिका में आसीन होकर कथा का स्मरण करते हैं। यह अपनी-अपनी योग्यता एवं सामर्थ्य की बात है।

क्या सुनने में देश और काल की दृष्टि से भी पार्थक्य आ जाता है। मनु ने एक राजा के रूप में पुराणों को सुना था। उस समय उनकी एक भिन्न दृष्टि थी। उस समय उनकी दृष्टि सामाजिक थी किंतु आज उनकी दृष्टि ईश्वर की उपलब्धि की दिशा में है। इसलिये उन्होंने नये सिरे से कथा का श्रवण किया और तब वे साधना करते हैं। साधना-क्रम में हम पाते हैं कि मनु जब मंत्र का जाप करते हैं तो पहले ब्रह्मा आये, इसके पश्चात् विष्णु आये और फिर शिव आये, और—

बिधि हरिहर तप देखि अपारा। मनु समीप आये बहु बारा।।
माँगहु बर बहु भाँति लोभाये। परम धीर नहिं चलहिं चलाये।।

१।१४४।२-३

—वे आकर बार-बार कहते हैं कि वरदान माँगो, पर मनु उसे स्वीकार नहीं करते। गोस्वामीजी बताना चाहते हैं कि यहाँ मनु की समस्या यह है कि पहले रूप या पहले नाम ? पहले शब्द या पहले रूप ? मनु के सामने जब ब्रह्मा, विष्णु और महेश वरदान देने आते हैं तो वहाँ रूप पहले आता है और रूप के द्वारा शब्द होता है कि तुम माँगो। मनु की सैद्धांतिक परम्परा इससे भिन्न है। मनु की आकांक्षा यह है कि जो मूलतः अरूप है उसे वे स्वयं रूप देना चाहते हैं। निर्गुण को वे अपनी इच्छा-नुसार सगुण बनाना चाहते हैं। उनका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव ने किसी की आकांक्षा पूर्ण करने के लिये भले ही रूप धारण किया हो पर दूसरे की आकांक्षा से रूप धारण किया हुआ ब्रह्म हमारे काम का नहीं है। मैंने आपसे कहा था कि जबतक प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिये एक-एक भगवान् राम नहीं मिल जाते तबतक गोस्वामीजी की दृष्टि में हमारे जीवन में पूर्णता नहीं आ सकती। मनु सुजान हैं और एक निश्चित पथ पर बैठे हुए हैं। मनु यह मानते हैं कि जब हम कहेंगे तभी अरूप रूप ग्रहण करेगा। वर्णन आता है, जब मनु की तपस्या बढ़ने लगी तो आकाशवाणी हुई। पहले शब्द आया और बाद में रूप। कर्म की परंपरा यह है कि पहले आकाशवाणी होती है—**'माँगु माँगु बरु भै नभ बानी'** (१।१४४।६) यह शब्द की सृष्टि कहाँ से हुई ? साधक

मंत्र का उच्चारण करता है। मंत्र स्वयं शब्द है। जब मंत्रोच्चारण हुआ तो ब्रह्म में भी शब्द की प्रतिध्वनि हुई। तब वरदान घोषित हुआ–माँगो, माँगो। मनु ने कहा, हम देखना चाहते हैं। ब्रह्म ने कहा कि हमारा अपना तो कोई रूप नहीं है, तुम साँचा बताओ तो अपने को उतारूँ, कोई आकृति बताओ। इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म के पास कोई रूप नहीं है, वह रूप तो आपको देना है। भक्ति में यही सबसे बड़ी सुविधा है कि हम अपनी इच्छा के अनुकूल ब्रह्म को रूप दे सकते हैं, अपनी इच्छा के अनुरूप उसे चला सकते हैं और उससे आशा कर सकते हैं। यही सगुण-साकार ब्रह्म की पराधीनता है। निर्गुण-निराकार रूप में ईश्वर भले ही स्वतंत्र हो किंतु सगुण-साकार रूप में तो उसकी परतंत्रता पग-पग पर परिलक्षित होती है।

इसके बाद मनु बताते हैं कि ब्रह्म को किस रूप में सामने आना है—

जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥
जो भुसुंडि मन मानस हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन॥
१।१४५।४-६

—मेरी आँखों को जो प्रिय लगे, उस रूप में दर्शन दीजिये। गोस्वामीजी कहते हैं कि तब भगवान् आये। पर वे यह नहीं बताते कि भगवान् कहाँ से आये—बैकुंठ लोक से, क्षीरसागर से या साकेत लोक से? वे कहते हैं—

भगत बछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥
१।१४५।८

इस प्रकार गोस्वामीजी एक ही पंक्ति में चारों दृष्टियों का समन्वय कर देते हैं। ज्ञानी की दृष्टि, कर्मी की दृष्टि, भक्त की दृष्टि और गोस्वामीजी जिसे दीनता की दृष्टि कहते हैं वह अपनी असमर्थता की दृष्टि। भगवान् मनु के सामने प्रकट हो गये। शंकरजी से पार्वती ने पूछा कि कौन आया तो शंकरजी ने कहा—बिस्ववास! पार्वती, वे तो बिस्ववास हैं; वे तो पहले से ही थे। मनु की आँखों में देखने की शक्ति आई, प्रेम प्रगाढ़ हुआ और ब्रह्म सामने आ गया। पर भक्तों को इस बिस्ववास से संतोष नहीं हुआ। तुलसीदासजी कहते हैं—ज्ञानी महत्त्व

देता है बिस्ववास को और भक्त महत्त्व देता है भक्तवत्सल को। भक्त कहता है कि भले ही गाय के शरीर में दूध व्याप्त हो लेकिन जबतक उसके सामने बछड़ा नहीं जाता तबतक उसके थनों में दूध नहीं आता। इसलिये ब्रह्म भले ही व्यापक हो, पर जब तक मनु के रूप में बछड़ा सामने नहीं आया तब तक ब्रह्म भी सामने नहीं आया। इसीलिए भक्तों की दृष्टि से ईश्वर को भक्तवत्सल कहा गया।

कर्मियों से पूछा गया तो बोले—यह तो भगवान् आये। जब वे इस संसार को अनंत रूप दे सकते हैं तो क्या अपने लिये रूप नहीं बना सकते ? क्या वे निर्गुण से सगुण नहीं बन सकते ? इतना लाचार ब्रह्म किस काम का, जो सारे संसार को तो रूप दे और अपने लिए रूप न ले सके। लेकिन जब तुलसीदासजी से पूछा गया कि कौन आये तो वे बोले—प्रभु कृपा निधाना। प्रभु अपनी कृपा से आये। हम दीन भला यह कैसे दावा करें कि वे हमारी साधना या पुरुषार्थ से आये ? ईश्वर अपनी कृपा से आये। संस्कृत में सीढ़ी के लिए 'अवतरणिका' शब्द का प्रयोग करते हैं। 'अवतार' शब्द भी 'अवतरणिका' शब्द का ही एक रूप है। क्या तात्पर्य है ? यही कि यदि सीढ़ी लगी हो तो आप नीचे से ऊपर चले जाइये या ऊपर से नीचे आ जाइये। तो, ईश्वर अपनी कृपा से सीढ़ियाँ उतरकर हमारे पास नीचे आ जाते हैं।

ज्ञानी कहता है कि ब्रह्म नाम और रूप से ऊपर है। जीव अगर एकत्व पाना चाहता है तो वह नाम और रूप से ऊपर उठकर ब्रह्म का अनुभव करे। इस तरह ज्ञानी नीचे से ऊपर उठने की बात कहता है। पर भक्त उलटकर कहते हैं कि जैसे ऊपर वाले से नीचे वाला जाकर मिल सकता है, उसी तरह सीढ़ी से ऊपरवाला भी तो नीचे उतर सकता है। प्रभु अकेले ऊपर हैं और हम करोड़ों लोग नीचे हैं। अगर हम एक-एक करके जायेंगे तो जाने कितनी देर लगेगी। इसलिए भक्त भगवान् से कहता है कि प्रभो, जरा आप ही उतरकर हम लोगों के बीच आ जाइये। हम नाम और रूप से ऊपर उठें, इसके बदले आप ही कृपा कर नाम-रूप स्वीकार कर लीजिये। इससे हमारा और आपका सामीप्य बड़ी सरलता के साथ हो जायगा।

यह संसार त्रिगुणात्मिका माया की डोर से बँधा हुआ है। रस्सी को जब हम मजबूत करना चाहते हैं तो उसे तिहरा कर देते हैं। जीव सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की रस्सी से तिहरा बँधा हुआ है।

छूटना बड़ा कठिन है, कैसे छूटा जाए ? ज्ञानी कहते हैं, इस रस्सी को विचार के द्वारा, वैराग्य के द्वारा , असंगता के द्वारा काटो और इस बंधन से मुक्त हो जाओ । एक और उपाय यह भी है कि शरीर में यदि रस्सी कसकर बँधी हो और शरीर को समेटने की कला आती हो तो जरा सिमट जाइये, रस्सी ढीली होकर गिर पड़ेगी । तुलसीदासजी से भगवान् ने पूछा कि तुम त्रिगुणात्मिका माया के बंधन से दासोऽहम् से छूटोगे या सोऽहम् से ? तुलसीदासजी ने कहा—महाराज, एक तीसरा उपाय भी तो है । यह तीसरा उपाय कौन-सा निकल आया, भई ? 'विनयपत्रिका' में तुलसीदासजी कहते हैं—

है श्रुत विदित उपाय सकल सुर, केहि केहि दीन निहोरै ।
तुलसिदास यह जीव मोह-रजु, जोइ बाँध्यो सोइ छोरै ।। १०२

—महाराज, जिसने बंधन बाँधा हो, यदि वही छोड़ दे तो न घटाना पड़े और न बढ़ाना पड़े । यह रस्सी आपकी बनाई हुई है, यह संसार आपका बनाया हुआ है और यह बंधन भी आपका ही बाँधा है । आपने जिस प्रकार बाँधा है, उसी प्रकार जरा खोल दीजिये । भगवान् ने कहा—अच्छा, तो हम तुम्हारी रस्सी को काट देते हैं और तुम्हें मुक्त कर देते हैं । पर तुलसीदासजी को इसमें आपत्ति है, वे कहते हैं—महाराज, रस्सी काटिये मत, काटता तो वह है जो नासमझ है, जो खोलना नहीं जानता । भगवान् ने कहा—तुम्हें इतना आग्रह क्यों है ? रस्सी कटे या खोली जाए, तुम तो मुक्त हो ही जाओगे । तुलसीदासजी कहते हैं—नहीं महाराज, रस्सी यदि काट दी तो सामने वाला बंधनमुक्त तो हो जाता है पर रस्सी बेकार चली जाती है । रस्सी यदि खोल कर रख दी जाये तो उसका उपयोग किया जा सकता है। भगवान् ने तुलसीदासजी से पूछा—यदि मैं रस्सी से तुमको मुक्त कर दूँ तो तुम रस्सी का क्या उपयोग करोगे ? तुलसीदासजी ने कहा—प्रभो, जिस रस्सी से आपने आज तक हम लोगों को बाँध कर रखा था, उससे जरा आपको भी बाँधकर देखें कि रस्सी में बँधकर आप कैसे लगते हैं । तो, भक्त अरूप भगवान् को रूप देता है, अनामी को नाम देता है और अपनी इच्छा के अनुकूल चलाता है । वह कहता है—भगवान्, मुझे मुक्ति नहीं चाहिये, मैं तो आपको बाँधना चाहता हूँ ।

मनु कहते हैं—‘**चाहउँ तुम्हहि समान सुत, प्रभु सन कवन दुराउ।**’
१।१४९

अनगिनत पुत्र समाज में मुझे प्राप्त हुए, किन्तु उनके द्वारा पूर्ण संतोष नहीं मिला, समाज को पूर्णता प्राप्त नहीं हुई। अब तो मैं चाहता हूँ कि आप ही पुत्र बनकर आ जाइये। सीधे कहना तो अशिष्टता सी जान पड़ी कि आप मेरे बेटे बन जाइये। यह तो वैसी ही बात होती है जैसे कोई अपने बाप से कहे कि तुम मेरे बेटे बनो! इसलिए मनु ने बड़ी शिष्ट भाषा का प्रयोग किया कि मैं तो आपकी ही तरह एक पुत्र चाहता हूँ। इस पर प्रभु ने मुस्कराकर यही कहा—

आपु सरिस खोजौं कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥
१।१४९।२

—अब मैं अपने समान कहाँ खोजने जाऊँगा, मैं ही तुम्हारा पुत्र होकर आ जाऊँगा।

गोस्वामीजी यहाँ पर बड़ा सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत करते हैं। और यही गोस्वामीजी के ग्रंथ का समन्वित पक्ष है। दो व्यक्ति—मनु और शतरूपा साधना कर रहे हैं। दोनों के सामने ब्रह्म का एक रूप आता है। अब ईश्वर की साधना में किसी व्यक्ति के लिये ऐसा कोई बंधन नहीं कि वह दूसरे की रुचि का अनुगमन करे। यहाँ भी यह अंतर दिखाई देता है। मनु को वरदान देने के बाद भगवान् शतरूपाजी की ओर देखते हैं और पूछते हैं कि आप कौन-सा वर चाहती हैं। शतरूपाजी कहती हैं—‘**जो बरु नाथ चतुर नृप माँगा। सोइ कृपाल मोहि अतिप्रिय लागा॥**’ (१।१४९।४)—महाराज, जो वरदान इन्होंने माँगा वह मुझे अतिशय प्रिय लगा। उनके कथन का मानो यह तात्पर्य है कि यह मेरा वरदान नहीं है। राजा के वरदान में भले ही अपने आप हिस्सा मिल गया हो लेकिन अब मेरी भी माँग सुन लीजिए—आप पुत्र बनें यह तो बड़े सुख की बात है। पर साथ ही—

जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं॥
१।१४९।८

सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि देहु॥ १।१५०

मानो शतरूपा की माँग यह है कि आप पुत्र भले ही बनिये पर विवेक जरूर दीजिये। ऐसा न हो कि मैं आपको केवल अपना बेटा ही समझ लूँ और आपके ईश्वरत्व को भूल जाऊँ। जब शतरूपाजी ने यह माँग की तो मनु चौंक पड़े। भगवान् ने मुस्कुराकर मनु की ओर देखा और बोले—जो भूल आपसे हो गई, लगता है इसका परिमार्जन इन्होंने कर दिया; अब भी आपके लिए अवसर है कि आप विवेक का वरदान माँग लें। पर मनु ने भगवान् को कोरा उत्तर दे दिया। उन्होंने कहा—आप यह विवेक इन्हीं को दीजियेगा। मै स्पष्ट बता देना चाहता हूँ कि मैं आपको केवल अपना बेटा समझूँ; ईश्वर कभी न समझूँ। दो व्यक्तियों की अलग अलग माँग है। दोनों ईश्वर को पुत्र-रूप में चाहते हैं, पर एक की माँग यह है कि श्रीराम को पुत्र रूप में पाने के बाद भी ईश्वरत्व का ज्ञान बना रहे और दूसरे की इच्छा है कि ईश्वर यदि पुत्र बने तो उसे पुत्र के रूप में ही देखूँ। ज्ञान ने माँग की भक्ति की, और भक्ति ने माँग की विवेक की। मनु ज्ञान हैं, शतरूपा भक्ति हैं। होना तो यह चाहिए था कि मनु कहते--प्रभो, मैं आपके ईश्वरत्व को चाहता हूँ; और शतरूपा प्रभु को अपना बेटा मानती, किन्तु दोनों ने सोचा कि हमने अपना-अपना रस तो ले ही लिया, अब जरा रस बदल कर देखें।

लीला और नाटक का आनंद ज्ञान और भक्ति के समन्वय के बिना नहीं आता। जब आप नाटक देखने बैठेंगे, तो नाटक को हृदय से देखेंगे या बुद्धि से ? भक्त हृदयप्रधान है और ज्ञानी मस्तिष्क प्रधान। यदि आप नाटक को ज्ञानी बनकर देखेंगे तो आपको रस नहीं आयेगा। आप नाटक में बैठे-बैठे यदि हर वक्त बुद्धि से सोचते रहें कि यह व्यर्थ का अभिनय कर रहा है, झूठ बोल रहा है, यह झूठ-मूठ की कल्पना है, तो यह गलत बात होगी। नाटक देखते समय आपको चाहिए की आप मन को आगे कर दें और बुद्धि को पीछे, अन्यथा नाटक में रस नहीं आएगा। कभी आप नाटक में आँसू बहाते हैं तो कभी खिलखिलाकर हँस उठते हैं। यह तभी संभव होता है जब आप मस्तिष्क को पीछे कर देते हैं और मन को आगे। पर इसका मतलब यह नहीं कि आप नाटक देखते समय बुद्धि को बिल्कुल भुला बैठें। मान लीजिये आपका कोई मित्र नाटक में अभिनय कर रहा है और वह पिट रहा है। आप यदि उसे सत्य मानकर मित्र को बचाने के लिए मंच पर चढ़ जायें तो नाटक की क्या हालत होगी ? पर आप ऐसा नहीं करते, आप नाटक में हस्तक्षेप नहीं करते,

क्योंकि आपका विवेक इतना जागृत रहता है कि वह बताता रहता है कि यह नाटक है। पर प्रतिक्षण आप इतने सजग भी नहीं रहते कि नाटक का सारा रस ही समाप्त कर दें। यही भक्ति और ज्ञान का धूपछाँही खेल है।

तुलसीदासजी कहते हैं कि प्रतिक्षण राम की लीला का रस लेते चलो पर उनके ईश्वरत्व को भूलो मत। इन दोनों का समन्वय मनु और शतरूपा की माँग के रूप में सामने आता है। इसीलिये भगवान् राम ने जब अवतार लिया तो इस चतुर अभिनेता ने एक बार भी दशरथ के सामने स्वयं को ईश्वर-रूप में प्रकट नहीं होने दिया। शतरूपा ही कौसल्या बनकर आईं। उनके सामने अवतार लेते ही प्रभु ने अपने को चतुर्भुज रूप में प्रकट कर दिया। लेकिन ऐसे बालक का जन्म भी कहीं गर्भ से हुआ करता है? भगवान् राम ने धीरे ने कहा—माँ, यह न समझ लेना कि मैं अपने ऐश्वर्य या चमत्कार को दिखाने आया हूँ। **'कहि कथा सुनाई मातु बुझाई'**—उन्होंने पुरानी कथा सुनाई कि मैंने तो, तुम्हारी माँग की ही पूर्ति की है। तुमने कहा था कि मुझे विवेक देना। तो, तुम्हारी आकांक्षा की पूर्ति के लिए मैंने तुम्हारे सामने अपने को इस रूप में प्रकट किया है। माँ ने तुरन्त स्तुति प्रारंभ की। प्रभु ने पूछा कि अब आगे मेरा क्या पार्ट है। तुम जो पार्ट बताओगी वह करूँगा। ईश्वर के पास कोई तैयार नाटक नहीं है, कोई घटना नहीं है, कोई पार्ट नहीं है, और इसी में तो बड़ा आनन्द है। कौसल्याजी से श्रीराम पूछते हैं कि मैं आगे क्या करूँ? और तब माँ कहती हैं कि तुम रोओ। यह बड़ी धृष्टता की बात जान पड़ेगी, किन्तु कौसल्या अम्बा चाहती हैं कि राम रुदन करें, क्योंकि बालक जन्म लेते ही रोता है। कौसल्याजी ने एक चतुराई का शब्द जोड़ दिया—**'कीजै सिसुलीला'** (१।१९१।१४)—बालकों वाली लीला कीजिये। इसका अर्थ यह हुआ कि अन्यत्र तो रोना बुरा लगता है पर नाटक में रोनेवाला रोकर भी आनन्द लेता है। अब चतुर अभिनेता ने क्या किया? **'सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा।'** (१।१९१।१५)—जैसा भी नाटक हो, वैसी लीला करके ब्रह्म दिखा देता है। कोई ईश्वर से कहे कि मित्र बनकर आइये, पिता या बेटा बनकर आइये, तो ईश्वर वही लीला करके दिखा देता है।

'अध्यात्म रामायण' में जिस क्रम से जनकपुर के मार्ग में केवट का प्रसंग आता है, उससे अलग वह रामचरितमानस में चित्रकूट के मार्ग

में आता है। इसमें सही कौन-सा ? सही और गलत की खोज करते-करते कभी तो लोग ऐसे भटक जाते हैं कि कथा का रस ही नष्ट कर देते हैं। मान लीजिए, दस शहरों में एक ही नाटक खेला जाय, तो यह आवश्यक नहीं कि सभी शहरों में नाटक की हर एक घटना एक ही प्रकार से खेली जाये। वह तो वहाँ के नाटककार की इच्छा एवं नाट्य मंच के संयोजन पर निर्भर है। इसी प्रकार, यदि ईश्वर इतिहास में एक बार ही अवतार लेता होता और लेकर चला जाता, तो उसके जीवन का क्रम एक ही ढंग का होता। पर जब यह अभिनेता निमंत्रण पाते ही बार-बार अभिनय के लिए आ जाया करता है, तो अलग-अलग नाटक में जीवन की घटनाओं के क्रम में थोड़ी भिन्नता अस्वाभाविक नहीं है।

रामायण को यदि आप अधिक गहराई से पढ़ेंगे तो उसमें आपको और अधिक दार्शनिक संकेत मिलेंगे। आप रामायण में पाते हैं कि भगवान् राम जब विश्वामित्रजी के साथ जा रहे थे तो प्रारंभ में ताड़का मिली, जिसका उन्होंने वध किया और उसके बाद दूसरे दिन विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा हो गई। जब विश्वामित्र के साथ भगवान् राम जनकपुर जाने लगे तो अहल्या मिली, जिसका उन्होंने उद्धार किया। यह हुआ ऐतिहासिक वर्णन--पहले ताड़का का वध, बाद में अहल्या का उद्धार। किन्तु तुलसीदासजी ने अपने जीवन में इस क्रम को बदल दिया। इसका संकेत उन्होंने 'नाम महिमा' के प्रसंग में दिया है। उन्होंने कहा कि जिस प्रकार भगवान् राम त्रेतायुग में जन्म लेकर रावण आदि का वध करके तत्कालीन समस्याओं का समाधान करते हैं, उसी प्रकार भगवान् का नाम भी भक्त के जीवन की सारी समस्याओं का समाधान कर देता है। वे कहते हैं--

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥
रिषि हित राम सुकेतु सुता की। सहित सेन सुत कीन्हि बिनाकी॥
सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नामु जिमि रवि निसि नासा॥
१।२३।३-५

--श्रीराम ने त्रेतायुग में अवतार लेकर अहल्या का उद्धार किया और भगवान् का नाम कुमतिरूपी अहल्या का उद्धारक है। भगवान् राम ने ताड़का का वध किया और भगवान् का नाम भक्तों के हृदय में जो दुराशा है, उसका वध करता है।

१६८।२१

यह पंक्ति पढ़कर पहले तो मुझे आश्चर्य हुआ कि कम से कम इसे गोस्वामीजी को उलटे रूप में लिखना चाहिए था। पहले ताड़का वध, वाली पंक्ति लिखते और बाद में अहल्या के उद्धार वाली, क्योंकि घटना-क्रम तो ऐसा ही है। पर तुलसीदास जब अपने मन की बात लिखते हैं तो क्रम ठीक उलटा देते हैं। वे अहल्या के उद्धार को पहले की तथा ताड़का के वध को बाद की पंक्ति में लिखते हैं। इसका तात्पर्य क्या है? गोस्वामीजी का यह आशय था कि भगवान् राम ने विश्वामित्र जी के जीवन में पहले ताड़का का वध और बाद में अहल्या का उद्धार किया होगा, किंतु मेरे जीवन में तो उन्हें पहले अहल्या का उद्धार करना होगा। विश्वामित्र जी बड़े विवेकी थे। उनके जीवन में पहले संहार का और बाद में कोमलता का परिचय उचित हो सकता है। पर मेरे जीवन में तो वे पहले संसार को न दिखायें। विश्वामित्र ने पहले संहार कराया और बाद में उद्धार, जबकि तुलसीदासजी पहले उद्धार चाहते हैं और बाद में संहार। तो, ये दो मान्यताएँ हैं। एक यह कि पहले पात्र बनो, बाद में भगवान् की कृपा प्राप्त होगी, और दूसरी यह कि जब भगवान् कृपा करेंगे तब पात्रता आ ही जायेगी।

इसे आप और अंतरंग में पैठकर देखिये। रामायण पढ़ते समय हम रामायण के पात्रों से अपने को एक समझ पाते हैं या नहीं? अगर रामायण के अनगिनत पात्रों में से हम एक नहीं हैं तो हम रामायण को दूर की ही वस्तु समझकर पढ़ पायेंगे। पर यदि उन पात्रों में हम अपने जीवन को ढूँढ़ पाते हैं तो हम श्रीराम को बहुत निकट से देख सकेंगे। इतने पात्रों में क्या हम यह नहीं देख पाते कि किसकी मन:स्थिति से हमारी मन:स्थिति मिलती है, किसकी समस्याओं से हमारी समस्याएँ अधिक मेल खाती हैं? यदि व्यक्ति एक बार अपने को रामायण से जोड़कर उसे पढ़ और सुन सकेगा, उसका विचार और चिंतन कर सकेगा तो उसे भगवान् राम भूतकाल की वस्तु नहीं लगेंगे। उसे तो यही लगेगा कि भगवान् राम हमारे आज के जीवन की ही आवश्यकता हैं। यही बात 'विनय-पत्रिका' में गोस्वामीजी भगवान् राम के लिये व्यक्त करते हैं। भगवान् ने उनसे पूछा कि तुम मेरे पास क्यों आये? उन्होंने कहा–जब मैंने कथा में सुना कि आपने अहल्या का उद्धार किया है तो मैं समझ गया कि मेरे जीवन में आपकी आवश्यकता बहुत अधिक है। यह रामायण का आत्म-दर्शन है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि रामायण की कोई समस्या

आपको केवल तत्कालीन ही दिखे तो भगवान् की उपयोगिता हम सबके जीवन में बहुत कम है। इसके विपरीत यदि रामायण काल की समस्याएँ हमें आज के अपने जीवनों की समस्याएँ मालूम होती हों तो श्रीराम नित्य और चिरंतन हैं। तुलसीदासजी के श्रीराम मनुष्य नहीं हैं, क्योंकि मनुष्य काल के प्रवाह में पुराना पड़ जाता है। सौ वर्ष पहले पैदा हुआ मनुष्य आज की समस्याओं का समाधान नहीं दे सकता, पर ईश्वर तो शाश्वत है, और इसीलिए उसके द्वारा दिया जाने वाला समस्याओं का समाधान भी शाश्वत है। आवश्यकता केवल यह है कि हम उन समस्याओं को सही-सही देख पाते हैं या नहीं।

रामायण के पढ़ने वाले भी दो तरह के होते हैं। एक तो वे हैं जो घटनाओं का आनन्द लेते हैं और दूसरे वे हैं जो उससे स्वयं को जोड़ लेते हैं। बड़ा सुन्दर संकेत आता है। जब रावण का वध हो गया तो श्रीराम के सम्मुख बधाइयों का ताँता लग गया। ब्रह्मा आये, इंद्र आये, देवतागण आये और आकर सबके सब भगवान् की प्रशंसा करते हैं, उन्हें बधाई देते हैं तथा रावण की निन्दा करते हैं। पर इन सारे देवताओं की भीड़ में एक ही सज्जन का पता नहीं लग रहा है और वे हैं भगवान् शंकर। देवताओं में कानाफूसी होने लगी कि इस महान् अवसर पर शंकरजी क्यों नहीं आये ? उन्हें ऐसा लगा होगा कि शायद शंकरजी अपने चेले की मृत्यु का शोक मना रहे होंगे इसीलिये नहीं आये होंगे। लेकिन बात ऐसी नहीं; शंकरजी आये, पर देर से आये। देवताओं के आगमन पर तुलसीदासजी व्यंग्य करते हैं—

आये देव सदा स्वारथी। [redacted] कहहिं जनु परमारथी।।
६।१०६।२

—यह परमार्थियों की तरह बोलने वाले पक्के स्वार्थियों की भीड़ आ गई। भगवान् की स्तुति करके जब देवतागण अपने सुन्दर विमानों में बैठ कर चले गये तो गोस्वामीजी भगवान् शंकर के आने की सूचना देते हैं—

अस्तुति करि करि सुर चले चढ़ि चढ़ि रुचिर बिमान।
देखि सुअवसरु राम पहिं आयउ संभु सुजान।।
६।११४

तुलसीदासजी भगवान् शंकर के लिये 'सुजान' विशेषण देते हैं। जब तक अजानों की भीड़ थी तब तक सुजान नहीं आया; और जब अजानों की भीड़ छँट गई तभी सुजान आया। अजान देवताओं ने रावण की निंदा और भगवान् राम की प्रशंसा की, पर इस प्रशंसा या निंदा का कोई मूल्य है क्या ? एक विचित्र व्यंग्य आता है। देवता कौन है ?--वह, जिसने पुण्य के फलस्वरूप एक दिव्य शरीर तो प्राप्त कर लिया पर जो राक्षसों और दैत्यों से निरंतर पिटता रहता है।

बड़ा दार्शनिक संकेत गोस्वामीजी करते हैं। देवतागण अपने वास्तविक रूप में राक्षसों से पराजित होते हैं, जबकि बंदरों के रूप में वे राक्षसों से जीतते हैं। देवता बंदर बनकर क्यों विजयी होता है ? देवता अमर है, जबकि बंदर मरणधर्मा है। साधना आदमी के अमर होने में नहीं, मरणधर्मा होने में है। मरणधर्मा होने से व्यक्ति को साधना की प्रेरणा प्राप्त होती है। अमरता साधना को प्रेरित नहीं करती। इसीलिये शास्त्रों में कहा गया है कि मनुष्य के शरीर को देवता भी चाहता है, क्योंकि देव-शरीर से वह साधना नहीं कर सकता। देव-जीवन अपरिवर्तनीय है, वह केवल भोगों के लिए है। या यों कह सकते हैं कि देवता का शरीर चाँदी का है और मनुष्य का शरीर मानो लोहे का। किसी से पूछिये कि आप लोहा लेना पसंद करेंगे या चाँदी, तो हर व्यक्ति चाँदी लेना ही पसंद करेगा। किंतु यदि संयोग से किसी व्यक्ति को पारस मिल जाय और उससे पूछा जाय कि लोहा लोगे या चाँदी ? तो वह लोहा लेना ही पसंद करेगा; क्योंकि वह जानता है कि पारस के स्पर्श से चाँदी के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होगा किंतु लोहा सोना बन जायगा। इसी प्रकार हरिभक्ति के पारस से मानव जीवन में तो परिवर्तन होता है पर देव जीवन में कोई परिवर्तन नहीं होता। इसीलिये देवताओं का शरीर उत्कृष्ट होते हुए भी वह मानव जीवन एवं मानव शरीर की तुलना में कुछ नहीं है। कबीर का एक बड़ा प्रसिद्ध दोहा है। कबीर ने भगवान् से कहा कि प्रभो ! आप मुझे इसी जीवन में मिल जाइये। भगवान् ने कहा--मरने के बाद तुम हमसे मिल सकते हो; इतनी जल्दी क्या है ? कबीर ने कहा--नहीं-नहीं, महाराज--

जीवत में मोकौ मिलौ, मुए मिले न राम।
जब लोहा माटी मिला, तब पारस केहि काम ॥

—जब माटी में शरीर मिल गया तब पारस का चमत्कार कहाँ रहा ! कबीर कहते हैं कि मृत्यु के बाद आपकी प्राप्ति का कोई चमत्कार नहीं है। चमत्कार तो तब है जब इस मानव शरीर के द्वारा हम जीवन में पूर्णता सम्पादित कर धन्यता प्राप्त कर ले सकें।

देवता भोगी है और दैत्य भोगवादी। इन दोनों में इतना ही अंतर है कि देवता भोग को स्वीकार तो करता है पर भोग को बुरा मानता है, जबकि दैत्य भोग करता है और उसे अच्छा मानता है। आप सोचिये, जब भोगी और भोगवादी लड़ें, तो दोनों में कौन जीतेगा ? एक व्यक्ति चोरी करने चले और काँपते हुए चले, तो जरूर पकड़ा जायगा। चोरी करते समय जो निर्भीक होकर चोरी करेगा वही सफल रहेगा। इससे कहीं चोरी की प्रेरणा मत लीजियेगा। इसका तात्पर्य मात्र इतना है कि देवता में अंतर्द्वन्द्व है जबकि दैत्य और राक्षसों में अंतर्द्वन्द्व नहीं है। जब इन दोनों का संघर्ष होता है तब दैत्य भोग छीनना चाहता है और देवता डरता है कि कहीं भोग छिन न जाये। मरने का उसे उतना डर नहीं है जितना भोग छिन जाने का। यह डर उसे बहुत सताता रहता है कि दैत्य उसका भोग छीन लेंगे। इसलिए देवता भगवान् की भक्ति भी करता है और राक्षसों एवं दैत्यों की सभाओं में उन्हें रिझाने भी जाता है। वह चाहता है कि जीवन में भोग बना रहे—चाहे ईश्वर की कृपा से बना रहे, चाहे राक्षसों की प्रसन्नता से। इसीलिये आप देखते हैं कि जब चित्रकूट में भगवान् राम जाते हैं तो देवता उनसे मिलने आते हैं— **अमर, नाग, किन्नर दिसिपाला। चित्रकूट आये तेहि काला॥ राम प्रनामु कीन्ह सब काहू।**—श्रीराम ने सबको प्रणाम किया। देवता भगवान् को अपना दुख सुनाते हैं कि स्वर्ग में उन्हें कितना दुख है। जब हनुमानजी रावण की सभा में गये तो उन्होंने बड़े आश्चर्य से देखा कि जैसे भगवान् राम की सभा में बड़ी संख्या में देवता और मुनि दिखाई देते थे वैसे ही रावण की सभा में भी देवताओं की उपस्थिति कम नहीं है। जितनी बड़ी संख्या में राक्षस थे, देवता भी उनसे संख्या में कम नहीं थे। और उनकी दशा क्या थी ?—वे रावण की भौंह की ओर दृष्टि डाले विनीत भाव से खड़े हैं। देवता चाहते तो हैं कि अच्छाई की विजय हो पर वे भोग छोड़ नहीं पाते। उनके पुण्य की अस्मिता केवल भोग को बचाने में ही है। वे लड़ने से डरते हैं, भागते हैं, कतराते हैं। तुलसीदास-जी इन देवताओं की खबर बड़े कठोर शब्दों में लिया करते हैं। जिस

समय चौदह हजार राक्षसों के साथ खरदूषण और त्रिशरा भगवान् राम पर आक्रमण करने आये तो श्रीराम ने लक्ष्मणजी को आदेश दिया—
'लै जानकिहि जाहु गिरि कंदर। आवा निसिचर कटकु भयंकर ॥'
—सीताजी को लेकर सुरक्षित जगह में जाओ, मैं अकेले युद्ध करूँगा। लक्ष्मणजी को विश्वास है कि हमारे श्रीराम इन राक्षसों को अकेले हरा सकते हैं और वे निश्चिन्त भाव से चरणों में प्रणाम करके चले जाते हैं।

उधर राक्षस आक्रमण करने आ गये। ऊपर से देवतागण देख रहे हैं। एक व्यंग्य है कि लड़ने वाला तो डर नहीं रहा है और न लड़ने वाले देवता घबड़ा रहे हैं। तुलसीदासजी लिखते हैं—श्रीराम निर्भीक भाव से धनुष पर बाण चढ़ाए हुए हैं और देवता आपस में कहते हैं—क्या अन्यायमूलक युद्ध हो रहा है—एक तरफ श्रीराम और दूसरी तरफ चौदह हजार राक्षस! उन भलेमानुसों से कोई पूछे कि अगर तुम इतने न्याय के प्रेमी हो तो तुम चौदह हजार देवता आकर श्रीराम की ओर से खड़े क्यों नहीं हो जाते? किंतु नहीं, देवताओं का काम तो बधाई देना और फूल बरसाना है, लड़ना-भिड़ना नहीं! हम चाहते तो हैं कि न्याय और पुण्य की विजय हो, किंतु उसके लिए हम कोई कष्ट या त्याग स्वीकार नहीं करना चाहते। हम न्याय के पक्ष में हैं तो, भगवान् के पक्ष में हैं तो, पर कुछ करने के पक्ष में नहीं हैं। इसीलिए ब्रह्मा देवताओं से कह देते हैं कि इस शरीर से तुम लोग राक्षसों को नहीं हरा पाओगे। तुम लोग पहले मृत्युलोक जाओ, बंदर बनो और भोग के स्थान पर सेवा का जीवन स्वीकार करो। तभी तो लंका की लड़ाई के बाद श्रीराम जब बैठे हैं तो बंदर समीप बैठे हैं, पर देवता उनसे दूर हैं। एक ही वस्तु के दो रूप हैं—देवता और बंदर, पर बधाई देने वाले देवताओं को दूर स्थान मिला। इसका तात्पर्य यह है कि पुण्य का फल यदि हम भोग मानते हैं तो ईश्वर हमसे दूर है, और पुण्य का फल अगर हम सेवा मानते हैं तो ईश्वर पास है। यह तो हमारे दर्शन पर निर्भर है कि पुण्य का फल हम क्या मानते हैं? इन देवताओं की दुर्बलता पग-पग पर दिखाई दे रही है। भगवान् राम और रावण के युद्ध में एक ऐसा अवसर आया जब यह निर्णय करना कठिन हो गया कि कौन जीतेगा। आकाश से देवतागण जोर-जोर से नारे लगाने लगे—जय हो, जय हो।' यदि रावण की जीत हो जाय तो कह देंगे कि महाराज, हम राम का नाम तो ले नहीं रहे थे हम तो आपके गुलाम हैं, हम आपका जय-जयकार कर रहे थे; और

कदाचित् राम जीत जायें तो कह देंगे—भला हम रावण की जीत कभी चाह सकते हैं, हम तो आपके सेवक हैं। देवता भले ही मन से श्रीराम की जीत चाहते हैं, पर उनमें इतना भी साहस नहीं कि प्रत्यक्ष रूप से राम की जय का उद्‌घोष कर सकें, तब भला उनके द्वारा दी गई बधाई का क्या अर्थ और क्या मूल्य है ?

तो रावण की मृत्यु के बाद जब देवगण श्रीराम को बधाई देकर चले गये तो सबसे अंत में शंकरजी आये। रामायण में आपको यह अद्‌भुत बात दिखाई देगी कि उन्होंने रावण की निंदा में एक शब्द भी नहीं कहा, उसकी चर्चा तक नहीं की। भगवान् राम की प्रशंसा करते हुए उन्होंने यह नहीं कहा कि रावण बड़ा पापी था, अच्छा हुआ कि आपने उसे मार दिया। शंकरजी आकर पहला वाक्य कहते हैं–**'मामभिरक्षय रघुकुल नायक'**–हे रघुकुल नायक राम, आप मेरी रक्षा कीजिये। अद्‌भुत बात है, जब देवता बधाई देकर चले गये कि रावण को मारकर आपने हमारी रक्षा की, तब शंकरजी हाथ जोड़कर कहते हैं कि उनकी रक्षा तो आपने कर दी, अब मेरी रक्षा कीजिये।

ये दो दृष्टियां हैं। देवता मानते हैं कि रावण की मृत्यु हो गई और समस्या का समाधान हो गया। पर शंकरजी कहते हैं नहीं, नाटक में बुराई का हार जाना समस्या का समाधान नहीं है, केवल समस्या के एक स्वरूप का दर्शन है। आप नाटक देखने जायें और देखें कि नाटक में बुराई हार गई, तो देखने में भले ही आनंद आयेगा, किंतु क्या सचमुच बुराई हार गई और अच्छाई जीत गई ? जब जीवन में प्रत्यक्ष रूप से बुराई हारे तभी वह हमारे लिए स्पृहणीय है। शंकरजी का तात्पर्य यह था कि प्रभो, लीला में आपने रावण को मारा, इसका महत्त्व नहीं है, पर हृदय के रावण को जब आप मारगे तब हम आपको बधाई देंगे। जिस रावण को मारने के लिये शंकरजी कहते हैं, वह है—

मोह महा घन पटल प्रभंजन। संसय बिपिन अनल सुर रंजन॥
काम क्रोध मद गज पंचानन। बसहु निरन्तर जन मन कानन॥

६।११४।२-४

जब तक व्यक्ति के हृदय में मोह, काम, क्रोध, लोभ और संशय है तब तक उसके जीवन की समस्याओं का समाधान नहीं होगा। इस प्रकार शंकरजी हमें एक दृष्टि देते हैं। आप पढ़कर प्रसन्न मत हो जायें कि

त्रेता युग में रावण मारा गया और न ही केवल प्रतिवर्ष रावण का लम्बा-चौड़ा पुतला जलाकर हम आनंदित हो लें कि रावण तो जल गया।

मैं दो वर्ष पहले दिल्ली गया। वहाँ कई रामलीला कमेटियाँ थीं। रामलीला के एक संयोजक ने मुझसे कहा कि इस वर्ष हमारा रावण सबसे ऊँचा रहेगा। मुझे बड़ी हँसी आई; लगा कि सारी होड़ इसी में हो गई है कि किसकी रामलीला में रावण कितना ऊँचा होगा! वास्तव में प्रश्न तो यह है कि शंकरजी की दृष्टि हमारे पास है या नहीं? हम उस लीला को अपने जीवन में देखना चाहते हैं या नहीं, जिसे भगवान् ने त्रेता युग में अवतरित होकर दिखाई थी? रामायण के वे पात्र हमारे जीवन में हैं या नहीं? अहल्या, सुग्रीव और विभीषण हमारे जीवन में आते हैं या नहीं? अगर हम ढूँढ़ें तो विश्वास मानिये कि हमें अपने जीवन में रामायण के सारे पात्र अलग-अलग समय में दिखाई देंगे। कभी आपको दिखाई देगा हमारे जीवन में सुग्रीव है तो कभी अहल्या है। तुलसीदास जी यही कहते हैं—प्रभो, यदि मेरे जीवन में एक अहल्या न होती तो मैं आपसे प्रार्थना न करता। आप आइये और उस अहल्या का उद्धार कीजिये। मेरे पास भी सुग्रीव की तरह ही बालि का संकट है; आप आइये और बालि का वध कर मुझे इस संकट से मुक्त कीजिये। तुलसीदासजी भगवान् के सारे चरित्र को देखते हैं और उन्हें लगता है कि उनकी सारी समस्याओं का समाधान श्रीराम के द्वारा ही होगा। इसीलिए वे नाम-रामायण में अपनी इच्छा के अनुकूल क्रम में परिवर्तन कर देते हैं। वे कहते हैं—आपने विश्वामित्र के लिए चाहे जो क्रम रखा हो, पर मेरे जीवन में तो आपको पहले अहल्या का उद्धार करना होगा और फिर ताड़का का संहार।

यहाँ संकेत इतना दे दें कि ताड़का दुराशा है और अहल्या कुमति। तो प्रश्न यह है कि पहले दुराशा का विनाश हो या कुमति का उद्धार? गोस्वामीजी का अभिप्राय यह है कि महाराज, जो विश्वामित्र जैसा कठोर तपस्वी है वह तो दुराशा का विनाश होने पर ही संतुष्ट होगा, क्योंकि वह विचारक है, किंतु मेरे जीवन में कुमति रूपी अहल्या के रहते हुए यदि आपने आशा को ही मिटा दिया तब तो हम आपको ही छोड़ बैठेंगे! अगर संसार के व्यक्तियों को यह पता चल जाय कि भगवान् इच्छा और आशा को मिटा देते हैं तो लोग दूर से ही उन्हें नमस्कार करेंगे। लोग कहेंगे कि संसार वाले ही अच्छे हैं जो आशा की पूर्ति तो

करते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—एक बार हमारे जीवन की अहल्या को कुमति से सुमति के रूप में परिवर्तित कर दीजिए और जब हम आपकी कृपा को देखने योग्य बन जायँ तो आप हमारे जीवन की ताड़का को मिटा दें। पहले हमारा विवेक इतना जागृत हो जाये कि हम हर घटना में आपकी कृपा देख सकें। जब तक यह नहीं होगा तब तक मैं यही कहूँगा कि आप पहले अहल्या का उद्धार कीजिये और बाद में ताड़का का वध। ऐसा कहकर तुलसीदासजी ने हमें कितनी बड़ी सुविधा दे दी। उनका अभिप्राय यह है कि यह ईश्वर इतना चतुर अभिनेता है कि वह भक्तों को आकांक्षा पूर्ण करने के लिये हर युग और हर काल में अवतरित होता है। तभी तो चित्रकूट में तुलसोदासजी को भगवान् राम के दर्शन होते हैं। 'विनयपत्रिका' में वे कहते हैं—

तुलसी तोको कृपालु जो कियो कोसलपालु,
चित्रकूट को चरित चेतु चित करि सो। २६४

—हे मन, कृपालु श्री रघुनाथजी ने तेरे हित के लिये चित्रकूट में जो लीला रची थी, तू उसको जी लगाकर स्मरण कर।

इसी प्रकार जब हम अपने जीवन में रामायण को देखने लगेंगे तो भगवान् से हमारा नाता पक्का हो जायगा; तब वे इतिहास के भूले हुए पात्र नहीं होंगे, वे हमारे जीवन के साथ चलने वाले नित्य सखा होंगे, हमारे भाई, पिता या पुत्र होंगे। इस प्रकार गोस्वामीजी ने चित्रकूट में भगवान् के चरित्र की पूर्णता का वर्णन किया है। अपने कथन में मैंने आपके सामने वह दृष्टि रखने की चेष्टा की है जिससे भगवान् और हम एक-दूसरे के अत्यंत निकट आ सकें।

दूसरा व्याख्यान समाप्त

Ved Mandir Library
No. 674-H
Date 26/12/1981
M M U.

तीसरा व्याख्यान

भगवान् श्रीराम के चरित्र के विषय में दो दृष्टियाँ सदा से रही हैं; एक दृष्टि वह है जो कि देवताओं की है और दूसरी दृष्टि है भगवान् शंकर की। देवता के लिये रावण की मृत्यु उसकी समस्या का समाधान है। इसीलिये रावण की मृत्यु पर वह प्रसन्नता व्यक्त करता है; रावण की निंदा करता है और भगवान् राम को बधाई देता है। इसके बाद राम पर पुष्पवर्षा करता है और प्रसन्न मन से लौट जाता है। दूसरी दृष्टि भगवान् शंकर की है जो रावण की मृत्यु को इतना महत्त्व नहीं देते। इन दोनों दृष्टियों में परस्पर अंतर क्या है, आइये इस पर थोड़ा विचार करें।

आज भी ये दो दृष्टियाँ प्रचलित हैं। आज भी देवताओं की दृष्टि एवं शिवजी की दृष्टि से मानस को पढ़ा जाता है। इस मानस के आद्य रचयिता भगवान् शंकर हैं और यदि हम इसे उनकी दृष्टि से देखने की कोशिश करें तो संभव है, हम इससे अधिक लाभ ले सकेंगे। दोनों दृष्टियों में अंतर कहाँ है? देवता समस्या का बड़ा सरलीकरण कर लेते हैं। समाज में आपने ऐसे अनेक व्यक्ति देखे होंगे जिनके सिर में दर्द हो तो उनकी पहली इच्छा होती है कि हमारी यह पीड़ा तत्काल दूर हो, और अधिकांश व्यक्ति किसी लेप या औषधि के द्वारा पीड़ा से क्षणिक मुक्ति पा लेते हैं। इसके विपरीत, बुद्धिमान व्यक्ति तात्कालिक उपाय तो करता ही है लेकिन इसके साथ-साथ वह यह भी जानता है कि तात्कालिक उपाय द्वारा लक्षणों का शमन भले हो, किंतु जब तक सिर की पीड़ा के मूलकारण का निराकरण नहीं किया जावेगा तबतक वह व्यक्ति को बार-बार संत्रस्त करती रहेगी। ऐसा व्यक्ति तात्कालिक औषधि लेने के बाद पीड़ा के मूल कारण की खोज करता है और उसकी चिकित्सा

करता है। देवता सोचते हैं कि रावण ने उनकी संपत्ति छीन ली थी और उन्हें पराधीन बना लिया था, इसलिये रावण की मृत्यु उनकी समस्याओं का वास्तविक समाधान है। किंतु देखा जाय तो यह सत्य नहीं है। वास्तव में रावण की मृत्यु देवताओं की समस्याओं का एक क्षणिक समाधान ही है। क्या रावण के जन्म से पहले देवताओं पर कभी संकट नहीं आये थे, अथवा रावण की मृत्यु के बाद किसी दूसरे दैत्य द्वारा देवताओं पर संकट नहीं उत्पन्न हुआ ? इसका सीधा सा उत्तर यह है कि रावण को इतना अधिक महत्त्व दे देना समस्या के मूल से दृष्टि हटा लेना है।

एक बड़ी सांकेतिक बात आती है जिसे रामचरितमानस के प्रारंभ में आप पढ़ते हैं। गोस्वामीजी ने चार कल्पों की मिली-जुली कथा का वर्णन किया है, क्योंकि उनकी मान्यता के अनुसार भगवान् राम का अवतार बार-बार होता है, कल्प-कल्प में होता है—

कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं। चारुचरित नाना बिधि करहीं॥
(१।१३९।२)

—सनक, सनंदन, सनातन और सनत्कुमार ये चारों महात्मा बैकुण्ठ में भगवान् का दर्शन करने के लिए जाना चाहते हैं। भगवान् के पार्षद जय और विजय उन्हें रोक देते हैं और तब वे चारों महात्मा क्रुद्ध होकर उन्हें शाप देते हैं कि तुम असुर होकर मृत्युलोक में जाओ जहाँ तुम्हें तीन जन्म लेने होंगे। यह एक विलक्षण संकेत है जिसकी ओर आपकी दृष्टि गई होगी। वह यह कि रावण और कुंभकर्ण नाम के जो दो पात्र इतिहास में आते हैं वे मूलतः कोई बुरे व्यक्ति नहीं होते। मूलतः कोई बुरा हो ही नहीं सकता क्योंकि मानस और हमारे जीवनदर्शन की यह मान्यता है कि जीव ईश्वर का अंश है, इसलिये ईश्वर में जो विशेषताएँ विद्यमान हैं वे ही उसके अंश में भी विद्यमान हैं—

ईस्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
७।११६।२

मानस में उस प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है जहाँ जय और विजय रावण और कुंभकर्ण बन जाते हैं। फिर, भगवान् शंकर के गण भी कोई बुरे व्यक्ति नहीं हैं, वे भी रावण और कुंभकर्ण बनते हैं। जय और विजय भगवान् विष्णु के पार्षद हैं और रुद्रगण भगवान् शंकर के

निकट रहनेवालों में से हैं । फिर मृत्युलोक का एक व्यक्ति भी, जिसका नाम प्रतापभानु है, परिवर्तित होकर निशाचर रावण बन जाता है, जब कि प्रतापभानु का अर्थ है वह जिसका प्रताप सूर्य की तरह हो ।

अच्छाई किस तरह बुराई के रूप में परिवर्तित हो जाती है तथा ईश्वर का अंश किन परिस्थितियों में पड़कर ऐसा आचरण करने लग जाता है जिसे आसुरी दृष्टि से प्रेरित व्यवहार ही कहा जा सकता है, इस प्रश्न का मूल निदान मानस में प्रस्तुत किया गया है । पर दुर्भाग्य-वश मानस को इतनी गंभीरता से लोग पढ़ना नहीं चाहते । यों कोई आपत्ति भी नहीं है ! रामकथा की विशेषता भी यही है—**'बुध बिश्राम सकल जन रंजनि'** (१।३०।५)—साधारण जनता का यह रंजन करने-वाली है और विद्वानों को विश्राम देनेवाली । यदि आप रावण और कुंभकर्ण से कथा का प्रारंभ करेंगे तो मूल सत्य विस्मृत हो जायेगा । इसके विपरीत, यदि आप इस बात पर विचार करें कि जय-विजय, रुद्र-गण और राजा प्रतापभानु कैसे निशाचर बनते हैं, तो केवल उन पात्रों का ही नहीं वरन् हमारे और आपके जीवन का सत्य सामने आ जाता है । समाज में ऐसे अनगिनत व्यक्ति दिखाई देते हैं जो पहले बहुत भले थे किंतु जिन्हें देखकर आज लोग कहते हैं कि यह व्यक्ति कैसे इतना बदल गया । ऐसी परिस्थिति में समस्या का वास्तविक समाधान खोजना आवश्यक है । अपराधी को दंड दे देना समस्या का वास्तविक समाधान है । मान लीजिये कोई चोरी के आरोप में पकड़ा गया, तो स्वाभाविक है कि न्यायालय चोर को दंड देगा, किंतु चोर को दंड देने से चोरी की समस्या हल नहीं हो जावेगी । फिर दूसरा चोर आवेगा और उसे भी दंड देना पड़ेगा । चोर को दंड देने के साथ ही समाज में चोरी किस कारण से फैलती है इसका जबतक निदान नहीं किया जायगा जबतक समाज की आंतरिक समस्या का हल नहीं होगा । प्रतापभानु ने मुनियों को आमंत्रित किया । उसे ज्ञात नहीं था कि कालकेतु ने उसे भुलावा दे दिया है और **'मायामय तेहिं कीन्ह रसोई'**—जो भोजन के रूप में प्रतीत होता है वह मानव-मांस है । जब ब्राह्मण भोजन करना प्रारम्भ करते हैं तो आकाशवाणी होती है, जिससे ब्राह्मणों को संदेश प्राप्त होता है—

बिप्रबृंद उठि उठि गृह जाहू । है बड़ि हानि अन्न जनि खाहू ।।
भयउ रसोई भूसुर माँसू । सब द्विज उठे मानि बिस्वासू ।।

१।१७२।६-७

—ब्राह्मणो, मुनियो, यह भोजन न कीजिये; इसमें विप्रमांस सम्मिलित है। आप लोग भोजन का परित्याग करके अपने-अपने घरों को चले जाइये।

पर भूल कहाँ होती है? यदि ब्राह्मणों और मुनियों ने आकाशवाणी की आज्ञा का ठीक-ठीक पालन किया होता तो शायद बुराई का विस्तार न होता, किंतु ब्राह्मणों ने क्रोध में आकर प्रतापभानु को शाप दे दिया। प्रतापभानु के मन में लोभ का उदय हुआ था जिससे प्रेरित होकर वह ब्राह्मणों को वश में करने के लिये भोजन करा रहा था। तो, लोभ की प्रतिक्रिया क्या होनी चाहिये? यदि सामनेवाला लोभ के कारण भूल कर रहा हो तो उसका उत्तर क्रोध के द्वारा दिया जाना चाहिये क्या? एक बुराई का उत्तर क्या दूसरी बुराई है? किंतु यहाँ ब्राह्मण क्रुद्ध होकर कहते हैं कि—मूर्ख राजा, तूने विचार का आश्रय नहीं लिया इसलिये जा, तू परिवार सहित राक्षस हो जा।

बोले बिप्र सकोप तब नहिं कछु कीन्ह बिचार।
जाइ निसाचर होहु नृप मूढ़ सहित परिवार।। १।१७३

—प्रश्न यह है कि ब्राह्मणों ने प्रतापभानु को जो दंड दिया वह उचित था या नहीं ब्राह्मण कहते हैं कि राजा, तूने विचार नहीं किया। तभी पुनः आकाशवाणी होती है जिसमें ब्राह्मणों से कहा गया कि उन्होंने भी शाप देते समय विचार नहीं किया। अविचारमूलक अपराध का दंड यदि अविचारमूलक न्याय हो तो वह तो समानरूप से एक ही विषय स्थिति उत्पन्न करेगा। भगवान् का तात्पर्य यह था कि यदि राजा ने अविचार का आश्रय लिया तो ब्राह्मणों, आप कौन-सी समझदारी कर रहे हैं? सामनेवाले ने भूल की और आप लोगों ने कह दिया—राक्षस हो जाओ। इसके बाद प्रतापभानु राक्षस हो गया और राक्षस होकर उसने किसको खाया? उन्हीं ब्राह्मणों को। इसका तात्पर्य यह हुआ कि हम दंड देते हैं और दड देकर बुरे व्यक्तियों का सृजन करते हैं। बाद में हमी व्याकुल होकर कहते हैं कि यह व्यक्ति तो बडा बुरा है, मानो बुरे व्यक्ति के निर्माण में हमारा कोई हाथ ही न हो। हम समझते हैं कि बुरा व्यक्ति अपने आप में बुरा है, समाज का या हमारा उसमें कोई भाग नहीं है। यही वह मूल भ्रांति है जो रामराज्य के दर्शन के विपरीत है। यदि आपने पद्मपुराण का वाक्य सुना हो तो आपको पता होगा कि

रामराज्य का संविधान क्या था। पद्मपुराण में रामराज्य के संविधान का एक उल्लेख मिलता है—

'भृत्यापराधे सर्वत्र स्वामिनो दंडयेत्'

—'यदि सेवक से अपराध हो तो स्वामी को दंड मिलना चाहिये।' विचित्र नियम है यह, पर इसका तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति सामनेवाले के अपराध का दायित्व सामनेवाले पर ही डालता है तो वह वस्तुतः विचार रहित होकर कार्य कर रहा है। प्रतापभानु के राक्षस बन जाने में प्रतापभानु का लोभ अगर कारण है तो ब्राह्मणों का क्रोध भी उतनी ही मात्रा में कारण है। ब्राह्मणों को आदेश मिला था कि आप लोग भोजन मत कीजिये, भोजन छोड़कर अपने-अपने घरों को चले जाइये। अगर वे इस आदेश को मानकर चले गये होते तो बाद में सारा रहस्य प्रकट हो जाता और प्रतापभानु के प्रति उनके मन में इतना आक्रोश उत्पन्न नहीं होता। एक व्यक्ति के अपराध के कारण सारे परिवार को निशाचर बना देना और उसी व्यक्ति का रावण के रूप में परिवर्तित होकर ब्राह्मणों और मुनियों पर अत्याचार करना मानो क्रिया-प्रतिक्रिया के सिद्धान्त को प्रकट करता है। अतएव यदि हम समस्या का सही समाधान चाहते हैं तो केवल व्यक्तियों में ही केन्द्रित होकर न रह जायँ। रावण की मृत्यु किसी समस्या का पूरा समाधान नहीं है। वैसे उसकी भी आवश्यकता होती है, पर वह केवल सामयिक है। रावण की मृत्यु से भगवान् राम के अवतार का कार्य पूरा नहीं हो जाता। वह तो तब पूर्ण होता है जब रामराज्य की स्थापना हो जाती है। बल्कि आप एक महत्त्वपूर्ण बात यह पावेंगे कि भगवान् राम ने बार-बार यही चेष्टा की कि रावण से संधि हो जाय और उसे मारना न पड़े। पर वे जब भी संधि का प्रस्ताव भेजते, रावण उसे उनकी दुर्बलता के रूप में देखता। रावण अंगद से स्पष्ट कहता है कि यदि तुम्हारा स्वामी इतना बलवान होता तो वह बार-बार संधि का प्रस्ताव क्यों भेजता ?

भगवान् राम का दर्शन एक चिकित्सक के दर्शन के समान है। एक चतुर चिकित्सक चेष्टा करता है कि फोड़ा किसी तरह ठीक हो जाय। कभी-कभी फोड़ा ऐसा घातक हो जाता है कि उसके कारण पूरे हाथ को ही काटकर अलग कर देना पड़ता है। पर चतुर चिकित्सक इस कार्य को तबतक नहीं करता जबतक कि बाध्यता न आ जाये। इसी प्रकार

भगवान् श्रीराम यह चाहते हैं कि रावण अपने विचारों को परिवर्तित कर ले। यदि रावण अपने दुष्कर्मों का परित्याग कर सके तो 'रावण' नाम के व्यक्ति के विनाश की कोई आवश्यकता नहीं है। इतना ही नहीं, जब श्रीराम को बाध्य होकर रावण पर शस्त्र-प्रहार करना ही पड़ा तो लिखा है कि रावण का सिर कटने पर उसके मुख से तेज निकलकर भगवान् के मुख में समा गया।

इसका तात्पर्य यह है कि बुराई का मूल समाधान भगवान् राम के चरित्र और दर्शन में प्रतिबिंबित होता है। पर जो देवता हैं या संसार में जो आजकल के देवता हैं—भोगप्रवृत्ति वाले व्यक्ति देवता ही तो हैं—वे सरलता से रावण के वध-रूपी समाधान से संतुष्ट हो जाते हैं। रावण मर गया, काम बन गया। पर रावण क्या एक ही युग में जन्म लेता है ? जय और विजय पर क्रुद्ध होकर चारों महात्माओं ने श्राप दे दिया—"जाओ, तुम असुर हो जाओ।" और तब क्या हुआ ? श्रीमद्भागवत में उल्लेख आता है—भगवान् स्वयं निकलकर बाहर आ गये और उन्होंने चारों महात्माओं की स्तुति की। स्तुति करते हुए भगवान् ने जो कुछ कहा उसे ये चारों महात्मा समझ नहीं पाये कि यह हमारी स्तुति ही है, या इसमें कोई व्यंग्य भी है। भगवान् ने अपने पार्षदों का असुर होना स्वीकार तो किया किंतु साथ-साथ उन्होंने कहा कि अब इनके कल्याण के लिए मुझे भी नीचे उतरना होगा। सनक, सनातन, सनंदन और सनतकुमार ने दंड दे दिया और दंड देकर सोचा कि अपराधी को दंड मिल गया; किन्तु भगवान् की करुणा कहती है कि नहीं-नहीं, दंड तो कोई व्यवस्था नहीं हुई, दंड तो एक क्षणिक चिकित्सामात्र है। तब भगवान् एक निर्णय लेते हैं। इस निर्णय में विशेषता क्या है ? जय-विजय के तीन जन्म हुए तो भगवान् जानबूझकर चार जन्म लेते हैं। वैसे तीन जन्म लेने से काम बन जाता पर वे एक अधिक जन्म लेते हैं। रावण-कुम्भकर्ण का वध उन्होंने राम के रूप में किया तथा शिशुपाल और दंतवक्र का वध श्रीकृष्ण के रूप में। पर हिरण्याक्ष एवं हिरण्यकशिपु का वध करने के लिए उन्होंने जानबूझकर दो रूप लिये, एक वाराह का और दूसरा नृसिंह का। भगवान् का तात्पर्य यह था कि यदि मेरे सेवकों से अपराध हो गया और उन्हें तीन जन्म लेने पड़े तो मुझे भी कष्ट भोगना चाहिये, क्यों कि इसमें मैं अपनी त्रुटि मानता हूँ; यदि वैकुंठ-लोक में मेरे सेवकों के हृदय में अहंकार और आप मुनियों के हृदय में क्रोध आ गया तो

इसका दोष मुझ पर है। यदि ये द्वारपाल अपने कर्तव्य का पालन नहीं करते तो मैं ही दोषी हूँ। इन्होंने आपको रोककर जैसे अनर्थ किया है वैसे ही मैं भी तो भक्तों के मन का द्वारपाल हूँ और मेरे रहते यदि आपके हृदय में क्रोध आ गया तो मैं भी तो अपराधी हूँ। अतः केवल इन द्वार-पालों को ही दंड क्यों मिले ? मुझ द्वारपाल को भी दंड मिलना चाहिये। इसलिये भगवान् अवतार लेना स्वीकार करते हैं, नीचे उतरते हैं। कोई व्यक्ति अगर अपने कर्मों के द्वारा नीचे गिरता है तो भगवान् अपनी इच्छा से उसके कल्याण के लिए नीचे उतरते हैं। जैसे कोई व्यक्ति गलती से गढ़े में गिर पड़े तो उसे निकालने वाले व्यक्ति को भी स्वेच्छापूर्वक गड्ढे में उतरना पड़ता है, इसी प्रकार भगवान् मृत्युलोक में आते हैं, एक बार नहीं, दो बार नहीं, बल्कि चार बार। वे सतयुग में आते हैं, त्रेता में आते हैं, द्वापर में आते हैं। आप देखते हैं कि सतयुग में इसी रावण का नाम था हिरण्यकशिपु और कुंभकर्ण का नाम था हिरण्याक्ष। जब त्रेतायुग आया तो उनके नाम हो गये शिशुपाल और दंतवक्र। इसका अभिप्राय यह है कि रावण नये-नये उपनामों से और नये-नये रूपों में सतयुग, द्वापर और त्रेतायुग में जन्म लेता है। हिन्दू विश्वविद्यालय में कार्यक्रम चल रहा था। एक विद्यार्थी ने विनोदभरा प्रश्न लिखकर भेज दिया कि 'जब रावण के तीन ही जन्म हुए, तो अपना चौथा युग सबसे अच्छा है, क्योंकि इस कलियुग में रावण का जन्म नहीं हुआ। यदि हुआ हो तो बताइये इस युग में किस नाम से उसका जन्म हुआ है।' मैंने कहा कि तीन युगों में तो रावण एक-एक नाम से आया, पर इस युग में इतने रावण और कुंभकर्ण आ गए कि कैसे बताया जाए कि कौन रावण और कौन कुंभकर्ण है ! इसका मूल तात्पर्य यह है कि बुराई प्रत्येक युग में नाम और रूप बदलकर आ जाती है। इसलिए केवल एक व्यक्ति को दंड देना बड़ा महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस संदर्भ में यह पूछा जा सकता है कि क्या रावण को मारना इतनी बड़ी बात थी जिसके लिए श्रीराम का गुण गाया जाए ? आपने रामायण में पढ़ा होगा, या पुराणों में सुना होगा कि इतिहास में भगवान् राम से भी पहले ऐसे पात्र हुए हैं जिन्होंने रावण को हराया है बालि ने रावण को हराया, सहस्रार्जुन ने हराया, पाताल-लोक में राजा बलि के यहाँ रहने वाले बालकों ने रावण को हराया। पर हम बलि के लोक के बालकों की पूजा नहीं करते, बालि की पूजा नहीं करते, न हम सहस्रार्जुन की पूजा करते हैं। रावण को मारने के लिए

हम भगवान् राम की पूजा करते आए हैं। हम विजयादशमी को उनकी विजय का पर्व मनाते हैं। यहाँ और एक बात विचारणीय है। इन लोगों ने तो दो-चार मिनट की लड़ाई में ही रावण को मार दिया पर भगवान् राम ने रावण को मारने में बड़ा समय लगाया। तब क्या कारण है कि इतने विजेताओं के होते हुए हमने श्रीराम की विजय को महत्त्व दिया और अन्य लोगों की विजय को महत्त्वपूर्ण नहीं समझा ? जब आप इस प्रश्न पर विचार करेंगे तो श्रीराम की विजय में आप एक भिन्नता पाएँगे। वह यह कि उनकी विजय बुराई पर अच्छाई की विजय थी, जब कि रावण पर दूसरों की विजय बुराई पर बुराई की विजय थी। समाज में हम सर्वत्र बुराई पर बुराई की विजय देखते हैं। जो व्यक्ति घोर कामी होता है वह लोभ को जीत लेता है, अपनी कामवासना की तृप्ति के लिए वह रुपये लुटाता है तथा महादानी हो जाता है। तो क्या उसकी प्रशंसा की जानी चाहिए कि ये तो बड़े निर्लोभी हो गये हैं ? यहाँ काम ने लोभ को जीत लिया है। कई लोभी ऐसे होते हैं जिन्हें क्रोध नहीं आता। उनसे कुछ भी कहिये, वे क्रोधित नहीं होते; बस, उन्हें लाभ होना चाहिये। तो, जब लोभ के द्वारा क्रोध को जीत लिया जाये या काम के द्वारा लोभ को, तो यह जीत नहीं है। उन्हें विजेता नहीं समझा जा सकता। बुराई के द्वारा बुराई की जीत को जीत नहीं माना जा सकता। अच्छाई के द्वारा बुराई की जीत का महत्त्व है। कोई व्यक्ति काम के कारण लोभ के आवेश को जीत ले तो इसका महत्त्व ही क्या है ? यदि आप ध्यान से विचार करके देखें तो यह बात स्पष्ट हो जायगी।

ठीक है, बालि और सहस्रार्जुन से रावण परास्त हो जाता है, पर यह नागनाथ और साँपनाथ की लड़ाई है। इन दो बुराइयों के संघर्ष में एक बुराई का जीत जाना और दूसरी का हार जाना कोई अर्थ नहीं रखता। बालि और रावण का युद्ध व्यक्तिगत युद्ध है। सहस्रार्जुन के विजेता भगवान् परशुराम भी थे; किन्तु वे भी इस समस्या का समाधान नहीं कर सके और भगवान् राम को अवतार लेकर आना पड़ा। जहाँ तक शक्ति का संबंध है, परशुरामजी उसमें कम नहीं हैं। बल्कि कहना चाहिये कि वे बहुत अधिक शक्तिशाली हैं। रावण को हराया सहस्रार्जुन ने, और सहस्रार्जुन की भुजाओं को काट दिया परशुराम ने। तो, जो व्यक्ति रावण के विजेता की हजार भुजाओं को काट सकता है, क्या वह रावण की बीस भुजाओं को नहीं काट सकता ? फिर व्यर्थ में भगवान् राम को

परिश्रम करके अवतार लेने की क्या आवश्यकता थी ? परशुराम ने जैसे सहस्रार्जुन को दंड दिया, वैसे ही अवसर पाकर वे रावण को भी दंड देते। पर यह तो बड़ी मनोवैज्ञानिक साधना और आंतरिक जीवन की गुत्थियाँ हैं।

'विनयपत्रिका' आपने पढ़ी होगी और मैं कहूँगा कि 'मानस' का पूरा आनन्द लेने के लिए आप 'विनयपत्रिका' अवश्य पढ़े। उसमें गोस्वामीजी कहते हैं—

मोह दसमोलि, तद्भ्रात अहंकार, पाकारिजित् काम बिस्रामहारी ॥
५८।७

—रावण मोह है, बालि का चरित्र अहंकारप्रधान है और सहस्रार्जुन का चरित्र लोभप्रधान। रावण सहस्रार्जुन से हार जाता है। इसका तात्पर्य क्या है ? रावण लोभ से हारेगा नहीं तो क्या जीतेगा ? अगर वह निर्लोभ होता तो उससे जीतता। वह तो निरंतर संग्रह में संलग्न है। और स्वर्णमयी लका का स्वामी है। यदि हजार भुजाओंवाले से बीस भुजाओं वाला हार गया तो इसमें आश्चर्य क्या ? जब थोड़ी बुराई और अधिक बुराई में युद्ध होगा तो अधिक बुराई ही जीतेगी। देखा जाता है कि हमारे जीवन में कभी काम जीतता है तो कभी क्रोध, कभी लोभ जीतता है तो कभी मोह, तो कभी अहंकार जीतता है, पर इस जीत या हार से समाज को क्या लेना-देना है ? कहा जाता है कि रावण शंकरजी की पूजा कर रहा था, तभी एकाएक नदी का तीव्र प्रवाह आया और उसकी पूजा के पात्रों के साथ शिवलिंग बह गया। बड़ा विचित्र व्यंग्यात्मक वर्णन है। रावण की पुजा बह गई ! बहुत लोग पूजा करते तो हैं पर उनकी पूजा बह जाया करती है। रावण क्रुद्ध होकर सोचने लगा कि मेरी पूजा को किसने विनष्ट किया है ? जाकर देखा तो सहस्रार्जुन अपनी पत्नियों के साथ जलक्रीड़ा कर रहा था और अपनी हजार भुजाओं से उसने नर्मदा के जल को रोक दिया था। रोके हुए उस जल को जब अचानक उसने छोड़ा तो प्रवाह में पूजा बह गई। सहस्रार्जुन और रावण दोनों शंकरभक्त हैं, किन्तु ये दोनों सच्चे अर्थों में शंकरजी के भक्त हैं क्या ? रावण जब शकरजी की पूजा करता है तो वस्तुत वह शकर की बजाय अपने अहकार की पूजा करता है। इसीलिए रामचरितमानस में शिवजी के दो रूपों का वर्णन किया गया है—

अहंकार सिव बुद्धि अज मत ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान॥ ६।१५ (क)

—अहंकार का जो विराट स्वरूप है उसका नाम है शंकर। विराट के चित्त विष्णु हैं, विराट का मन चन्द्रमा है और विराट की बुद्धि ब्रह्मा। शंकरजी का दूसरा रूप—

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाःस्वान्तःस्थमीश्वरम्॥

—भगवान् शंकर का दूसरा रूप है विश्वास। असुर जब भगवान् शंकर की पूजा करता है तो क्या वह उनके विश्वास-रूप की पूजा करता है? नहीं, वह तो समष्टि-अहं से अपना नाता जोड़ता है। उसकी साधना और पूजा अपने व्यक्तिगत अहंकार की पूजा है। इसीलिए व्यंग्य आता है कि रावण ने जब अपने सिर काटकर चढ़ाये तो उसके सिर ज्यों के त्यों निकल आए। रावण तो सोचने लगा कि शंकरजी मुझ पर कितने प्रसन्न हैं जो उन्होंने मुझे ऐसा वरदान दे दिया। पर क्या आप समझते हैं कि शंकरजी प्रसन्न हुए? आप किसी को कोई भेंट दें और वह उसे लौटा दे तो वह व्यक्ति आपसे प्रसन्न है या अप्रसन्न? शंकरजी को यदि रावण के सिर पसंद आए होते तो उन सबको उन्होंने अपने गले में न लटका लिया होता? इतने तो सिर वे धारण करते ही हैं, दस सिर और सही। पर उनको लगा कि रावण के सिर रावण के पास ही रहें तो ठीक है, उन्हें वे सिर अपने पास रखने योग्य नहीं जचे!

सच्ची आस्तिकता बिरले ही व्यक्तियों में होती है। सच्चा आस्तिक कौन है?—वह जो देवता को शक्तिमान तो मानता है पर विवेकी नहीं मानता, या फिर वह जो देवता को शक्तिमान और विवेकी दोनों मानता है? वस्तुतः यह दूसरा व्यक्ति ही सच्चा आस्तिक है। अधिकांश लोग देवताओं को शक्तिमान तो मानते हैं पर विवेकी बिल्कुल नहीं मानते। जब हम देवता से कहते हैं कि आप हमारा कल्याण कीजिये तो इससे हमारी यह धारणा तो स्पष्ट होती है कि देवता हमारा कल्याण कर सकता है; किन्तु जब हम देवता को कल्याण का अर्थ बताने लगते हैं तो प्रकट है कि हम उसके विवेक में विश्वास नहीं करते। अगर ईश्वर के विवेक पर विश्वास होता तो हम केवल यह कह देते कि प्रभो, कल्याण कीजिये और इस कल्याण का अर्थ ईश्वर स्वयं लगा लेता।

नारद जी ने भगवान् से कहा—महाराज, मेरा हित कीजिये। भगवान् ने उत्तर में कहा—अवश्य करूँगा। बोले—**जेहि बिधि होइहि परम हित** (१।१३२)। लेकिन नारदजी बोले—भगवान्, मेरा हित भी तो समझ लीजिये।

आपन रूप देहु प्रभु मोही। आन भाँति नहिं पावौं ओही॥
१।१३१।६

—अपनी सुन्दरता मुझे दे दीजिये; मेरा विवाह हो जाए इसी में मेरा हित है। भगवान् ने कहा—बस, यहीं मेरा मतभेद है; यह तुम्हारे योग्य बात नहीं कि तुम अपना हित किसमें है यह मुझे बताओ। क्या तुम्हारे हित की व्याख्या मुझे तुमसे पूछनी होगी? इसी तरह जितने असुर थे, वे जब शंकरजी या ब्रह्मा की आराधना करते थे तो समझते थे कि ये शक्तिमान तो हैं पर हमसे अधिक बुद्धिमान नहीं हैं। जिस समय शंकर और ब्रह्मा रावण के सामने वरदान देने खड़े हुए तो रावण को लगा कि ये दोनों मिल भी जाएँ तो भी हमसे कम बुद्धिमान हैं। ब्रह्मा के चार सिर और शंकर के पाँच हैं। रावण ने सोचा कि दोनों मिल भी जाएँ तो नौ ही होते हैं अपने तो दस सिर हैं; यानी, बुद्धि में हम इन दोनों से ज्यादा हैं। इसका अर्थ यह है कि रावण द्वारा सिर काटना पूजा नहीं अपितु अपने अहंकार का प्रदर्शन है। सिर काटकर की गयी पूजा में प्रदर्शन था, ब्याज सहित वापस पाने की प्रवृत्ति थी। रावण तो वस्तुतः अहंकार का पुजारी है। रावण और सहस्रार्जुन की टक्कर दो अहंकारियों की टक्कर थी। यदि सहस्रार्जुन नदी के प्रवाह को रोककर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करता है तो रावण अपना सिर काटकर शिवलिंग की पूजा करता हुआ अपना अहंकार दिखाता है। दो अहं की टक्कर में एक जीता और दूसरा हार गया।

इसी प्रकार बालि का उदाहरण है। बालि संध्या कर रहा है, रावण उस पर पीछे से आक्रमण करने की चेष्टा करता है। तभी बालि ने उसे देख लिया और एक पल में उसे हरा दिया। जब हराया तो मार ही डालता लेकिन उसने रावण को मारा नहीं। यदि मारना नहीं था, तो छोड़ देता। पर उसने छोड़ा भी नहीं। वह रावण को बगल में दबाकर छह महीने तक घूमता रहा। इस कथा में एक व्यंग्य है। संसार में छोटे लड़के जितने बुद्धिमान होते है, बालि उतना भी बुद्धिमान नहीं है। लड़कों

के खेल में आपने देखा होगा कि जो लड़का जीतता है वह हारने वाले के कंधे पर बैठकर घूमता है। पराजित को चाहिये कि वह ढोये, लेकिन यहाँ तो उल्टी बात है। जीतने वाला हारने वाले को ढो रहा है। वास्तव में बालि ने सोचा कि संयोग से मैंने रावण को जीत लिया है लेकिन यदि किसी से मैं यह बात कहूँ तो शायद वह विश्वास न करे, इसलिए वह बगल में प्रमाणपत्र दबाये हुए दिखाता फिर रहा था कि मैं कितना बड़ा विजेता हूँ। वह भला विजय का सुख कहाँ पा सकता था ? वह तो विजय को भार समझते हुए ढो रहा था। अब जरा सोचिये, इन छह महीनों में रावण तो सोया भी होगा, पर बालि नहीं सो सका था। उसे डर था कि रावण कहीं काँख से निकलकर भाग न जाए। तो, कुछ लोग बिचारे रातभर जागते रहते हैं—इस चिन्ता में कि यह हमारी विजय, हमारी कीर्ति, हमारी सफलता, हमारा धन कहीं हमें छोड़कर न चला जाए। बगल में बोझ को कसकर दबाये हुए अनेक सफल व्यक्ति क्या घूम नहीं रहे हैं, भटक नहीं रहे हैं ? क्या इतिहास का सत्य जीवन में प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता ? ऐसी स्थित में बालि जब रावण को हराता है, या सहस्रार्जुन जब उसे पराजित करता है तो इसका हमारे जीवन में कोई अर्थ नहीं।

हराना रावण को नहीं, रावणत्व को है। अंतर बस इतना ही है। रावण को हराने से एक नया रावण उत्पन्न होगा। रावण तो एक प्रतीक मात्र है। भगवान् राम का मूल युद्ध रावण की विचारधारा से है जबकि बालि और सहस्रार्जुन का युद्ध रावण नाम के व्यक्ति से है। रावण और बालि में भला क्या अंतर है ? बालि ने रावण को हराया सही, पर वह रावण से पहले रावण बन गया। रावण ने सीताजी का हरण बाद में किया; बालि ने अपने छोटे भाई की पत्नी का हरण पहले किया। रावण ने अपने छोटे भाई विभीषण को लात मार कर बाद में निकाला; बालि ने अपने छोटे भाई सुग्रीव को लात मार कर पहले निकाल दिया। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि रावण को जीतकर भी रावण की विचारधारा के अनुरूप जीवन व्यतीत करना है तो इससे क्या अंतर पड़ता है कि कौन जीता और कौन हारा ? इसलिए सच्ची विजय तो तब होगी जब रावण की विचारधारा की हार हो जाय। रावण की विचारधारा की, उसके सिद्धान्तों और मान्यताओं की पराजय ही वास्तविक विजय है। भगवान् शंकर इसी विजय को महत्त्व देते हैं। यह विजय व्यक्ति की नहीं

है, व्यक्ति तो आते जाते रहते हैं, उनके नाम रूप बदलते रहते हैं, लेकिन जो विचारधारा के रूप में, मनुष्य के मन में, उसके अंतर्जीवन में प्रविष्ट होने वाली बुराई है उस पर विजय प्राप्त की जानी चाहिये।

इसी प्रकार, परशुराम भी उस समस्या का समाधान नहीं दे पाते क्यों ? परशुराम तो महान् हैं जबकि रावण निशाचर है। रावण को हराने वाले जिस सहस्रार्जुन को परशुराम ने हराया, उसके विषय में भी जान लें। सहस्रार्जुन हजार भुजाओं से कर्म करने वाला पुरुष था। बहुत कर्म करने से बहुत लोभ भी पैदा होने लगता है और यह सहस्रार्जुन के चरित्र में दिखाई देता है। सहस्रार्जुन जमदग्नि के आश्रम में गया। वहाँ कामधेनु के द्वारा उसका ऐसा बढ़िया स्वागत किया गया कि उसने आश्चर्य से पूछा—कुटिया में रहनेवाले आपके पास इतना वैभव कहाँ से आया जो आपने इतनी बड़ी सेना का स्वागत किया ? जमदग्नि ने बताया कि उनके पास कामधेनु है। हमारे पुराण कहते हैं कि जब कामधेनु होगी तो किसी त्यागी के पास ही, जिसे वह दूसरों की सेवा में लगावेगा। यदि भोगी के पास कामधेनु आ जाय तो वह अपने को सुख देने तथा दूसरों को निरंतर दुख देने में ही कामधेनु का उपयोग करेगा। सहस्रार्जुन के पास भोगों की कमी नहीं थी, गायों की कमी नहीं थी पर उसे लगा कि ऐसी चामत्कारिक गाय हमारे पास होनी चाहिये। उसने जमदग्नि से कहा—जब आपको भोग भोगना ही नहीं है तो आप इस गाय को रखकर क्या करेंगे ? आप यह गाय मुझे दे दीजिये और बदले में हजारों दूसरी गायें ले लीजिये। जमदग्नि ने इसे अस्वीकार कर दिया और अंत में सहस्रार्जुन ने इस गाय को छीन लिया। यह लोभ की पराकाष्ठा है। इतना बड़ा सत्ताधीश होते हुए भी वह एक गाय के लोभ से अत्याचार और अनाचार पर उतर आया। और तब उसे दंड दिया भगवान् परशुराम ने।

परशुरामजी का शस्त्र था परशु। अब जरा उसे सही संदर्भ में देखिये। जैसे बाहर के भौतिक शस्त्र हुआ करते हैं उसी प्रकार लंका के युद्ध में भगवान् राम ने सद्गुणों का भी शस्त्रों के रूप में वर्णन किया। धर्मरथ के वर्णन में हम पढ़ते हैं-**सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥** (६।७९।५) परशु के लिये बताया गया है—**दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा।** (६।७९।८) अब यहाँ दान के परशु का तात्पर्य समझिये। फरसे से परशुराम ने सहस्रार्जुन की भुजाओं को काट

दिया। इसका अर्थ यह हुआ कि दान के फरसे से ही लोभ की भुजाओं को काटा जा सकता है। दान दीजिये, लोभ कटेगा। परशुरामजी ने निर्लोभिता, दानवृत्ति के द्वारा उसे दण्ड दिया और दंड देने के बाद जो राज्य प्राप्त किया उसका उन्होंने वितरण कर दिया। इतना होने पर भी परशुराम ससस्या का समाधान क्यों नहीं दे पाते ? इसलिए कि दान के द्वारा लोभ का विनाश तो हुआ, किंतु अहंकार की वृद्धि हो गई। यह बड़ी समस्या है। एक रोग को मिटाने के लिये दवा खाइये; वह मिटा तो दूसरा बढ़ गया। तुलसीदासजी ने इन रिपुओं का कभी राक्षसों के रूप में वर्णन किया है तो कभी रोगों के रूप में। उत्तरकांड में उन्होंने इनका वर्णन रोगों के रूप में किया है। कहा है—**काम वात कफ लोभ अपारा।** (७।१२०।३०) अगर जीवन में काम आ जाये तो समझ लीजिये वात प्रबल हो गया, क्रोध आये तो समझ लीजिये पित्त प्रबल हो गया, जब लोभ बढ़ जाय तो समझिये कफ प्रबल हो गया और यदि तीनों प्रबल हो जायँ तो समझिये सन्निपात हो गया—**प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई॥** (७।१२०।३१) अब आप दवाखाने गए। यहाँ शास्त्र दवाखाना है, विद्वान् लोग वैद्य हैं। उनसे जाकर पूछा कि कौन-सी दवा लें तो कहा गया—**नेम धर्म आचार तप, ग्यान जग्य जप दान। भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं रोग जाहिं हरिजान॥** (७।१२१।ख) अगर रोग करोड़ों हैं तो दवाइयाँ भी तो कम नहीं हैं। सारे शास्त्रों में दवाइयाँ ही दवाइयाँ तो भरी पड़ी हैं। पर रोग तो जड़ से मिटता ही नहीं। वैद्यजी ने दान की पुड़िया उठाकर दे दी। बोले—दान दो, लोभरूपी कफ दूर होगा। दान देते ही लोभ की मात्रा घटी तो तुरन्त दबा हुआ अहंकार प्रकट हो गया कि मैं दानी हूँ। रामायण में गोस्वामीजी कहते हैं कि मोह रावण है, अहंकार कुंभकर्ण है और मेघनाद काम है। कुंभकर्ण सो रहा है और आप जानते हैं कि रावण ने कुंभकर्ण को कब जगाया। जब राक्षसों की आधी सेना मारी गई तब कहीं जगाया। वर्णन आता है—**आधा कटकु कपिन्ह संघारा।** (६।४७।४) उठने पर कुंभकर्ण ने रावण से पूछा—कितनी सेना मारी गई। रावण ने बताया कि आधी सेना मारी गई। याद रखिये, जीवन में अहंकारी तभी जागते हैं जब आधी सेना मारी जाती है। दान के द्वारा आपने लोभ को मारा ही था कि अहंकार जाग उठा। कुंभकर्ण का अर्थ ही है कि जिसके कान घड़े की तरह हों। अहंकारी का सबसे प्रमुख अंग कान ही तो है—वह अपनी

प्रशंसा सुनने के लिये आतुर रहता है। वह घड़े की तरह कान लिये फिरता है। घड़े में गंगाजल डालिये तो रह जाय; शराब डालिये तो वह भी रह जाये। अहंकारी व्यक्ति की प्रवृत्ति भी ऐसी ही होती है। वह कभी अच्छी बात सुन लेगा तो कभी बुरी बात भी सुन लेगा। स्वयं कभी अच्छी बात करने लगेगा तो कभी बुरी बात। इसीलिये जब रावण कुंभकर्ण को जगाता है तो जागते ही वह उपदेश देने लगता है। बड़ी विचित्र बात है! रावण को न केवल उसने उपदेश दिया अपितु गाली देते हुए शत्रु भी कह दिया। **"जगदंबा हरि आनि अब सठ चाहत कल्यान"** (६।६२) विभीषण ने तो प्रेम से समझाया था पर रावण ने क्रोध में आकर उसे लात मार दी थी। दूसरी ओर, कुंभकर्ण ने गाली दी फिर भी रावण को क्रोध नहीं आया। विभीषण और कुंभकर्ण के चरित्र के अंतर को रावण अच्छी तरह से जानता था। उसे पता था कि विभीषण जो कहता है वह भीतर-बाहर एक कह रहा है। कुंभकर्ण के विषय में उसे विश्वास था कि अभी यह जो कुछ कह रहा है उसे हम बदलकर दिखा देंगे। लिखा है कि कुंभकर्ण ने पहले रावण को उपदेश दिया और उसके बाद नेत्र मूँदकर भगवान् का ध्यान करने बैठ गया। रावण को तो डर जाना चाहिये था कि यह भी कहीं राम का भक्त तो नहीं निकला, पर गोस्वामी जी लिखते हैं—

राम रूप गुन सुमिरत मगन भयउ छन एक।
रावन माँगेउ कोटि घट मद अरु महिष अनेक॥ ६।६३

—अभी तो वह भगवान् के रूप का ध्यान कर रहा है और दूसरे क्षण जब आँख खुलेगी तो शराब का ध्यान करेगा। इसीलिए रावण कुंभकर्ण से कोई चिंता करने या डरने की आवश्यकता नहीं समझता, वह जानता है कि ये तो बदलते ही रहते हैं, इस घड़े में सब कुछ डाला जा सकता है। जो डालिये वह घड़ा स्वीकार कर लेगा। जो कुंभकर्ण कुछ समय पूर्व इतना सुन्दर उपदेश दे रहा था वही चैतन्य होने पर—

महिष खाइ करि मदिरा पाना। गर्जा बज्राघात समाना॥
६।६३।१

—खा पीकर गर्जना करने लगा। रावण ने पूछा—किसकी ओर से लड़ोगे? जवाब मिला—तुम्हारी ओर से। प्रशंसा करेंगे राम की और

लड़ेंगे रावण की ओर ! उपदेश देंगे भक्ति का, पर जब जीवन में क्रियात्मक अवसर आयेगा तो पक्ष लेंगे रावणत्व का; संघर्ष करेंगे रावण की ओर से ! यही तो जीवन में पग-पग पर दिखाई दे रहा है।

इससे भी बढ़कर एक चित्र आता है। कुंभकर्ण जब लड़ने के लिये जाने लगा तो रावण ने पूछा कि कितनी सेना लेकर जाओगे ? अब तक जितने भी योद्धा लड़ने जाते थे, सेना लेकर जाते थे लेकिन कुंभकर्ण ही ऐसा योद्धा था जिसने अकेले जाने का निर्णय किया।

कुंभकरन दुर्मद रन रंगा। चला दुर्ग तजि सेन न संगा।।
६।६३।२

वह बोला—भला मैं सिपाही और सेना लेकर लड़ूँगा ? मैं तो अकेले ही जाऊँगा। इसका अर्थ यह हुआ कि संसार को अन्य बुराइयाँ तो मिलकर जीतती हैं पर अहंकार कहता है—सारे सद्‌गुणों को हरा देने के लिये हम अकेले ही यथेष्ट है। यही अहंकार की विशेषता है। इसके बाद कुंभकर्ण लड़ने के लिये आगे बढ़ा तो भगवान् राम ने मुस्कराते हुए विभीषण से पूछा—ये कौन हैं मित्र ? प्रभु बड़े कौतुकी हैं न ! उनका अहंकार से कहाँ परिचय ? वे तो जीव से उसका परिचय जानना चाहते हैं; कहते हैं—यह तो तुम्हारा ही नातेदार और संबंधी है; तुम्हीं इसका परिचय बताओ। विभीषण बोले—

नाथ भूधराकार सरीरा। कुंभकरन आवत रनधीरा।। ६।६४।२

श्रीराम परिचय पूछ रहे थे कि बंदरों का उत्साह उमड़ पड़ा। ये बंदर कौन हैं ? गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में कहते हैं—

कैवल्य-साधन अखिल भालु मर्कट बिकट।। ५८।४५

—ये बंदर नाना प्रकार के सद्‌गुण हैं; मोक्ष के साधन हैं। इन्हें कुंभकर्ण का परिचय पाने से इतना उत्साह आया कि भगवान् की आज्ञा लेने की कोई जरूरत ही नहीं समझी; बस, पर्वत, वृक्ष आदि लेकर दौड़ पड़े। ये पर्वत और वृक्ष क्या हैं ? कोई यज्ञ लेकर चला तो कोई दान लेकर और कोई व्रत या अन्य साधन लेकर चला। सभी कुंभकर्ण रूपी अहंकार को मारने लगे। पर कुंभकर्ण को तो ऐसा लगा—**जिमि गज अर्क फलनि को मारचो** (६।६४।६)'—जैसे हाथी पर कोई आक का फल फेंक रहा

हो। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति इन साधनों के द्वारा अहंकार को जीतना चाहता है तो अहंकार मुस्कराकर कहता है—यह तो हमारी खुजली मिटाने का ही साधन है, अधिक कुछ नहीं। इधर कुंभकर्ण क्या करता है ? वह—

कोटि-कोटि कपि धरि धरि खाई। जनु टीड़ी गिरि गुहाँ समाई॥
६।६६।२

—कोटि-कोटि बंदरों को उठाकर खाने लगता है। इसका अभिप्राय यह है कि हमारे सारे सद्‌गुणों को यह अहंकार ही तो खाये जा रहा है; कोई भूले-भटके बिचारे भले ही बच जायें। गोस्वामीजी कहते हैं कि कुछ बन्दर कान के रास्ते से भाग निकले तो कुछ उसकी नाक के रास्ते से। लेकिन यह कुंभकर्ण ऐसा था कि जिसको उठाता था, पेट ही में डाल लेता था। भगवान् राम की सेना का कोई ऐसा बन्दर नहीं था जो कुंभकर्ण से न हारा हो।

गोस्वामीजी की रामायण में इतिहास और अध्यात्म दोनों का समन्वय है। यह विचित्र-सी बात है कि लक्ष्मण जी ने प्रत्येक राक्षस से युद्ध किया; रावण से लड़े, मेघनाद से लड़ाई लड़ी, अन्य राक्षसों से भी उन्होंने संघर्ष किया, पर अगर कोई ऐसा राक्षस है जिससे वे नहीं लड़े तो वह है कुंभकर्ण। क्यों नही लड़े ? लक्ष्मण जी जीवों के आचार्य है। उन्होंने मानो प्रभु से कहा—प्रभो, जीव अपने पुण्यों के द्वारा एक बार अन्य सारी बुराइयाँ जीत सकता है पर अहंकार तो केवल आपकी ही कृपा से मिट सकता है, जीव के पुरुषार्थ से नहीं। जीव अपने पुरुषार्थ से 'मैं' से 'मैं' को कैसे जीत सकता है ? अब जीव साधन करेगा तो बिना 'मैं' के नहीं करेगा, और 'मैं' से 'मैं' मिटेगा कैसे ? इसीलिये परमाचार्य ने कहा—नहीं, नहीं, सब पुण्य करो, धर्म करो, पर अहंकार को मिटाने का भार तो प्रभु को ही सौंपो। कौन ऐसा व्यक्ति होगा जिसे इसे कुंभकर्ण रूपी अहंकार ने न हरा दिया हो। तो, यह थी इस 'मैं' या अहंकार की भयानकता ! गोस्वामीजी कहते हैं, इसने सबको परास्त कर दिया। कुछ मर गये, कुछ मूर्छित हुए, कुछ का ज्ञान समाप्त हो गया तो कुछ का थोड़े समय के लिये दब गया।

अंगदादि कपि मुरुछित करि समेत सुग्रीव।
काँख दाब कपिराज कहुँ चला अमित बल सींव॥ ६।६५

—जब कुंभकर्ण लौटने लगा तो बगल में उसने सुग्रीव को दबा लिया। ऐसा करने का कोई मनोवैज्ञानिक कारण हो सकता है। सुग्रीव को देखते ही कुंभकर्ण को याद आ गई हो कि इसके बड़े भाई ने हमारे बड़े भाई को बगल में दबाया था और उसका बदला यही होगा कि हम इसे बगल में दबाकर लेते चलें और रावण से जाकर कहें कि देखिये आपका बदला चुक गया। सुग्रीव मूर्च्छित हो गये थे। कुछ क्षणों बाद उनकी मूर्च्छा खुली। इसका अभिप्राय यह है कि कभी-कभी विचार करने वाला व्यक्ति भी अहंकार से ग्रस्त हो जाता है। बुद्धिमत्ता इसमें है कि थोड़े समय बाद ही यह ज्ञान हो जाय कि हमारे जीवन में अहकार आ गया। सुग्रीव ने सोचा, यह मैं कहाँ हूँ ; भगवान् के चरणों को छोड़कर मैं कुंभकर्ण की बगल में दबा पड़ा हूँ। साधक के लिये इससे बड़ी लज्जा की बात कोई और नहीं हो सकती कि वह भगवान् के श्रीचरणों को छोड़कर अहंकार के बीच में दब जाय। सावधान होकर सुग्रीव ने देखा कि हम इसे हरा तो सकते नहीं, पर इसे लौटा सकते हैं। उन्होंने सोचा कि कुंभकर्ण को किसी प्रकार लौटाकर यदि हम प्रभु की ओर ले जायँ तो प्रभु अपनी कृपा से उसे हरा देंगे। गोस्वामीजी लिखते हैं—

सुग्रीवहु कै मुरुछा बीती। निबुकि गयउ तेहि मृतक प्रतीती।।

६।६५।५

—तुरन्त सुग्रीव ने श्वास को रोक लिया और बिल्कुल शव की तरह बन गये। अहंकार से छूटने का उपाय तो बिल्कुल मुर्दे की तरह ही बनना है। मुर्दा ही ऐसा होता है जिसे चाहे माला पहनाइये, चाहे चंदन लगाइये चाहे गाली दीजिये, चाहे पत्थर फेंकिये, उस पर प्रभाव नहीं पड़ता। सुग्रीव ने भी बिल्कुल शववृत्ति धारण कर ली। कुंभकर्ण ने सोचा कि यह तो दबकर मर गया है इसको लेकर अगर जाऊँगा तो लंका वाले कहेंगे कि यह तो मुर्दा ढोने वाला है। नहीं-नहीं, हम इसे नहीं ढोयेंगे। और कुंभकर्ण ने अपना हाथ हटा लिया। कैद से छूटते ही सुग्रीव भगवान् की ओर सरपट भागे। वह शवमुद्रा तो अहंकार से छूटने के लिये एक उपाय के रूप में स्वीकार की गई थी। कैद से छूटकर भागते हुए सुग्रीव ने कुंभकर्ण की नाक और कान काट लिया। वे जानते थे कि अहंकार की ये ही दो कमजोरियाँ हैं—या तो कान से प्रशंसा सुनना, या नाक न कटने पाये इसे देखना। वे यह भी जानते थे कि इस पर यदि प्रहार किया

जायगा तो यह जरूर भगवान् के सामने जायगा। फिर हम देखते हैं कि सुग्रीव भगवान् के पीछे जाकर छिप गये उनके पीछे कुंभकर्ण आया और तब भगवान् ने उस पर विजय प्राप्त की।

राम सेन निज पाछे घाली। चले सकोप महा बलसाली॥

६।६६।६

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है—अच्छा, यदि पुण्य के द्वारा अहंकार होता है, दान और धर्म के कारण अहंकार होता है, तो क्या आप दान और धर्म करना बन्द कर दें? एक बार एक महिला ने महात्मा गांधी को पत्र लिखा कि मेरा मन पूजा में नहीं लगता; बिना मन के पूजा करना पाखंड है, इसलिये मैंने पूजा करना छोड़ दिया है। महात्माजी ने उत्तर दिया—पाखंड छोड़ो, पूजा क्यों छोड़ रहे हो? पुण्य के द्वारा अहंकार होता है। यदि ऐसा अर्थ कोई व्यक्ति ले ले तब तो पुण्य करना ही बंद कर दे। तब तो कोई भी सोच सकता है कि दान देने से अहंकार होगा, सत्य बोलने से अहंकार होगा, ब्रह्मचर्य से अहकार होगा, इसलिये यही अच्छा है कि हम अनाचार में रहें, असत्य बोलें, इससे अहंकार तो नहीं होगा। पर ऐसा सोचना उचित नहीं। तो फिर उपर्युक्त बात का तात्पर्य क्या है? यही कि बन्दरों की आवश्यकता है, पर बन्दर जब अपनी शक्ति से कुंभकर्ण को हराना चाहते हैं तो वे हारते हैं और जब ये ही बन्दर भगवान् के पीछे हो जाते हैं और भगवान् आगे हो जाते है तो भगवान् राम कुंभकर्ण का संहार कर देते हैं? इसका अभिप्राय यह है कि जब साधन आगे और ईश्वर पीछे होगा तो व्यक्ति अहंकार से हारेगा और जहाँ ईश्वर आगे होगा एवं जीव पीछे होगा वहाँ ईश्वर उसकी साधना-शक्ति को महत्त्व प्रदान करेगा।

जब भगवान् श्रीकृष्ण ने गोवर्धन उठाया तो बालकों की लाठियाँ लगाने का कोई महत्त्व नहीं था। ये जो गोप बालक लाठियाँ लगाते हैं वह जीव की साधना ही तो है। भगवान् कहते हैं—लाठी जरूर लगाओ, तुम अपनी ओर से साधना अवश्य करो। महत्त्व इस बात का है कि जीव की साधना से ईश्वर की कृपा प्राप्त होती है। रामायण में संकेत आता है कि जब समुद्र पर सेतु बाँधा गया तो जाम्बवान ने श्रीराम से कहा–प्रभो, सेतु तो बँध गया पर सेना इतनी बड़ी है कि पार होने में समय लगेगा। प्रभु ने हँसकर कहा—अच्छा, अच्छा, एक पुल और बना दिया जाता है;

और प्रभु बंदरों के बनाये हुए पुल पर जाकर खड़े हो गये। प्रभु को देखने के लिए समुद्र के सारे जलचर ऊपर आ गये और भगवान् के सौंदर्य को अपलक निहारने लगे—

देखन कहुँ प्रभु करुना कंदा। प्रगट भये सब जलचर बृंदा॥
६।३।४

तिन्ह की ओट न देखिअ बारी। मगन भये हरि रूप निहारी॥
६।३।८

—जलचर इतने थे कि समुद्र में जल कहीं दिखाई नहीं दे रहा था। प्रभु ने हँसकर कहा कि मित्रों, अब तो समुद्र में पुल ही पुल हो गया, पार हो जाओ न। बंदर डरे, बोले यह आपका पुल तो बड़ा खतरनाक है। कहीं हम पैर रखें और वह हमें लेकर डूब जायँ तो ? तो, यहाँ जीव का अपने साधन में विश्वास है लेकिन भगवान् की कृपा में विश्वास नहीं है। उसे लगता है, मैंने जो पुल बनाया है वह मजबूत है पर ईश्वर की कृपा वाला पुल पता नहीं कब गिरे, कहाँ गिरे, यह उसे संदेह है। प्रभु ने कहा—अच्छा, जरा चढ़कर देख लो न। गोस्वामीजी कहते हैं—

प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे। मन हरषित सब भये सुखारे॥
६।३।७

—पत्थर पटक कर देखा, वृक्ष फेंककर देखा पर जब वे जलचर नहीं हटे तो—

सेतुबंध भइ भीर अति कपि नभ पंथ उड़ाहिं।
अपर जलचरन्हि ऊपर चढ़ि चढ़ि पारहि जाहिं॥ ६।४

—सारी सेना पार हो गई। कुछ लोग जलचरों के पुल पर से गये, कुछ लोग पत्थर के पुल पर से; कुछ ऐसे भी थे जो आकाशमार्ग से गये। ज्ञानी आकाशमार्ग से गये, कर्मी लोग पत्थर के पुल से गये और भक्त लोग जलचरों के पुल पर से। तीनों मार्गों से उन्होंने लंका में प्रवेश किया। जाम्बवानजी से नहीं रहा गया। उन्होंने श्रीराम से कहा—प्रभो, जब इतनी सरलता से आप इतना बढ़िया पुल बना सकते थे तो व्यर्थ ही आपने हमसे पत्थर ढुलवाये और परिश्रम करवाये। प्रभु ने मुस्करा-कर कहा—जाम्बवान, तुमने ठीक नहीं कहा। यदि पत्थरों का पुल तुम

लोगों ने नहीं बनाया होता तो मैं कहाँ पर खड़ा रहकर यह पुल बनाता ? आधार तो तुम्हीं लोग देते हो, उस आधार पर खड़ा रहकर ही मैं नये पुल का निर्माण करता हूँ। जीव की साधना और जीव का संकल्प ही वह आधार है जिस पर खड़ा होकर ईश्वर अपनी कृपा का दर्शन कराता है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि ईश्वर की कृपा से अहंकार का विनाश होता है। इसका यही तात्पर्य है कि सारी बुराइयों के विनष्ट होने के बाद भी जो बुराई बची रहती है, वह अहंकार है। यह अहंकार इतना प्रबल है, इतना शक्तिशाली है कि बड़े-बड़ों को हरा देता है। दान के परशु से परशुराम ने भले ही सहस्त्रार्जुन की भुजाएँ काट लीं पर बाद में परशुरामजी के जीवन में भी तो अहं आ गया। इसीलिये कहा जाता है कि वे पूर्णावतार नहीं, आवेशावतार हैं।

तुलसीदासजी से किसी ने पूछा कि परशुराम तो थे ही, फिर राम क्यों आये ? उन्होंने कहा कि परशुरामजी एक नदी की तरह हैं। नदी का जल तरह-तरह से काम में आता है। उसमें स्नान कीजिये, उसके जल को पीजिये, उसमें वस्त्र स्वच्छ कीजिये किंतु जब उसी नदी में बाढ़ आती है तो वह जीवन देने के स्थान पर विनाश का संदेश लेकर आती है। गोस्वामीजी ने कहा, परशुरामजी का चरित्र नदी की तरह है पर उस नदी में जब अहंकार की बाढ़ आ गई तो भगवान् राम बाँध बनकर आये और बोले—महाराज, बस; इसके बाद अब आप रुकें। नदी की बाढ़ को रोकने के लिये जिस प्रकार बाँध या घाट बना दिया जाता है, उसी प्रकार परशुराम रूपी नदी के साथ हुआ। तुलसीदासजी कहते हैं—

घोर धार भृगुनाथ रिसानी। घाट सुबद्ध राम बर बानी॥
१।४०।४

तो, समाज के लिए केवल अंधकार ही समस्या नहीं है। अंधकार या बुराई के समान प्रकाश भी समाज के लिए एक समस्या है। अगर प्रकाश न हो तो कितना अँधेरा छा जायेगा ? पर यदि कोई तीव्र प्रकाश ले आये और हमारी आँखों पर फेंक दे तो उससे हमारी आँखें चौंधिया जावेंगी, और जैसे अंधकार में कुछ नहीं दिखाई देता है उसी प्रकार प्रकाश में भी कुछ नहीं दिखाई देगा। जहाँ अंधकार और प्रकाश एक ही परिणाम की सृष्टि करें वहाँ उस अंधकार को तो मिटाना ही होगा और साथ ही उस प्रकाश पर भी कोई आवरण चढ़ाना होगा जिसके केवल

इतनी चमक रह जाए जो लोगों को प्रकाश तो दे पर चौंधियावे नहीं।

परशुरामजी में इतनी चमक आ गई कि लोग चौंधिया उठे। तब मुस्कराते हुए भगवान् राम सामने आये। उन्होंने दोनों समस्याओं का समाधान किया। अधकार की समस्या को भी हल किया और प्रकाश की समस्या का भी समाधान किया। अंधकार की समस्या रावण है और प्रकाश की समस्या परशुराम। तभी तो भगवान् राम द्वारा धनुष तोड़े जाने पर जब परशुराम आये तो तुलसीदासजी से पूछा गया कि कौन आये ? वे बोले—

तेहिं अवसर सुनि सिवधनु भंगा। आयउ भृगुकुल कमल पतंगा॥
१।२६७।२

और भगवान् राम कौन हैं ?

उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग। १।२५४

—एक ही सभा में दो सूर्य हैं। एक सूर्य यथेष्ट नहीं था क्या ? क्या एक सूर्य द्वारा समस्या का समाधान नहीं हो सकता था ? इस संदर्भ में रामायण में प्रतीक रूप से अनेक संकेत दिए गये हैं। अंधकार की समस्या एक प्रतीक है तो जुगनू दूसरा प्रतीक, चंद्रमा और तारे तीसरा प्रतीक है तो सूर्य के प्रकाश का आधिक्य एक चौथा प्रतीक। इन प्रतीकों का जब निराकरण होगा तभी चरित्र में पूर्णता आएगी, अन्यथा इनमें व्यक्ति को कुछ नहीं दिखाई देगा। अंधकार में तो कुछ दिखता ही नहीं। जुगनू में चमक तो है पर वह दूसरों को प्रकाश देने के लिए नहीं है। भगवान् राम ने लक्ष्मण से कहा—

निसितम घन खद्योत बिराजा। जनु दंभिन्ह कर मिला समाजा॥
४।१४।६

निशि है; तम है, और साथ ही घन भी है। तुलसीदासजी के साहित्य का अपना एक रस है। निशि माने रात्रि, तम माने अंधकार और घन माने बादल। भला तीन शब्दों की क्या आवश्यकता थी ? कह देते कि रात में जुगनू चमक रहे हैं। पर जरा इसके मूल में जायें। निशि माने सूर्य का न होना। रात्रि में सूर्य नहीं होता। पर पूर्णिमा की रात्रि हो तो उसमें चंद्र का प्रकाश हो सकता है, इसीलिए निशि के साथ 'तम' शब्द और जोड़ दिया। अमावस्या की रात्रि में भले ही चंद्र न हो पर तारे

तो रहते ही हैं, अतएव कहा कि नहीं, बादल छा गये। जब सूर्य, चंद्रमा और तारे नहीं दिखाई दे रहे हैं तब जुगनू चमक रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि जुगनू प्रार्थना करता रहता है कि जगत् में सूर्य-चंद्रमा और तारे न निकला करें; बस हम ही चमकते रहें। इसका अर्थ यह है कि किसी व्यक्ति का सद्गुण यदि केवल आत्म-प्रदर्शन के लिये हो तो वह तो जुगनू वाली प्रवृत्ति है जिसके प्रकाश से किसी को लाभ होने वाला नहीं है। जुगनू तो अंधकार में केवल अपने आपको दिखाता है। तो, अंधकार के रूप में जिन व्यक्तियों का चरित्र है वे समाज के किसी काम के नहीं। जिनका चरित्र जुगनू के समान है—जिनमें कुछ गुरुत्व तो हैं लेकिन वह भी अपने आपको चमकाने के लिये—वे भी समाज के काम के नहीं हैं। तीसरा प्रतीक चंद्रमा और तारों का है जिसका वर्णन गोस्वामीजी ने धनुषयज्ञ के पहले किया है। भगवान् राम सोकर उठे और मुस्कराकर उन्होंने कहा कि लक्ष्मण, जरा बाहर की ओर देखना, सूर्य निकल आया है क्या ? लक्ष्मणजी ने बाहर की ओर देखा और कहा—प्रभो, एक सूर्य तो निकल आया है और दूसरा सूर्य कुछ घंटे बाद निकलने वाला है। यह नई बात है। क्या दो सूर्य निकलते हैं ? लक्ष्मणजी का तात्पर्य यह था कि भौतिक अंधकार को दूर करने वाला सूर्य तो निकल आया है पर जनकपुर में इस समय जो आध्यात्मिक अंधकार छाया हुआ है उसे दूर करने की आवश्यकता है।

लक्ष्मणजी का जो दर्शन है वह इतना ऊँचा है कि वे धनुष टूटने का संबंध राम विवाह से नहीं मानते। याद रखिये, सूर्य का काम सच्चाई को प्रकट करना है। लक्ष्मणजी का तात्पर्य यह था कि प्रभो, आपकी भुजा का सूर्य जब उदित होगा तभी तो इस धनुष के अहंकार का संहार होगा। जब तक आपकी भुजा के सूर्य का उदय नहीं होता तब तक जनकपुरवासी आध्यात्मिक अंधकार में पड़े रहेंगे। प्रभु ने कहा—लक्ष्मण, तुम यह कैसे कहते हो कि धनुष मैं ही तोड़ूँगा ? धनुष को तोड़ने के लिए सारे संसार के राजा आये हुए हैं। क्या कोई और उसे नहीं तोड़ सकता ? लक्ष्मण जी ने बड़ा सार्थक दृष्टांत दिया। उन्होंने कहा कि रात्रि में अंधकार को दूर करने के लिए आकाश में देखिये तो चंद्रमा और तारे मिलकर हजारों हैं फिर भी वे अंधकार को दूर नहीं कर पाते, जबकि दिन में अकेला सूर्य अंधकार पर विजय पा लेता है। रात्रि में हजारों तारे और चंद्रमा सच्चे मन से अंधकार पर विजय पाना नहीं चाहते। इनका तो अंधकार और

प्रकाश का समझौता है। क्या चंद्रमा या तारे सचमुच चाहते हैं कि अंधकार मिट जाये ? ये लोग जानते हैं कि अगर अंधकार मिट जायगा तो हम कहाँ चमकेंगे ? इसलिये ये चाहते हैं कि अंधकार बना रहे और हम लोग चमकते रहें। यही मुख्य समस्या है, जिसका अर्थ है प्रकाश और अंधकार का सह-अस्तित्व। व्यक्ति के जोवन में भो यही बात है। एक बड़े प्रसिद्ध वक्ता थे, किंतु वे अपना भाषण किसी को लिखने नहीं देते थे। वे कहते थे कि और लोग बोलने लगेंगे तो मेरी कथा कौन सुनेगा ? इसका अभिप्राय है—आधे में प्रकाश और आधे में अंधकार। डाक्टर रोगी की चिकित्सा करता है किंतु क्या वह चाहेगा कि रोग बिल्कुल रुक जावे ? वह यह तो चाहेगा कि रोगी अच्छे होते रहें पर यह नहीं चाहेगा कि रोग समाज से बिल्कुल ही उठ जाये। यह केवल डाक्टर की ही बात नहीं है; वकील भी न्याय की विजय तभी चाहेगा जब उसके पक्ष की या कहें उसके मुवक्किल की विजय हो। यदि दूसरे पक्ष की विजय हो तो उसे न्याय से कुछ लेना-देना नहीं है। हमारे समाज का जावन ऐसा ही है—आधे में प्रकाश और आधे में अधकार। मानो हमारा जोवन प्रकाश और अंधकार के समझौते पर ही निर्भर है। हम आधे मन से बुराई से लड़ते हैं और आधे मन से बुराई को बनाये रखना चाहते हैं। हम जानते हैं कि हमारी चमक बुराई के बने रहने पर है।

एक दानी जानता है कि भिखारी के रहने पर ही उसके दानीपन की ख्याति है इसलिए दान तो वह देता है—पर गरीबी नहीं मिटाना चाहता। भगवान् राम जब दान देते हैं तो यह ध्यान रखते हैं कि दूसरी बार दान न देना पड़े। भगवान् राम का दर्शन है–**जाचक सकल अजाचक कीन्हे।** (७।११।७) श्री राम को लगता है कि मेरे सामने अगर किसी को फिर से माँगने आना पड़ा तो देने की सार्थकता ही क्या है ? एक बार ऐसा दिया जाय कि दुबारा देने की आवश्यकता ही न रहे। इसके विपरीत संसार का दानी सोचता है कि बार-बार दो; थोड़ा-थोड़ा दो जिससे याचक बार-बार धन्यवाद दे, बार-बार सिर झुकाये। एक ही बार दे दिया और लेने वाला पाकर हमको भूल गया तो देने का मतलब क्या रहा ? अधिकांश लोगों के लिये सद्गुणों का रूप ऐसा ही है।

लक्ष्मणजो का व्यंग्य यह था कि प्रभो, जनकपुरी में जितने राजा आये हुए हैं, उनमें धनुष तोड़ने कोई नहीं आया है। सब सीताजी को पाने आये हुए हैं। और उन सबकी मनःस्थिति प्रकट भी हो गई, क्यों

कि ज्यों ही जनकजी के बंदी ने आकर कहा कि जो धनुष तोड़ेगा उसे सीताजी मिलेगी त्योंही एक राजा तेजी से धनुष की ओर चला। **'चले इष्टदेवन्ह सिर नाई'** (१।२४९।६)—वह गणेशजी से कहने लगा—महाराज, धनुष तुड़वा दीजिये। पर गणेशजी का वह अकेला भक्त थोड़े ही था, वहाँ तो गणेशजी के हजारों भक्त थे। वे सब कहने लगे कि महाराज, इससे धनुष न टूटने पावे। इसका अर्थ यह है कि राजा लोग चाहते हैं धनुष टूटे तो मुझी से टूटे और किसी से न टूटे। अंधकार मिटाने का श्रेय मिले तो हमें ही मिले, वरना अंधकार बना रहे इसी में कल्याण है। हम बुराई के प्रति इसी प्रकार की दृष्टि रखते हैं, जो कि घातक है।

नृप सब नखत करहिं उजियारी। टारि न सकहिं चाप तम भारी॥
१।२३८।१

यह राजा को गणेशजी की प्रार्थना कर धनुष उठाने गया था, जब असमर्थ होकर लौटा तो वह गणेशजी से प्रार्थना करने लगा कि आपने मुझसे धनुष नहीं तुड़वाया तो दूसरे से भी न तुड़वाइयेगा! इतने से ही प्रसन्न हो जाऊँगा कि किसी को सफलता तो नहीं मिली। तात्पर्य यह है कि अंधकार ही अकेली समस्या नहीं है।

महाराष्ट्र के एक बड़े प्रसिद्ध ज्योतिषी काटवे हुए हैं। उन्होंने एक बड़ी सुंदर बात लिखी है। ज्योतिष शास्त्र में ग्रहों का उच्च और नीच स्थान माना जाता है। सामान्यतः मान्यता यह है कि जिसकी कुंडली में उच्च का ग्रह होता है वह व्यक्ति अधिक सफल होता है और जिस व्यक्ति की कुंडली में नीच का ग्रह हो वह अपेक्षाकृत कम सफल होता है। पर उन्होंने एक बड़ी व्यावहारिक बात लिखी है। उन्होंने सूर्य का दृष्टांत दिया। सूर्य की उच्च राशि है मेष तथा उसकी नीच राशि है तुला। मेष राशि का सूर्य ज्येष्ठ मास में प्रबल गर्मी के दिनों में होता है और तुला राशि का सूर्य कार्तिक महीने में होता है। उन्होंने कहा, यह तो ठीक है कि ज्येष्ठ माह के सूर्य में जितना प्रकाश होता है वह कार्तिक में नहीं होता पर ज्येष्ठ के सूर्य को पसंद कौन करता है? सब लोग इस तप्त सूर्य से भागते हैं, कमरा बंद कर लेते हैं कि देखना न पड़े तो अच्छा। इसके विपरीत, कार्तिक में सूर्य का प्रकाश भले ही कम हो पर प्रत्येक व्यक्ति तब यही चाहता है कि उसके प्रकाश से हम अपने शीत का निवारण कर लें। इसी प्रकार जिस व्यक्ति की कुंडली में उच्च का सूर्य होता है उससे

लोग घबराते हैं और जिसकी कुंडली में तुला राशि का सूर्य होता है वह लोकप्रिय होता है।

यही बात मैं यहाँ कहना चाहूँगा। परशुरामजी सूर्य तो हैं पर ज्येष्ठ महीने के मध्याह्न के सूर्य हैं। भगवान् राम भी सूर्य हैं पर इनके सूर्यत्व में अंतर है। तुलसीदासजी कहते हैं—**उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग**।—भगवान् राम प्रातःकाल के शीतकालीन सूर्य हैं जिसके उदय होने पर चारों ओर कमल खिल गये और भौंरे मँडराने लगे और जब बारह बजे वाला ज्येष्ठ माह का सूर्य आया। (यानी परशुरामजी आये) तब जितने राजा लोग थे वे अपना और अपने पिता का नाम ले-ले कर उन्हें प्रणाम करने लगे—

पितु समेत कहि कहि निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा॥
जेहि सुभायँ चितवहिं हितु जानी। सो जानइ जनु आइ खुटानी॥

१।२६८।२-३

—परशुरामजी जिसकी ओर प्रेम से देख लेते हैं वह समझता है—अब गये प्राण; ये न देखे तो ही अच्छा है। इसका मतलब यह है कि जहाँ प्रकाश का अतिरेक होगा वहाँ अहं के प्रदर्शन की बात आ जायगी। रावण समाज की एक समस्या है, लेकिन उसके पूर्वविजेता सहस्रार्जुन और बालि इस समस्या का समाधान नहीं दे सके। औरों की बात ही क्या, स्वयं परशुराम भी इस समस्या का समाधान नहीं दे पाये। क्यों? इसलिये कि परशुरामजी में क्रोध, आवेश और प्रदर्शन की प्रवृत्ति आ गई है। आमने-सामने दो राम खड़े हैं, लेकिन दोनों में अंतर क्या है?

विश्वामित्रजी ने भगवान् राम से कहा कि चलो, परशुरामजी के चरणों में प्रणाम करो और वे तुरन्त तैयार हो गये। यह ध्यान रखियेगा कि विश्वामित्र एवं वसिष्ठ ने मिलकर भगवान् राम को एक उपाधि प्रदान की। दोनों ने भगवान् राम के लिये एक शब्द कहा—'सेतु'। विश्वामित्र ने भगवान् राम से कहा—

धरम सेतु पालक तुम्ह ताता। प्रेम बिबस सेवक सुखदाता॥

१।२१७।८

—और वसिष्ठजी ने अयोध्याकांड में कहा—**धर्म सेतु करुनायतन**। प्रश्न उठता है कि वसिष्ठ और विश्वामित्र दोनों ने श्रीराम को सेतु क्यों

बताया ? आपने देखा होगा कि नदी के दो किनारे आमने-सामने होकर भी एक-दूसरे से नहीं मिल पाते, और यदि मिलते भी हैं तो पुल के सहारे। वसिष्ठ और विश्वामित्र, श्रीराम के अवतरण के पूर्व, दो किनारों की तरह थे। यदि राम के रूप में दयासेतु न आता तो ये दोनों महापुरुष भी न मिल पाते। इसका अभिप्राय यह है कि राम ने दो अपूर्णताओं को मिलाकर पूर्णता की सृष्टि की। विश्वामित्र और वसिष्ठ का मिलन श्रीराम की कृपा से ही हुआ। विश्वामित्रजी ने मन ही मन सोचा कि अब जरा परशुराम की भी अपूर्णता को दूर करा दें।

परशुरामजी की मान्यता थी कि मैं बड़ा हूँ, क्योंकि मुझे सब प्रणाम करते हैं। प्रश्न यह है कि बड़ा कौन है। जिसे सब प्रणाम करते हैं वह, या जो सबको प्रणाम करता है वह ? यहीं परिभाषा में अंतर आ गया। परशुराम के चरणों में तो प्रत्येक व्यक्ति प्रणाम कर रहा है; भगवान् राम ने भी आकर परशुराम के चरणों में प्रणाम किया। यहाँ अंतर यही है कि जो व्यक्ति यह मानकर चलेगा कि जो सबको झुका दे वही बड़ा है, उसके बड़प्पन की परिभाषा पूर्ण नहीं है। बड़ा वह नहीं जिसके बड़प्पन से लोग दब जायँ ! बड़ा तो वह है जिसके बड़प्पन को पाकर छोटा भी बड़ा हो जाय। इसका अर्थ यह हुआ कि दूसरे को बड़प्पन न देने के दो ही कारण होंगे। या तो बिचारे के पास होगा ही नहीं, या वह बहुत कृपण होगा। जो व्यक्ति दूसरों को बड़प्पन देता है उसका यही अर्थ है कि उसमें बड़प्पन इतनी अधिक मात्रा में है कि बाँटने पर भी कम होने की संभावना नहीं। परशुरामजी दूसरों को बड़प्पन देने में बड़े कृपण हैं, पर भगवान् राम ? वे तो आकर परशुरामजी के चरणों में सादर प्रणाम करते हैं। दोनों का पार्थक्य कहाँ है इसको यदि जान लें तो परशुरामजी रावण का वध करके रावणत्व का विनाश क्यों नहीं कर सकते, इसका मूल संकेत यहीं पर प्राप्त हो जाता है। परशुराम पहले पूछते हैं कि धनुष किसने तोड़ा ? अब कौन बोले कि धनुष किसने तोड़ा ? जनकपुरवासी डर के मारे काँप रहे हैं। भगवान् राम ने हाथ जोड़कर कहा—

नाथ संभु धनु भंजनिहारा। होइहि केउ एक दास तुम्हारा॥
१।२७०।१

—महाराज, शंकरजी का धनुष तोड़नेवाला कोई आपका दास रहा

होगा। इतना घुमाकर बोलने की भला क्या आवश्यकता थी ? सीधे कह देते कि मैंने ही तोड़ा है। पर यही तो अंतर है भगवान् राम और परशुराम में। भगवान् राम के चरित्र की मूल पूँजी क्या है ? परशुरामजी ने आगे चलकर कहा कि राम, मुझे लगता है धनुष तोड़ने के बाद तुम्हें अवश्य ही अहंकार हुआ होगा। भगवान् राम ने इसका बड़ा ही सुन्दर उत्तर दिया। कहा—भगवान्, यदि मैंने धनुष तोड़ा होता तो अहंकार अवश्य होता। कर्ता कर्म करे और अहंकार न हो भला यह कैसे हो सकता है ? पर—

छुअतहिं टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करौं अभिमाना॥

१।२८२।८

—धनुष पुराना था, छूते ही टूट गया तो इसका क्या अभिमान करूँ। कोई दीवाल या किला पुराना हो और संयोग से कोई व्यक्ति उसके पास पहुँचे और हाथ लगाते ही पुरानी दीवाल ढह जाये तो क्या हमें गर्व से घोषणा करनी चाहिये कि मेरी भुजा में इतनी शक्ति है कि वह दीवालों को भी ढहा सकती है ? बुद्धिमान व्यक्ति ऐसी बात करने में संकोच करेगा। भगवान् राम ने कहा—महाराज, जो वस्तु है उसे एक न एक दिन मिटना है। यह तो संयोग की बात है कि अन्य राजा समय के पहले गये और मैं गुरुजी के द्वारा उसी समय भेज दिया गया जब धनुष टूटनेवाला था। अतः वस्तुतः श्रेय मुझे नहीं है, यह तो नाशवान वस्तु का अपना ही विनाश है। इसका तात्पर्य क्या ? भगवान् राम में कर्म है पर कर्तृत्व नहीं है, जबकि परशुरामजी में कर्म के साथ कर्तृत्व आ गया है। 'मैं' करनेवाला हूँ—यह बात परशुरामजी के चरित्र में आ गई थी। इसीलिये भगवान् राम भूतकाल की बात कहते हैं—धनुष तोड़नेवाला आपका कोई दास रहा होगा। इसका अर्थ यह है कि जब धनुष था तब तोड़नेवाले की आवश्यकता थी, अब धनुष टूट गया तो तोड़नेवाला भी चला गया। बस, जीवन की यही कला है ! भगवान् राम में चरित्र की दृष्टि से यही बहुत बड़ी बात है। जितने समय तक जो काम कीजिये, बस उतने समय के लिये वैसे बन जाइये और उसके बाद उसे छोड़ दीजिये। न्यायाधीश न्याय के आसन पर बैठकर न्यायाधीश रहेगा तो ठीक रहेगा, पर घर में पत्नी के सामने भी अगर न्यायाधीश बना रहेगा तो गड़बड़ हो जायगी। घर में तो उसे पति हो रहना चाहिये, बेटे के सामने उसे पिता

ही रहना चाहिये। भगवान् राम का तात्पर्य यह था कि जब धनुष था तो तोड़ दिखानेवाले की जरूरत थी। वह टूटा और तोड़नेवाला गया।

नाटक में कोई व्यक्ति हरिश्चंद्र बना। एक व्यक्ति को वे हरिश्चंद्रजी बड़े पसंद आ गये। दूसरे दिन पता लगाते हुए उनके घर जा पहुँचे। रात्रि में जिस वेशभूषा में रंगमंच पर हरिश्चंद्रजी थे वे अपने घर पर उन वस्त्रों में नहीं थे। ये जाकर उनसे पूछने लगे कि हरिश्चंद्रजी कहाँ हैं? जवाब मिला कि वे तो गये। कब आवेंगे? तो उत्तर मिला, जब वह नाटक फिर खेला जायगा तब आवेंगे। यही जीवन की कला है। परशुरामजी इस कला से अनभिज्ञ हैं। परशुरामजी जो एक बार बन गये सो सदा बने रहे। भगवान् राम ने धीरे से कहा—महाराज, हममें और आपमें क्या बराबरी हो सकती है? परशुरामजी ने कहा—या तो तुम अपना 'राम' नाम छोड़ दो या मुझसे लड़ो। भगवान् राम ने कहा—

हमहि तुम्हहि सरिबरि कस नाथा।
कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा॥
राम मात्र लघु नाम हमारा।
परसु सहित बड़ नाम तुम्हारा॥

१।२८१।५।६

इसके साथ ही एक वाक्य प्रभु ने बड़ा अनोखा कहा—

देव एक गुनु धनुष हमारें। नव गुन परम पुनीत तुम्हारें॥

१।२८१।७

—महाराज, मुझमें तो कोई गुण ही नहीं है जबकि आपमें नौ गुण हैं। यह भाषा कैसी है? —ऊपर से स्तुति और भीतर से सैद्धांतिक दर्शन! भगवान् कहते हैं कि मुझमें गुण का अभाव है। और यही तो ईश्वर की विशेषता है। ईश्वर स्वदृष्टि से निर्गुण है और भक्तों की दृष्टि से सगुण। यदि वह स्वदृष्टि से सगुण हो जायगा तो वह भी बंधन में बँध जायगा। अब प्रश्न यह है कि बिना गुण के व्यवहार चलेगा कैसे? प्रभु ने मुस्कुराकर धनुष की डोरी की ओर संकेत किया कि मुझमें तो कोई गुण है नहीं, पर यदि गुण चाहिये तो मेरे पास यही एक गुण (धनुष की डोरी) है! संस्कृत में 'गुण' शब्द का प्रयोग रस्सी के लिये भी करते हैं।

रामायण में हम देखते हैं कि भगवान् राम को जब लड़ना होता है

तब वे धनुष की डोरी चढ़ा लेते हैं और जब लड़ाई खत्म हो जाती है तो वे डोरी उतार लेते हैं। मानो प्रभु का व्यंग्य था कि महाराज, यह गुण चढ़ा ही नहीं रहता, काम होते ही वह उतर जाता है। वह तो आपका फरसा ही है कि जो चढ़ना ही जानता है, उतरना नहीं। फरसा जो चढ़ा तो चढ़ा। गुण के बाद जो गुणीपन का अहंकार चढ़ा तो 'मैं गुणी हूँ', 'मैं श्रेष्ठ हूँ', 'मैं दानी हूँ' की भावना घर कर लेती है। परशुरामजी हमेशा याद दिला देते हैं कि मैंने यह किया, वह किया आदि। भगवान् राम कहते हैं—महाराज, मेरे पास गुण हैं कहाँ; गुण तो आपके पास ही विद्यमान हैं। इसके पश्चात् अंतिम परिणति तब होती है जब भगवान् श्रीराम परशुराम के समक्ष परीक्षा में सफल होते हैं।

श्रीराम और परशुराम के बीच हथियार का युद्ध नहीं है, वह प्रकाश और प्रकाश का संघर्ष है। परशुराम बार-बार कहते हैं—उठाओ शस्त्र! श्रीराम कहते हैं—नहीं महाराज, शस्त्र भला क्यों! तब परशुरामजी कहते हैं—

राम रमापति कर धनु लेहू। खैंचहु मिटै मोर संदेहू ॥ १।२८३।७

—राम, मेरे पास विष्णु का यह धनुष है; शंकर का धनुष तुमने तोड़ दिया, अब विष्णु का धनुष चढ़ा दो। यह तो पूरा अध्यात्म है। शंकर का धनुष जो तोड़ सके और विष्णु का धनुष जो चढ़ा सके वही अवतार है। परशुरामजी बोले—आधी परीक्षा तो हो गई, आधी और। तब एक विचित्र बात हुई जब परशुराम ने अपने कंधे से धनुष उतारा और भगवान् राम की ओर बढ़ाया तो भगवान् ने हाथ आगे नहीं बढ़ाया। परशुराम को लगा कि ये हाथ आगे क्यों नहीं बढ़ा रहे हैं? पर वहाँ मानो संकेत यह था कि आप ईश्वर की परीक्षा तो लेना चाहते हैं किंतु ईश्वर जिज्ञासा का विषय हो सकता है, परीक्षा का नहीं। परीक्षक के विद्यार्थी से अधिक योग्य होने पर ही तो उसके प्रमाणपत्र का मूल्य है। पहली कक्षा का छात्र अपने आचार्य को प्रमाण दे कि आप आचार्य हैं तो क्या यह सही होगा? क्या जीव ईश्वर को प्रमाणपत्र दे सकता है? अपूर्ण का पूर्ण को प्रमाणपत्र देना क्या उचित है और क्या इसे प्रामाणिक माना जायगा? प्रभु मुस्कुराये; उन्होंने हाथ नहीं बढ़ाया और एक नई बात हुई!

देत चापु आपुहिं चलि गयऊ। परसुराम मन बिसमय भयऊ॥
१।२८३।८

—परशुराम के हाथों से धनुष निकला और भगवान् राम के हाथों में अपने आप चला गया। मानो परशुराम के जीवन में सत्य का प्रकाश हो गया। परशुराम कहते थे—धनुष बिना तोड़े कैसे टूटेगा ? भगवान् राम ने दिखा दिया कि जैसे बिना खींचे धनुष खिचा चला आया वैसे बिना तोड़े ही धनुष टूट गया। अर्थात् कर्म बंधनमुक्त होता है। जो व्यक्ति यह मानता है कि कर्तृत्व हुए बिना कर्म नहीं होता वह सत्य को नहीं जानता। कर्तृत्व छोड़कर जो कर्म होगा वही शक्ति को बंधन से मुक्त करेगा। जब धनुष परशुरामजी को छोड़कर जाने लगा तो परशुरामजी ने कहा—अरे भाई, जरा परीक्षा हो जाने देते, मुझे छोड़कर क्यों जा रहे हो ? धनुष ने कहा—ये तो मेरे बिना भी पूर्ण हैं पर मैं इनके बिना अधूरा हूँ। इसीलिए मेरा जाना आवश्यक है। साथ-साथ धनुष ने यह संकेत भी दे दिया कि महाराज, दूसरे के अनुभव से लाभ उठाना चाहिये। एक धनुष खींचने पर अकड़ा तो टूट गया, तो मैं भी क्या अब टूटकर ही मानूँ ! अपने आप झुक जाने में, समर्पित हो जाने में कल्याण है। परिणाम यह होता है कि परशुरामजी समर्पित होते हैं और उसके पश्चात्—

कहि जय जय जय रघुकुल केतू। भृगुपति गये बनहिं तप हेतू॥
१।२८४।७

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज की जो समस्या है—अंधकार से लेकर प्रकाशाधिक्य तक की—सभी का समाधान लेकर भगवान् श्रीराम आते हैं। उनका संघर्ष किसी व्यक्ति के विरुद्ध न होकर हमारे जीवन की शाश्वत समस्याओं के खिलाफ है। प्रभु ने यह कार्य कैसे किया इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

तीसरा व्याख्यान समाप्त

चौथा व्याख्यान

रामचरितमानस में गोस्वामीजी ने भगवान् राम के चरित्र को एक व्यक्ति या मनुष्य के चरित्र के रूप में प्रस्तुत नहीं किया है। उनकी यह सुदृढ़ स्थापना है कि श्रीराम ईश्वर हैं और इसीलिये व्यक्ति भगवान् श्रीराम के द्वारा अपने जीवन की समस्याओं का समाधान पा सकता है, फिर वे जैसी भी समस्याएँ हों। स्वभावतः मनुष्य देश, काल और व्यक्तित्व की सीमाओं से घिरा होता है और उसके द्वारा जो समाधान प्राप्त होते हैं वे भी सीमाओं से युक्त होते हैं। इसलिये गोस्वामीजी ने हमें किसी मनुष्य का चरित्र नहीं, प्रत्युत ईश्वर का चरित्र दिया जिसका मनुष्य की पूर्णता के लिये नितान्त प्रयोजन है। इसी संदर्भ में कल कथा की समाप्ति जहाँ हुई थी वहाँ से हम आगे विचार करेंगे। समाज में कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिन्हें हम अंधकार के प्रतीक के रूप में देखते हैं, भले ही किसी परिस्थिति विशेष के कारण वे प्रकाश से अंधकार में परिणत हो जाते हैं। श्रेष्ठ से श्रेष्ठ व्यक्ति के मन में भी किस प्रकार बुराई का उदय हो जाता है इसके अनगिनत दृष्टांत गोस्वामीजी ने रामायण में दिये हैं। हम कह चुके हैं कि कुछ व्यक्ति अंधकार के समान होते हैं, कुछ जुगनू की तरह और कुछ चंद्रमा एवं तारों की तरह। इसे यदि हम शास्त्रीय भाषा में व्यक्त करें तो इन तीनों को तमोगुणी, रजोगुणी, और सत्त्वगुणी व्यक्ति कह सकते हैं। तमोगुणी व्यक्ति अंधकार का प्रतिनिधित्व करता है। रजोगुणी जुगनू के समान प्रकाश तो धारण करता है, पर उस प्रकाश का उद्देश्य केवल अपने को चमकाना है। सत्त्वगुणी चंद्रमा और तारों के समान प्रकाश के दोनों उपयोग करता है। वह प्रकाश का वितरण दूसरों को करता तो है पर साथ ही उसमें कहीं न कहीं अपने को चमकाने या प्रदर्शित करने की मनोवृत्ति विद्यमान होती है। जुगनू केवल

अपने को चमकाने के लिये ही प्रकाश को सामने लाता है। जुगनू की चमक में व्यक्ति को कुछ भी दिखाई नहीं देता, पर चंद्रमा के साथ ऐसी बात नहीं है। चंद्र के प्रकाश से व्यक्ति को आनन्द की अनुभूति होती है। पर चंद्रमा और तारों के साथ अंधकार का सह-अस्तित्व भी है। इस प्रकार ये तीन प्रतीक तमोगुणी, रजोगुणी और सत्त्वगुणी व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। गोस्वामीजी ने जनकपुर से धनुष टूटने से पहले और धनुष टूटने के बाद जो चित्र प्रस्तुत किया है उसमें वे एक चौथे प्रकार के व्यक्ति की ओर कल्पना करते हैं। वह व्यक्ति कोई सामान्य व्यक्ति नहीं है। उसे वे कहते हैं—भगवान् का आवेशावतार; पूर्णावतार नहीं।

परशुरामजी सूर्य के समान है किंतु सूर्य का प्रकाश यदि आवश्यकता अधिक हो जाय और उसमें प्रकाश की अपेक्षा ताप की मात्रा अधिक हो जाय तो स्वाभाविक रूप से वह संसार के लिये कल्याणकारी नहीं रह जाता। भगवान् राम के अवतार की पृष्ठभूमि क्या है, आप उसे इस संदर्भ से अच्छी तरह समझ सकते हैं। भगवान् राम के अवतार-काल में ऐसा नहीं है कि श्रेष्ठ व्यक्तियों की कोई कमी रही हो। उस समय परशुराम जैसा शक्तिशाली एक अवतार विद्यमान था ही। फिर वसिष्ठ और विश्वामित्र जैसे महान् ऋषि भी थे जिनकी क्षमता और तपस्या का पुराणों में बड़ा विस्तृत वर्णन है। महाराज श्री दशरथ जैसे सुयोग्य शासक भी थे और महाराज श्री जनक जैसे महान् विचारक भी। किन्तु इन सबके होते हुए भी समाज की समस्या का हल नहीं हो रहा था। वह क्यों नहीं हो रहा था और भगवान् श्रीराम ने अवतार लेकर उसे कैसे संपन्न किया, इसे दो-तीन सूत्रों के माध्यम से प्रकट किया जा सकता है। पहली बात तो यह है कि भगवान् राम के अवतार के पहले दुर्गुण संगठित हैं और सद्गुण एक-दूसरे से पृथक्। और यह तो समाज का शाश्वत सत्य है। अंतरंग और बहिरंग दोनों जीवन का यही सत्य है कि जब सद्गुण संगठित न हों और दुर्गुण संगठित हो जावें, या यों कहें कि व्यावहारिक जीवन में अच्छे विचार वाले एकता के सूत्र में आबद्ध न हो सकें और बुरे विचार वाले संगठित हो जावें, तो उसका परिणाम यह होगा कि अच्छे विचार असंगठित रह कर अपनी शक्तिमत्ता खो बैठेंगे और बुरे विचार संगठित होकर शक्तिशाली हो जायेंगे। फिर ये बुरे विचार अपनी शक्ति के बल पर अधिकार हासिल कर लेंगे और उस परिस्थिति

में अच्छे विचार चाह कर भी कुछ नहीं कर पायेंगे। तो, रामचरितमानस में आपको जो क्रम दिखाई देता है वही व्यावहारिक जीवन में भी बहुधा दीख पड़ता है। सद्गुणों में या सद्विचार वाले व्यक्तियों में संगठन क्यों नहीं होता और दुर्गुण या बुरे विचार वाले व्यक्ति सरलता से संगठित क्यों हो जाते हैं, यदि इस प्रश्न पर आप मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो इसके पीछे एक रहस्य मिलेगा। वह क्या ? दुर्गुणों में परस्पर प्रदर्शन करने की होड़ नहीं है और सद्गुणों के मूल में बहुधा प्रदर्शन करने की प्रवृत्ति होती है। देखिये, बात बड़ी विचित्र सी लगती है, पर इसका तात्पर्य यह है कि सद्गुण को समाज में सम्मान तब प्राप्त होता है जब वह दिखाई दे, और दुर्गुण की समस्या यह है कि वह अपने को प्रदर्शित करके सम्मान पा नहीं सकता। अतएव दुर्गुण की सफलता उसके गोपन में है और सद्गुण का सम्मान उसके प्रत्यक्षीकरण में है। अब जरा सोचिये कि संगठन के लिये आवश्यक क्या है ?

प्रत्येक व्यक्ति के अपने को विलीन करने में ही संगठन की सफलता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने को ही अगुआ या नेता बनाना चाहे तब तो संघर्ष होना स्वाभाविक है। तो, इसे दुर्गुणों की लाचारी कह लीजिये या प्रकृति, कि वे कभी भी प्रदर्शित होकर सफल नहीं हो पाते। और शायद यही उनकी सबसे बड़ी दुर्बलता भी है और सबसे बड़ी सफलता भी। इसका अर्थ यह है कि असत्य समाज में बहुधा सफल हो जाता है लेकिन उसकी लाचारी या दुर्बलता यह है कि असत्य भी अपने आपको सत्य के नाम पर चलाता है, असत्य के नाम पर नहीं। कोई असत्य बोलने वाला भी जब व्यवहार करेगा तो इस बात का ध्यान रखेगा कि सामनेवाला उसको सत्यवादी माने, उसके असत्य को सब लोग सत्य ही समझकर ग्रहण करें। दूसरी विचित्र बात यह है कि प्रत्येक असत्यवादी जो दूसरों से भले असत्य का व्यवहार करे, अपने लिये सर्वदा सत्य ही चाहता है, क्योंकि उसे ज्ञात है कि असत्य नकली सिक्का है और सत्य असली सिक्का। तो, नकली सिक्का चलाने वाला व्यक्ति भी बदले में असली सिक्का ही चाहता है; यह स्वाभाविक सी बात है। बड़ा व्यंग्यात्मक चित्र आता है रामचरितमानस में, भगवान् राम को देखकर सती के हृदय में संशय हो गया। दंडकारण्य में उन्हें विलाप करते देखकर सती को लगा, जो व्यक्ति पत्नी के वियोग में रुदन कर रहा है वह ईश्वर कैसे होगा ? भगवान् शंकर ने सती को समझाने की चेष्टा की,

पर सती न समझीं। शंकरजी ने कहा, अच्छा यदि तुम्हारे हृदय में इतना संदेह है तो जाकर परीक्षा ले लो। वस्तुतः भगवान् शंकर राम की परीक्षा लेना नहीं चाहते थे, वे तो इस वाक्य के द्वारा सती की ही परीक्षा ले रहे थे कि सती की मनःस्थिति क्या है। जब उन्होंने सती से यह कहा कि जाकर परीक्षा ले लो तो यदि सती सजग होतीं तो कहतीं, प्रभो, ईश्वर की क्या परीक्षा होगी ? याद रखिये, ईश्वर जिज्ञासा का विषय हो सकता है, परीक्षा का नहीं। जिज्ञासा में भी प्रश्न किया जाता है और परीक्षा में भी, पर दोनों में अंतर है। एक विद्यार्थी जब गुरु से प्रश्न करता है तब वह जिज्ञासु है, और जब एक गुरु शिष्य से प्रश्न करता है तब वह परीक्षा है। जिज्ञासु को ज्ञात है कि जो हम नहीं जानते वह पूछकर जानेंगे। गुरु जब पूछता है तब वह यह मानकर पूछता है कि मैं तो जानता हूँ पर सामने वाले की योग्यता को देखूँगा कि वह यह जानता है या नहीं। भगवान् शंकर ने सती से कहा, जाकर ईश्वर की परीक्षा ले लो, तो सच में यदि सती में आस्तिक प्रवृत्ति होती तो कह देतीं कि महाराज, ईश्वर की परीक्षा मैं क्या लूँगी, मेरे मन में तो जिज्ञासा है। पर ऐसा न कर वे तुरंत परीक्षा लेने के लिए चल पड़ीं और तभी भगवान् शंकर ने निर्णय कर लिया कि—**'बिधि बिपरीत भलाई नाहीं'** (१।५१।६)—जब ईश्वर की परीक्षा के लिये यात्रा हो रही है तब इनका कल्याण नहीं होगा। इसीलिये बड़ा व्यंग्यात्मक वर्णन तुलसीदासजी ने किया है—जब सतीजी भगवान् राम के पास पहुँचीं तो भगवान् राम ने उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया—**'जोरि पानि प्रभु किन्ह प्रनामू'** (१।५२।७)। भगवान् राम का तात्पर्य यह था कि यदि आप जिज्ञासु होकर आतीं तो स्वयं प्रणाम करतीं पर जब परीक्षक बन कर आई हैं तो विद्यार्थी को ही प्रणाम करना चाहिये। इसीलिये भगवान् राम ने—**जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू, पिता समेत लीन्ह निज नामू ॥'**—हाथ जोड़कर कहा कि मैं दशरथ का पुत्र राम आपको प्रणाम करता हूँ। उसके पश्चात् सती का भ्रम टूटा और लौट आई। भगवान् शकर ने आश्चर्य से उन्हें देखा और पूछ लिया—**'लीन्हि परीक्षा कवन विधि कहहु सत्य सब बात'** (१।५५)—तुमने कैसे परीक्षा ली, सही-सही सब बताओ। शंकरजी चकित थे कि अनादिकाल से अब तक मैं जो साहस नहीं कर पाया, वह सती ने किस प्रकार किया ? उन्होंने जिस विधि से परीक्षा ली होगी वह तो मेरे लिये भी जानने का विषय है।

सती असत्य बोल गईं। बोलीं—**'कछु न परीक्षा लीन्ह गोसाईं।'** बात यह है कि जब सतीजी ईश्वर को ईश्वर समझ गईं तो उन्हें लज्जा आने लगी कि देखो तो, मैं ईश्वर की परीक्षा लेने चली थी ! इसलिये शंकर-जी से कह दिया कि महाराज, मैंने कोई परीक्षा नहीं ली—**'कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहि नाईं'**—आपने जरा दूर से प्रणाम किया था, मैंने पास जाकर प्रणाम कर लिया। शंकरजी ने ध्यान लगाकर देखा और समझ गये कि सती ने क्या किया है। इसके पश्चात् शंकरजी ने मन में एक संकल्प किया। यह बड़ा सूक्ष्म विश्लेषण है। सत्य और अहंकार इतने निकट हैं कि समाज में बहुधा लोग सत्य के नाम पर अहंकार प्रदर्शित किया करते हैं। यह एक बड़ी बिचित्र बात है और इसीलिये सच्चे धर्म का समाज में प्रसार नहीं हो पाता। अधिकांश समाज ने धर्म के नाम पर जिसको स्वीकार कर लिया है वह धर्म का प्रतिरूप नकली सिक्का है, और वही आज बाजार में चल रहा है। शंकरजी में यदि सत्य का अतिरेक होता और साथ ही अहंकार भी होता, अथवा सत्य एव अहंकार यदि वहाँ एकार्थक बन गये होते तो तुरन्त शंकरजी अपनी पत्नी को फटकारना प्रारंभ कर देते कि तुम तो झूठी हो और तुमने मुझसे असत्य भाषण किया है, मैं तो तुम्हें दंड दूँगा। पर शंकरजी में सत्य है, अहं-कार नहीं है। नेत्र मूँदकर देखा—**'तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सबु जाना।।'** लेकिन—

बहुरि राम मायहि सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहिं झूँठ कहावा।।
हरि इच्छा भावी बलवाना। हृदय बिचारत संभु सुजाना।।
१।५५।४-६

यह सत्य का सच्चा रूप है जो शील का अतिक्रमण नहीं करता। अपने प्रदर्शन की उसमें व्यग्रता नहीं है। और अंत में भगवान् शंकर को एक कठोर निर्णय भी करना पड़ा—**'एहिं तन सतिहि भेट मोहि नाहीं।'** फिर भी उन्होंने वाणी के द्वारा उसे प्रकट नहीं होने दिया। शिवजी का अभिप्राय यह था कि मेरे व्रत की रक्षा भी हो जाय और सामने वाले को पीड़ा भी न पहुँचे। अधिकांश सत्यवादी यह चाहते हैं कि जब तब सामने वाले को टोंचा न जाये, पीड़ा न पहुँचाई जाये तब तक सत्य सत्य के रूप में माना ही नहीं जावेगा। मानो प्रत्येक व्यक्ति अपने को सत्यवादी सिद्ध करने के लिए कड़ुवा बोलना आवश्यक मानता है, जिससे लोग समझें कि

भाई, वह है बड़ा सत्यवादी। जब कड़ुवाहट और सत्यवादिता पर्याय-वाची बन जायें तो मुश्किल तो होती ही है। पर शिवजी तो शिवस्वरूप हो हैं इसलिये उन्होंने मन में संकल्प तो कर लिया लेकिन सती से कुछ नहीं कहा। वे निर्णय तो कर लेते हैं कि इस शरीर से अब सती से मिलन नहीं होगा पर शीलवान इतने हैं कि वाणी के द्वारा उसे प्रकट नहीं होने देते। उनमें सत्य और शील दोनों का समन्वय है। फिर आकाशवाणी भी होती है कि—**"अस पन तुम्ह बिनु करइ को आना'**—धन्य हैं महेश आप, आपको छोड़कर ऐसा प्रण भला कौन कर सकता है? सती को उस आकाशवाणी से पता चला कि शंकरजी ने कोई व्रत लिया है? पूछने लगीं—महाराज, आपने कौन-सी प्रतिज्ञा की है, कौन-सा व्रत लिया है? और कैसा मनोवैज्ञानिक व्यंग्य है? सतीजी भगवान् शंकर से कहती हैं —**'कीन्ह कवन पन कहहु कृपाला। सत्यधाम प्रभु दीनदयाला।**।—सच सच बताइये कि आपने कौन-सा प्रण किया है। झूठ बोलने वाला भी दूसरे से यही आशा करता है कि हमसे तो सत्य ही बोला जाये!

सत्य की यही महानता या विशिष्टता है कि असत्य को भी अपने को चलाने के लिए सत्य का भेष बनाना पड़ता है और असत्यवादी भी स्वयं के लिए असत्य नहीं चाहता, सत्य ही चाहता है। पर यह एक जटिल प्रश्न है कि सद्‌गुण के मूल में प्रेरक वृत्ति क्या है? सद्‌गुण का उद्देश्य यदि लोक में सम्मान प्राप्त करना है, प्रतिष्ठा प्राप्त करनी है और होता बहुधा यही है—तो स्वाभाविक रूप से सद्‌गुणसंपन्न व्यक्ति दूसरों के सामने अपने को अधिकाधिक लाना चाहेगा और अधिक दिखाई देना चाहेगा। विश्व के इतिहास में जितने भी गुणवान् व्यक्ति हुए हैं उनमें किसी न किसी गुण विशेष का अतिरेक दिखाई देता है। बिना अतिरेक के लोगों की दृष्टि उधर नहीं जाती। किंतु यह भी सत्य है कि अतिरेक व्यक्ति को लक्ष्य तक नहीं पहुँचाता, वह केवल समाज में सम्मान प्राप्त कराता है। यदि आपको कहीं सायकिल पर जाना है तो आप पहुँच सकते हैं, पर यदि आपको यह प्रसिद्धि पानी है कि आप सबसे बढ़िया सायकिल चलाने वाले हैं तो आपको प्रदर्शन करने के लिए एक मैदान में हज़ारों चक्कर करने होंगे। अखबारों में छपता रहता है कि अमुक व्यक्ति इतने घंटों तक लगातार सायकिल चलाता रहा। गोल चक्कर में साय-किल किसी को कहीं पहुँचाती नहीं है पर चलाने वाला समाचार-पत्रों का विषय अवश्य हो जाता है। आप शीघ्रता से वाहन पर बैठकर कहीं

पहुँच जावें तो वह समाचार-पत्रों का विषय नहीं है। आप उसे प्रदर्शन का विषय बना दें तो लोगों की दृष्टि विशेष रूप से उधर जाती है। जहाँ पर गुण का विषय भगवत्प्राप्ति है वहाँ तो गुण में गोपनीयता है। पर जहाँ पर गुण का उद्देश्य समाज से सम्मान पाना है वहाँ उसका अतिरेक है, वहाँ उसका प्रदर्शन है और तब स्वभावतः ही व्यक्ति के मन में सत्य की उतनी चिंता नहीं रह जाती जितनी सत्यवादी कहलाने की। व्यक्ति के मन में अहिंसा की उतनी चिंता नहीं रह जाती जितनी अहिंसक कहलाने की। परिणाम यह होता है कि एक वस्तु की सिद्धि के लिए वह व्यक्ति ऐसे प्रयास और क्रियाकलाप करता है जिससे वह दूसरों की दृष्टि में आ सके। यही एक विशेष कारण था कि भगवान् राम ने भरतजी की तुलना संसार के पुण्यात्माओं से करते हुए कहा—

तीनि काल त्रिभुअन मत मोरें। पुन्य सिलोक तात तर तोरें।
२।२६२।६

—तीनों काल एवं तीनों लोकों के जो पुण्यात्मा हैं वे तुमसे नहीं जीत सकते। विश्व के इतिहास में जो पुण्यात्मा हैं, यदि उनकी श्री भरतजी से तुलना करें तो यह बड़ी अटपटी-सी बात लगती है। शिवि, दधीचि, हरिश्चंद्र या अन्य जितने महापुरुषों का चरित्र पुराणों में है, यदि वे सब श्री भरतजी से न्यून कहे जाते हैं तो किस अर्थ में ? इस सबका एक ही अर्थ आपको मिलेगा कि इन सारे महापुरुषों के चरित्र की किसी एक विशेष घटना को लेकर समाज ने उन्हें अद्वितीय मान लिया। पर यदि उनके पूरे चरित्र को उठाकर पढ़ें तो बड़ी निराशा होती है। जैसे, हरिश्चंद्र का जो चरित्र जनमानस में है, ठीक वही पुराणों में नहीं हैं। हरिश्चंद्र ने अपने को महादानी कहलाने के लिये, जैसा कि वर्णन आता है, अपनी पत्नी का विक्रय कर दिया, पुत्र की मृत्यु का दुख झेल लिया। विश्व ने उनकी पूजा एक महान् सत्यनिष्ठ के रूप की। पर बात ऐसी नहीं है। हरिश्चंद्र का श्रीमद्भागवत में जो वर्णन आता है वह उनके चरित्र की दुर्बलताओं को ऐसे रूप में प्रकट करता है कि पढ़कर आश्चर्य होता है। इसका अभिप्राय क्या है ? यही कि किसी घटनाविशेष में हरिश्चंद्र बहुत महान् रहे होंगे किंतु उनका पूरा जीवन संतुलित या महानतायुक्त नहीं है। किसी एक विशेष घटना या पक्ष में ही उनकी महानता दिखाई देती है। महानता का तात्पर्य यह नहीं है कि कौन व्यक्ति किसकी दृष्टि

में कितना महान् है; जो सभी दृष्टियों और पक्षों से महान् हो वही सचमुच महान् है।

महाभारत में एक बड़ी सार्थक कथा आती है। महाभारत-काल में युधिष्ठिर सबसे बड़े सत्यवादी माने जाते थे। अब प्रश्न यह है कि युधिष्ठिर बड़े सत्यवादी थे या भगवान् श्रीकृष्ण ? उस समय लोगों का ऐसा विश्वास नहीं था कि श्रीकृष्ण बड़े सत्यवादी हैं और आजकल तो लोग बड़ी प्रसन्नता से कहते हैं कि हम भगवान् श्रीकृष्ण के अनुयायी हैं क्योंकि अवसर पड़ने पर वे बड़ी सरलता से झूठ बोल सकते हैं ! महाभारत की दो कथाएँ बताती हैं कि दोनों के सत्य में अन्तर कहाँ है। एक सत्य श्रीकृष्ण का था और दूसरा युधिष्ठिर का। कहा जाता है कि युधिष्ठिर के सत्य की इतनी ख्याति थी, इतनी पूजा थी कि उनका रथ पृथ्वी से दो अंगुल ऊपर चलता था। भगवान् श्रीकृष्ण के रथ का पहिया कभी पृथ्वी से ऊपर नहीं चला। तो यह प्रत्यक्ष हो गया कि युधिष्ठिर ही बड़े सत्यवादी हैं। यदि श्रीकृष्ण बड़े सत्यवादी होते तो उनके रथ का पहिया भी पृथ्वी से ऊपर चलता। पर दोनों के सत्य में अन्तर क्या है ? वर्णन आता है कि जब महाभारत का युद्ध समाप्त हो गया और उत्तरा के गर्भ से मृत बालक के रूप में परीक्षित का जन्म हुआ तब कुल में शोक की लहर फैल गई कि वंश में एक यही था और यह भी मृत पैदा हुआ। पाण्डवों के यहाँ यह सोचकर करुण रुदन मच गया कि हमारी सारी वंश-परम्परा का ही उच्छेद हो गया। तब भगवान् श्रीकृष्ण आये। कहा जाता है भगवान् श्रीकृष्ण ने उस बालक को जीवित कर दिया। जीवित कर देने में कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि कह सकते हैं कि भई, श्रीकृष्ण ईश्वर हैं, और यदि ईश्वर ने जीवित कर दिया तो इसमें अचरज क्या ! पर यह वर्णन वहाँ नहीं आता है कि उन्होंने ईश्वरत्व के द्वारा जीवित कर दिया। भगवान् श्रीकृष्ण ने परीक्षित को जीवित करते हुए कहा—"यदि मैंने जीवन में कभी असत्य का आश्रय न लिया हो तो यह बालक जीवित हो उठे।" और जब बिचारे भगवान् यह प्रतिज्ञा कर रहे होंगे तो उनका मुँह युधिष्ठिर और भीम भी आश्चर्य से देख रहे होंगे कि क्या सचमुच यह प्रतिज्ञा इनके मुँह से शोभा देती है ? क्योंकि उन्होंने प्रत्यक्ष देखा था कि महाभारत के युद्ध के प्रारम्भ में श्रीकृष्ण ने प्रतिज्ञा की थी कि मैं शस्त्र नहीं उठाऊँगा और बाद में उन लोगों ने यह भी देखा था कि भगवान् ने शस्त्र उठा लिया था। पर बड़े विश्वास के साथ भगवान् श्री-

कृष्ण ने कहा कि जीवन में अगर मैंने कभी असत्य का आश्रय न लिया हो तो यह बालक जीवित हो उठे। और सबने आश्चर्य से देखा कि बालक जीवित हो उठा। यहाँ पर धर्म का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। इसका अभिप्राय क्या है ?

सत्य के दो रूप हैं। एक सत्य वह है जो दूसरे को जीवनदान देता है और दूसरा सत्य वह है जो रथ के पहिये को ऊपर उठाकर अहंकार का प्रदर्शन करता है कि हम दूसरों से जरा ऊँचे हैं। एक सत्य को समाज में सम्मानपत्र प्राप्त होता है। दूसरे सत्य को समाज में लोग पहचान नहीं पाते। लेकिन वस्तुतः सत्य तो श्रीकृष्ण के जीवन में ही है, युधिष्ठिर के जीवन में जो सत्य है वह अहंकार मिश्रित सत्य है। उनके सत्य की चर्चा मैंने पहले आपके सामने की थी; वे अपने को सत्यवादी तो चित्रित करना चाहते हैं लेकिन साथ ही प्रलोभन से मुक्त नहीं हैं। युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिये वे द्रोणाचार्य के सामने कहते हैं—'अश्वत्थामा हतः'—अश्वत्थामा मारा गया, और उसके बाद अपने आपको सत्यवादी बनाये रखने के लिये कह देते हैं—'नरो वा कुंजरो वा'। उनमें सत्य का इतना बड़ा व्यामोह है कि मेरी सत्यवादी की उपाधि छिन न जाये, इस भय से वे इतना जोड़ना आवश्यक समझते हैं। सरासर झूठ को भी वे सत्य बनाना चाहते हैं। उन्हें विदित था कि हाथी मारा गया था, मनुष्य नहीं, फिर भी कह देते हैं—पता नहीं वह मनुष्य था या हाथी। तब कहा जाता है कि उनका पहिया ऊपर से नीचे चलने लगा। तो, रथ का पहिया ऊपर उठाने वाला, लोकदृष्टि से सम्मान दिलाने वाला धर्म और है जो युधिष्ठिर के जीवन में था। पर सत्य के सच्चे पुजारी, सत्यनिष्ठ तो श्रीकृष्ण ही हैं, भले ही लोग उन्हें समझ न पायें। अब आप जरा सोचिये कि जब महाभारत के युद्ध में श्रीकृष्ण ने शस्त्र उठा लिया तो यह उनकी सत्यनिष्ठा है या असत्यनिष्ठा ? यदि भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन में सत्य और अहंकार पर्यायवाची होते तो वे शस्त्र उठाते ही नहीं। भगवान् ने असत्य भाषण के लिए शस्त्र नहीं उठाया। तब क्यों उठाया ? भीष्म ने प्रतिज्ञा की थी—"आज यदि मैं श्रीकृष्ण से शस्त्र न उठवा लूँ तो मैं भीष्म नहीं, शांतनु का पुत्र नहीं !" भगवान् श्रीकृष्ण ने सोचा—आज दो में से एक का सत्य तो जायगा ही। चाहे भीष्म का सत्य जाये, चाहे मेरा। अतएव भीष्म का सत्य बचाने के लिये उन्होंने अपने सत्य का बलिदान कर दिया। कृष्ण जितने बड़े सत्यवादी थे उतना बड़ा सत्यवादी वह न

था जो सत्य की बजाय अपने अहङ्कार की रक्षा करना चाहता था। हम लोग चाहते हैं कि मेरा सत्य रहे। श्रीकृष्ण कहते हैं—सत्य रहना चाहिये; यह 'मेरा सत्य' क्या है ? सत्य के साथ 'मेरा' जुड़ जाने से सत्य छोटा हो जाता है। श्रीकृष्ण को सत्यवादी कहलाने की उतनी चिंता नहीं जितनी उन्हें भीष्म के सत्य की चिंता है। यही सत्य के प्रति सच्ची आस्था है और ऐसा ही मृत व्यक्ति को जीवन दान देता है। जो सत्य केवल अहङ्कार की तुष्टि करता है, लोगों से सम्मान दिलाता है वह अपनी जगह ठीक है, लोगों की दृष्टि में उसका सम्माननीय स्थान हो सकता है, पर वह ईश्वर का सत्य नहीं है, वह जीव का व्यावहारिक सत्य ही है। उसके द्वारा रथ का पहिया ऊपर और नीचे चल सकता है, इससे अधिक उसका कोई महत्त्व नहीं। हमारे जीवन में जो सद्गुण हैं उनमें प्रदर्शन की प्रवृत्ति है—दान देते हैं तो सम्मान पाने के लिये, सत्य का आश्रय लेते हैं तो सम्मान पाने के लिये, ब्रह्मचारी के रूप में अपने को दिखाते हैं तो लोगों की दृष्टि में उच्चपद पाने के लिये। तो, ऐसे प्रदर्शन से स्वाभाविक ही गुणों में टकराहट होगी। यदि एक व्यक्ति दूसरे से ऊँचा स्थान पाना चाहता है तो दूसरे को हटाकर ही वैसा कर सकेगा इसलिये बुद्धिमान विचारकों में एक दूसरे से झगड़ा हो जाता है। श्रेष्ठ स्थान किसका रहे, ऊँचा आसन किसका हो, इस बात पर लोगों में विवाद हो जाता है। होना तो नहीं चाहिये, पर होता है। इसका अभिप्राय यह है कि सद्गुणों में या सद्गुणसंपन्न व्यक्तियों में यह जो सात्त्विक अहं की प्रवृत्ति है वह उनमें संघर्ष और प्रदर्शन की प्रवृत्ति उत्पन्न कर देती है, इसलिये परिणामतः टकराहट होती है।

इसके विपरीत, दुर्गुणों में एकता हो जाती है क्योंकि वहाँ छिपाने की प्रवृत्ति है। प्रत्येक दुर्गुण अपना गोपन करता है, अपने आपको छिपाता है, इसलिये किसी एक दुर्गुण का नेतृत्व स्वीकार कर लेने में बाकी दुर्गुणों को कोई आपत्ति नहीं है इस दृष्टि से उनमें कोई संघर्ष नहीं है। दूसरी बात यह है कि सद्गुणसंपन्न व्यक्ति बहुधा भोग का संरक्षण चाहते हैं, जबकि दुर्गुणसंपन्न व्यक्तियों का लक्षण होता है भोग को छीनना। जो संरक्षण वाला पक्ष होता है उसे अपनी चिंता अधिक होती है—हमारा घर कैसे बचा रहे, हमारा भोग कैसे बचा रहे। पर जो छीनने वाले होते हैं वे संगठित होते हैं, क्योंकि डाकू-पक्ष जानता है कि उसकी सफलता संगठित होने पर ही है। रामचरितमानस में भी यह सत्य सामने आता

है, चाहे आप उसे अन्तर्दृष्टि से विचार करके देखें या बाह्य दृष्टि से। रावण जब लंका पर अधिकार करता है तो गोस्वामीजी कहते हैं—

जेहि जस जोग बाँटि गृह दीन्हे। सुखी सकल रजनीचर कीन्हे॥
१।१७८।७

लंका के स्वामी बदलते रहे हैं—पहले देवताओं का अधिकार था, बाद में यक्षों का अधिकार हुआ और जब रावण कहीं से घूमता हुआ लंका के पास आता है, वहाँ की समृद्धि देखता है तो राक्षसों को संगठित करता है और उस पर अधिकार कर लेता है। अधिकार करने के बाद रावण पहला कार्य जो करता है वह है बाँटने का। ये जो दुर्गुण होते हैं वे स्वार्थ के मामले में बड़े संगठित और ईमानदार होते हैं परन्तु इनकी ईमानदारी अधूरी होती है। क्यों? स्वार्थी व्यक्ति भी धर्म का पालन करता है पर उसका धर्म स्वार्थ से सम्बद्ध होता है। दस डाकू मिले; बोले—भई, डाका डालो। डाका डालकर लौटे तो कहने लगे ईमानदारी से बँटवारा करो। तो, डाका डालो बेईमानी से, पर बँटवारा तो ईमानदारी से करो! ऐसा न करें तो संगठन कैसे रहेगा? इसका अभिप्राय यह हुआ कि रावण भी इस सत्य को ठीक-ठीक समझता है। तभी तो लंका पर अधिकार करने के बाद वह ऐसा नहीं सोचता कि सारा सोना अकेले मेरे पास ही जमा हो जाये।

रावण के चरित्र में दो विचित्र सद्गुणों का दुरुपयोग दिखाई देता है। रावण का चरित्र अनोखा है। इसीलिये रावण का सामना न तो उस समय के मुनि कर सकते थे और न राजा, क्योंकि उसमें मुनियों का शास्त्रज्ञान और राजाओं का शास्त्रज्ञान दोनों विद्यमान थे। मुनियों के समान वह तपस्या भी कर सकता था और राजाओं के समान वह शास्त्र का भी पंडित था। दोनों वस्तुओं का दुरुपयोग करना उसके जीवन की शैली बन चुकी थी। इसलिये न तो राजा उसके सामने टिकते थे और न मुनि ही। सारी राक्षसजाति उसके साथ संगठित थी।

एक ओर दुर्गुणों की स्थिति इस प्रकार है और दूसरी ओर है महाराज दशरथ और जनक, वसिष्ठ और विश्वामित्र। ये सभी बड़े-बड़े महापुरुष हैं पर सभी अपनी-अपनी सीमाओं में घिरे हुए हैं। एक विचित्र प्रश्न उठाया गया कि उस समय सम्राट कौन था? एक वर्णन कहता है कि उस समय सम्राट थे राजा दशरथ और दूसरा वर्णन कहता है कि

उस समय सम्राट दशमुख रावण था। पर वास्तविक सम्राट कौन था ? एक ओर गोस्वामीजी लिखते हैं—**'ससुर चक्कवइ कोसलराऊ'** (२।९७।३) —महाराज दशरथ चक्रवर्ती सम्राट हैं और दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं—**मंडलीक मनि रावन राज करइ निज मंत्र** (१।१८२)। लेकिन जो आश्चर्यजनक लगता है वही तो सत्य है। हम लोगों के जीवन में दशमुख का शासन है अथवा दशरथ का ? इनमें चक्रवर्ती सम्राट कौन है ? उस समय समाज में दोनों चक्रवर्ती सम्राट माने जाते थे। दोनों आपस में टकराते नहीं थे, बचे रहते थे। पर वास्तविक शासन तो दशमुख का था। महाराज दशरथ को यह सन्तोष था कि लोग उन्हें सम्मान देते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि बल और असत्य के द्वारा रावण अपनी इच्छानुकूल समाज को चला रहा था। इधर महाराज दशरथ सूर्यवंश की परम्परा में सम्मान्य थे इसलिये राजागण उनको भी भेंट दे देते थे। यही जीवन का द्विविध शासन है—कभी दशरथ चक्रवर्ती सम्राट बने हुए हैं तो कभी दशमुख। दशरथ और दशमुख का दोहरा शासन जीवन में चलता रहता है। दोनों के सामने जो 'दश' है वह दोनों के साम्य को प्रकट करता है किन्तु रथ और मुख का अन्तर दोनों को अलग कर देता है। महाराज दशरथ इतने से संतुष्ट हैं कि अयोध्या में यज्ञ, जप, दान-पुण्य और धर्म-कर्म का पालन हो रहा है, पर क्या चक्रवर्ती की यही परिभाषा है कि उसके घर में या छोटे से राष्ट्र में सब हो और बाहर कुछ नहीं ? चक्रवर्ती का तो तात्पर्य है सारे विश्व का सम्राट। सारे विश्व में मुनियों का वध किया जा रहा है, यज्ञों को ध्वंस किया जा रहा है, पर महाराज दशरथ को प्रेरणा प्राप्त नहीं होती कि वे रावण से स्वयं संघर्ष करें। यही उनके चरित्र की दुर्बलता का पक्ष है। और यह दुर्बलता हम सब के जीवन में है। हम संतोष कर लेते हैं, कि चलो भई, दो घंटे तो पूजा कर लेते हैं, एक घंटा तो पाठ कर लेते हैं, कम-से-कम कुछ दान तो कर लेते हैं। पर शेष समय में क्या होता है इससे हमारा कुछ लेना देना नहीं। दंडकारण्य में क्या हो रहा है, विश्वामित्र के आश्रम के निकट क्या हो रहा है, महाराज दशरथ इस पर दृष्टि नहीं डालते हैं। आत्म-संतुष्ट चक्रवर्ती सम्राट के रूप में वे शासन कर रहे हैं। जब रावण विजययात्रा के लिये निकलता है तो राजा लोग उसे भी भेंट दे देते हैं, और महाराज दशरथ अगर वहाँ से निकलते हैं तो उनके पास भी भेंट भेज दी जाती है। दोनों को प्रसन्न करने की चेष्टा की जाती है। ऐसी

परिस्थिति में महाराज श्री दशरथ का जो आत्म-संतुष्ट जीवन है वह समाज की समस्या का समाधान कैसे देगा ? दशरथ स्वयं अच्छे हो सकते हैं पर जब तक दशमुख बना हुआ है, जब तक प्रकाश के साथ-साथ अन्धकार का अस्तित्व बना हुआ है तब तक तो स्वाभाविक रूप से सफलता रावण को अधिक प्राप्त होगी, महाराज दशरथ को नहीं ।

दूसरी ओर, महाराज श्री जनक जैसे महान् विचारक हैं । रामचरितमानस में संकेत दिया गया—

जासु ग्यानु रबि भव निसिनासा । बचन किरन मुनि कमल बिकासा ।।
२।२७६।१

—बड़े-बड़े महामुनि भी उनसे ज्ञान प्राप्त करने के लिए आते हैं । महाराज श्री जनक अपने ज्ञान से संतुष्ट हैं । उनके निकट ज्ञान प्राप्त करने जो लोग जाते हैं उन्हें वे ज्ञान-दान देते हैं । ज्ञान के विरुद्ध जो सबसे बड़ी शक्ति रावण अंधकार के रूप में है उसको मिटाने का प्रयास उनके जीवन में भी नहीं है । इस तरह राजाओं में महाराज दशरथ और महाराज जनक जैसे दो महान् राजा हैं—एक शक्तिशाली सम्राट हैं तो दूसरे महान् विचारक । पर दोनों मिल नहीं पाते । यदि दोनों का मिलन हो तो दोनों के द्वारा आत्मसंतुष्ट रहने की बजाय रावण को मिटाने की चेष्टा हो सकती है । पर ऐसा नहीं होता ।

मुनियों में विचार कर देखें तो उस समय के दो महान् मुनि थे वसिष्ठ और विश्वामित्र । पर दोनों में इतना बड़ा झगड़ा, इतना बड़ा विरोध था कि सारे पुराण दोनों के विरोध की गाथाओं से भरे पड़े हैं । दोनों ने मानो तय ही कर लिया था कि जो वसिष्ठ कहेंगे, विश्वामित्र उसका विरोध करेंगे और जो विश्वामित्र कहेंगे उसका विरोध वसिष्ठ करेंगे । ऐसी पृष्ठभूमि में भगवान् श्रीराम का चरित्र ही ऐसा है जो दशरथ और जनक को मिलाता है, वसिष्ठ और विश्वामित्र को एक करता है । यही श्रीराम के अवतार की पूर्णता है । जो बिखरे हुए सद्गुण थे वे भगवान् राम के अवतार के साथ संगठित हो गये और दुर्गुणों में फूट पड़ गई । यह बड़ी विचित्र बात है कि जिस लंका में पहले पूर्ण संगठन था वहाँ भगवान् राम के अवतार के बाद फूट पड़ गई और कभी न मिल सकने वाले चरित्र और व्यक्ति भगवान् राम को केन्द्र बनाकर मिल गये ।

आइये, अब जरा इस पर विचार करें कि इन व्यक्तियों की विचार-

धाराओं में किस तरह भगवान् राम के चरित्र के कारण समन्वय हुआ। वसिष्ठ और विश्वामित्र का मिलन कोई साधारण घटना नहीं थी। दोनों की विचारधारा, सोचने की पद्धति और दर्शन अलग-अलग था। मैं तो दो के स्थान पर एक त्रिकोण की कल्पना करता हूँ—वसिष्ठ, विश्वामित्र और परशुराम। आवेशावतार परशुराम और विश्वामित्र की मान्यता में क्या अंतर है ? एक ब्राह्मण से क्षत्रिय बने और दूसरे क्षत्रिय होते हुए ब्राह्मण बने। विश्वामित्र और परशुराम के जीवन में एक ही प्रकार की घटना उपस्थित होती है, पर उस घटना की प्रतिक्रिया दोनों के जीवन में अलग-अलग होती है। आपने कथा सुनी होगी। एक संकेत मैंने जमदग्नि के प्रसंग का किया था। जमदग्नि के पास से कामधेनु लेने की सहस्रार्जुन ने कोशिश की। उनके न देने पर उसने हिंसा का आश्रय लेकर गाय छीन ली। इससे परशुरामजी ने निष्कर्ष निकाला कि अहिंसा से काम नहीं चलेगा, हमारे पिताजी अहिंसक थे पर हिंसक सहस्रार्जुन विजयी हो गया, इसलिए समाज में हिंसा और दंड से ही काम बनेगा। उन्होंने परशु उठा लिया और सोच लिया कि अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करेंगे, लड़ेंगे, दंड देंगे। इस प्रकार उनके जीवन में परशु आया तथा वे क्षात्रधर्म स्वीकार कर स्वयं क्षत्रियों का संहार करने लगे। ठीक इसी तरह की घटना की प्रतिक्रिया विश्वामित्र के जीवन में देखिये। विश्वामित्र भी राजा रह चुके हैं। राजा के रूप में वे वसिष्ठ के आश्रम में आते हैं। वसिष्ठ ने कामधेनु की कन्या नंदिनी गाय के द्वारा उनका वैसा ही सम्मान किया। फिर वही बात होती है। राजा विश्वामित्र वसिष्ठ से कहते हैं कि गाय हमें दे दीजिये। वशिष्ठ, 'नाहीं' कर देते हैं। इससे संघर्ष होता है जिसमें विश्वामित्र हार जाते हैं और वसिष्ठ की जीत होती है। अब यहां घटना की प्रतिक्रिया उलटी होती है। विश्वामित्र व्रत ले लेते हैं—क्षात्रतेज व्यर्थ है, शस्त्र व्यर्थ है, हम तो ब्राह्मण बनेंगे। इनमें सही कौन था—विश्वामित्र या परशुराम ? दोनों को सही का ज्ञान तो भगवान् राम के द्वारा हुआ। दोनों ही अपनी प्रतिक्रिया को जीवन का पूर्ण सत्य माने हुए थे। विश्वामित्र चेष्टा करते हैं कि क्षत्रिय से ब्राह्मण बन जायें। इतनी घोर तपस्या करते हैं कि सारे समाज ने उनको ब्राह्मण स्वीकार कर लिया और उनको संतोष हुआ कि मैंने ऊँचे से ऊँचा पद पा लिया। परशुराम को संतोष हुआ कि अगर क्षत्रियों ने हिंसा के मार्ग से ब्राह्मण को कष्ट दिया तो मैंने परशु के द्वारा उनका संहार कर

उन्हें अन्याय का दंड दिया, दंड के द्वारा हमने समाज को सही दिशा में ले जाने की चेष्टा की। किंतु क्या परशुराम का यह निर्णय सही था ? क्या विश्वामित्र का निर्णय भी सही था ? वास्तव में ये दोनों निर्णय प्रतिक्रिया के फलस्वरूप किये गये थे। और **प्रतिक्रिया के कारण जो निर्णय किये जाते हैं वे तात्कालिक होते हैं उनका शाश्वत मूल्य नहीं होता**। उन दोनों को अपनी कमी का ज्ञान भगवान् राम के द्वारा होता है। इसलिए आप देखेंगे कि भगवान् राम के चरित्र का श्रीगणेश उस समय होता है—जब विश्वामित्र उन्हें लेने आते हैं और परशुराम द्वारा शस्त्र-समर्पण से उसका समापन होता है। विश्वामित्र और परशुराम के प्रसंगों के बीच में यह जो भगवान् राम की जनकपुर-यात्रा का वर्णन है उसका अर्थ यही है कि दोनों प्रतिक्रियाओं का उपशमन भगवान् राम के द्वारा होता है।

इसी संदर्भ में मैं वसिष्ठ और विश्वामित्र का अंतर बता दूँ। वसिष्ठजी विधिवादी हैं। आप जानते ही हैं कि वसिष्ठ ब्रह्मा के पुत्र हैं। अतः वसिष्ठ की मान्यता यही है कि सृष्टि एक कर्म-व्यवस्था के अनुकूल चल रही है और व्यक्ति को उसमें परिवर्तन का अधिकार नहीं है। रामचरितमानस में गोस्वामीजी ने लिखा है—वसिष्ठजी भरतजी को समझाते हुए कहते हैं—

सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ॥ २।१७१

—सृष्टि में जिसने जैसा कार्य किया है उसके अनुकूल उसे चलना होगा और विधि की व्यवस्था को स्वीकार करना होगा, यह वसिष्ठजी की मान्यता है। पर विश्वामित्र इसे स्वीकार नहीं करते। यदि इसे स्वीकार कर लेते तो फिर क्षत्रिय से ब्राह्मण बनने का मार्ग ही अवरुद्ध हो जाता। इसीलिए वे मानते हैं कि पुरुषार्थ ही सब कुछ है और पुरुषार्थ के द्वारा व्यक्ति सब कुछ कर सकता है। विश्वामित्र महान् पुरुषार्थी थे और सचमुच पुरुषार्थ द्वारा उन्होंने उसी जन्म में क्षत्रिय से ब्राह्मण बन कर दिखाया। इतना ही नहीं, उनकी तो रुचि ही बहुधा असंभव कार्यों की ओर थी। और यदि विशेष रूप से वे यह सुन लें कि वसिष्ठ ने किसी को 'नहीं' कहा है तो फिर कहना ही क्या ! हरिश्चंद्र के पिता त्रिशंकु ने वसिष्ठ से कहा—मैं स्वर्ग जाना चाहता हूँ। वसिष्ठ ने हँसकर कहा

—क्या तुम्हें संदेह है कि तुम स्वर्ग नहीं जाओगे ? त्रिशंकु बोले—नहीं महाराज, सब लोग जैसे स्वर्ग जाते हैं वैसे गया तो क्या गया ! लोग तो मरने के बाद शरीर छोड़कर स्वर्ग जाते हैं, मैं सशरीर जाना चाहता हूँ। विधि के बेटे ने कहा—नहीं ! यह तो नियमविरुद्ध है। जो कानून के विरुद्ध है उसे मैं स्वीकार नहीं कर सकता। तुम सशरीर स्वर्ग नहीं जा सकते। त्रिशंकु को याद आया कि दो महान् पुरुषों में झगड़ा हो और यदि काम एक से न बने तो दूसरे के पास जाना चाहिये। तुरंत त्रिशंकु विश्वामित्र के पास पहुँच गये तथा उनसे कहने लगे कि वसिष्ठ यह कहते हैं कि सशरीर स्वर्ग नहीं जाया जा सकता; अब आप क्या कहते हैं ? उन्होंने कहा—जरूर जाया जा सकता है और मैं तुम्हें भेजकर दिखा दूँगा। परिणाम क्या हुआ ? पुरुषार्थी विश्वामित्र ने अपनी तपस्या की शक्ति द्वारा त्रिशंकु को स्वर्ग पहुँचाने की चेष्टा की। उस समय के सारे महापुरुष इसी तरह लड़ रहे थे। शक्ति थी, पर दो विचारधाराओं के संघर्ष में उस शक्ति का क्षय हो रहा था। विश्वामित्र में व्यक्ति को सशरीर स्वर्ग पहुँचाने की शक्ति थी और अपनी तपश्चर्या के बल पर उन्होंने यह कार्य सम्पन्न किया। पर उसका परिणाम क्या हुआ ? जब त्रिशंकु स्वर्ग में पहुँचे तो उन्हें वहाँ वालों ने नीचे ढकेला। जब त्रिशंकु गिरने लगे तो उन्होंने विश्वामित्र को पुकार कर कहा कि महाराज, आपने तो कहा था कि मैं तुम्हें सशरीर स्वर्ग पहुँचाऊँगा और अब हम नीचे गिर रहे हैं। तब विश्वामित्र ने अपनी तपश्चर्या की शक्ति द्वारा त्रिशंकु को वहीं रोक दिया और कहा कि मैं तुम्हारे लिये नये स्वर्ग का निर्माण करूँगा। तो, वे त्रिशंकु के लिये स्वर्ग का निर्माण कर रहे थे या अपने अहं की रक्षा के लिये ? उनमें नया स्वर्ग बनाने की शक्ति थी और वे उसका निर्माण करने भी चले किंतु जब देवताओं और मुनियों ने आकर उनकी खूब स्तुति की तो त्रिशंकु को उसी तरह लटका हुआ छोड़कर वे स्वर्गनिर्माण के कार्य से विरत हो गये !

वसिष्ठ विधिवादी हैं। विधिवाद है तो ठीक, किंतु यदि विधिवाद का अत्यधिक आश्रय ले लिया जाय तो भी अनर्थ होगा। एक ओर पुरुषार्थवादी यदि पुरुषार्थ को ही सब कुछ मानेगा और विधिवाद की उपेक्षा करेगा तो रावण जैसे लोगों को मनमानी करने की छूट मिल जावेगी। यदि यह मान लिया जाय कि पुरुषार्थ ही सब कुछ है तो समाज में केवल अहंकार की वृद्धि होगी। व्यक्ति ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करने

लगेगा। यदि व्यक्ति मान ले कि हम सब कुछ बदल सकते हैं तो सब कुछ बदलने की चेष्टा में वह उसे भी बदलने का प्रयास करेगा जो कि बदला न जाना चाहिये। और दूसरी ओर यदि हम विधि को ही सब कुछ मान-कर बैठे रहें, यह मान लें कि—

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥
२।२१८।४

—तो भी अन्यायियों को अन्याय करने की छूट मिल जावेगी। हम फिर यही सोचेंगे कि अन्यायी अपने कर्मों के कारण अन्याय कर रहा है और कष्ट पाने वाला व्यक्ति अपने कर्मों का ही फल भोग रहा है। ऐसी परिस्थिति में भगवान् राम आते हैं और अपने चरित्र के द्वारा इन विपरीत दिखनेवाली समस्याओं का समाधान कर देते हैं।

भगवान् राम भी कैसा खेल करते हैं। उन्होंने वसिष्ठ और विश्वामित्र दोनों को अपना गुरु स्वीकार कर दोनों को एक सूत्र में बाँध दिया। और उसकी शैली क्या थी? आप देखेंगे कि विश्वामित्र और वसिष्ठ में से प्रत्येक को अपनी कमी का ज्ञान हो रहा है। विश्वामित्र महान् पुरुषार्थी थे, परन्तु ऐसे पुरुषार्थी विश्वामित्रजी भी अपने जीवन में जिन संकल्पों को साकार नहीं कर पाये, भगवान् राम उन सबको सही रूप में साकार कर देते हैं। विश्वामित्र तो मात्र एक त्रिशंकु के लिये नया स्वर्ग बनाना चाहते थे पर रामराज्य के द्वारा भगवान् राम ने प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में स्वर्ग की स्थापना कर दी। उनकी मान्यता यह है कि एक व्यक्ति स्वर्ग में पहुँचा तो किस काम का? जब संसार में प्रत्येक व्यक्ति के लिये स्वर्ग आ जाये तभी सार्थकता है। तो विश्वामित्र की जो संकल्पशक्ति केवल अहंकार के प्रदर्शन में व्यय हो रही थी, भगवान् राम के अवतार के बाद उसका सदुपयोग हुआ, उसकी पूर्णता साधित हुई। संकल्प और पुरुषार्थ के सदुपयोग के साथ उन्हें अपनी कमियों का भी ज्ञान हुआ जो भगवान् राम के अवतार के पूर्व उन्हें नहीं था। विश्वामित्र यज्ञ करते हैं पर राक्षस उसे नष्ट कर देते हैं, तब पहली बार पुरुषार्थी को लगा कि नहीं भाई, हर काम पुरुषार्थ से नहीं हो सकता। तुलसीदासजी लिखते हैं—

बिस्वामित्र महामुनि ग्यानी । बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी ॥
जहँ जप जग्य जोग मुनि करहीं । अति मारीच सुबाहुहिं डरहीं ॥
१।२०५।२-३

यहाँ पर भी भय निकल आया। रावण के रूप में जो नई शक्ति देखी गई वह विश्वामित्र से किसी प्रकार कम नहीं थी। विश्वामित्र से कम न तो उसके पास तपस्या का बल है और न विश्वामित्र से कम उसमें शस्त्र का बल है। वह सामर्थ्य में उनसे किसी प्रकार कम नहीं है। तब वे कैसे उसे हरायेंगे ? वह तो शक्तियों का जबर्दस्त स्वामी है। उसने तपस्या, साधना और पुरुषार्थ से वरदान प्राप्त किये हैं। विश्वामित्र यदि यह मानते हैं कि पुरुषार्थ द्वारा क्षत्रिय से ब्राह्मण बना जा सकता है तो पुरुषार्थ के दुरुपयोग की सीमा रावण भी तो है। पुरुषार्थ के द्वारा वह मृत्यु का विजेता बनने की चेष्टा करता है और एक ऐसी स्थिति आ जाती है कि वह विश्व की समस्त शक्तियों को अपनी इच्छा के अनुकूल नचाने लग जाता है। पुरुषार्थ के ऐसे अतिरेक पर किसी न किसी का नियंत्रण चाहिये, अन्यथा यह अतिरेक अंत में असुरों को ही अधिक शक्ति देगा, भले लोगों को नहीं। यदि पुरुषार्थ की ही क्षमता को सभी लोग स्वीकार करने लगें तो यह निश्चित जानिये कि सत्त्वगुणी से रजोगुणी का पुरुषार्थ सदैव अधिक रहेगा। पुरुषार्थ की दिशा में रजोगुणी ही जीतेगा। तो, परिणाम यह हुआ कि मुनि यज्ञ करते हैं, मारीच और सुबाहु आकर यज्ञ को ध्वंस करते हैं। विश्वामित्रजी चिंतित हो गये कि यज्ञ कैसे पूरा हो और तब पुरुषार्थी के जीवन में जिस सत्य के ज्ञान की आवश्यकता थी वह आया। यहीं भक्तिशास्त्र का उपयोग है। विश्वामित्र सोचते हैं कि **'हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी।'** —बिना भगवान् की कृपा के यज्ञ पूरा न होगा। गीता में यज्ञादि कर्म का निर्देश दिया गया है किंतु यज्ञादि कर्म भी क्या व्यक्ति ईश्वर की कृपा के बिना पूर्ण कर सकता है ?

हम भी जब जीवन में यज्ञ-कर्म करने की चेष्टा करते हैं (जो यज्ञ-कर्म नहीं करते, उनकी बात तो जाने दीजिये), तो यह ताड़का, मारीच, सुबाहु यज्ञ में बाधा डालते हैं। इस यज्ञकर्म की पूर्ति तो तभी होती है जब व्यक्ति पुरुषार्थ को यज्ञकर्म से जोड़ने के स्थान पर ईश्वरकृपा को यज्ञकर्म से जोड़ दे। इसीलिये प्रत्येक यज्ञकर्म के अंत में कहा जाता है— 'प्रभो ! जो कुछ न्यूनाधिक्य रह गया हो वह आपके नाम के प्रभाव से

पूर्ण हो जाये।' विश्वामित्र में इस अनुभूति का उदय होना उनके सौभाग्य की बात है।

एक बात पर आपने शायद ध्यान दिया होगा। जाम्बवान और भगवान् श्रीकृष्ण का युद्ध हुआ। जाम्बवान को भगवान् श्रीकृष्ण ने अट्ठाइस दिन तक लड़ कर पूरी तरह परास्त कर दिया। विचित्र कथा है। जाम्बवान तो रामायणकाल के पात्र हैं, फिर जाम्बवान से भगवान् कृष्ण के युद्ध होने का क्या कारण है ? रामचरितमानस को यदि आपने ध्यान से पढ़ा होगा तो आप जानते होंगे कि सारे बंदर किसी न किसी से हार गये, पर रामायण के पूरे युद्ध में यदि कोई कभी नहीं हारा तो थे जाम्बवान। यह उनका सौभाग्य था या दुर्भाग्य ? भौतिक दृष्टि से तो इसे सौभाग्य मानेंगे, पर आध्यात्मिक दृष्टि से यह उनका दुर्भाग्य था। क्या तात्पर्य ? ये जाम्बवान कौन हैं ? ये बुद्धि के देवता ब्रह्मा के अवतार हैं। इसका अभिप्राय यह है कि बुद्धि का देवता जल्दी हार नहीं मानता। अन्य लोग तो हार मान लेते हैं पर ये जो बुद्धिमान लोग हैं, ये जो बुद्धिवादी हैं उन्हें कौन हरावेगा ? तो, सभी हार गये--लक्ष्मणजी मेघनाद के सामने और हनुमानजी भी कुंभकर्ण के सामने मूर्छित हो गये, जाम्बवान सब को हराकर खड़े हैं। जाम्बवान तीन युगों में आपको दिखाई देंगे—सतयुग, त्रेता और द्वापर में। तीन अवतार इनके सामने हुए। विचित्र व्यंग्यभरी कथा है। जाम्बवान समुद्र के किनारे वानरों को बताते हैं—

जबहिं त्रिबिक्रम भए खरारी। तब मैं तरुन रहेउँ बलभारी॥
४।२८।८

—तुम्हें पता नहीं, जब भगवान् ने वामन रूप धारण किया तब मैं जवान था और मुझमें बड़ा बल था और देखो, बलि को बाँधते हुए जब—

बलि बाँधत प्रभु बाढ़ेउ, सो तनु बरनि न जाइ।
उभय घरी महँ दीन्हीं, सात प्रदच्छिन धाइ॥ ४।२९

—भगवान् ने विराट रूप धारण किया तो मैंने दो घड़ी में सात प्रदक्षिणाएँ कर लीं। यह बुद्धिमान का अहंकार है। भगवान् की परिक्रमा करनी थी तो वामन अवतार की कर लेते। विराट भगवान् की परिक्रमा क्यों कर रहे थे ? इसलिये कि विराट की परिक्रमा करने से दिखाई देगा

कि हम बड़े हैं। वामन की परिक्रमा तो कोई भी कर सकता है, उसमें क्या चमत्कार ? मानो यही अहं की ढिठाई है। तो, सतयुग में जाम्बवान का कल्याण नहीं हो पाया। फिर त्रेतायुग आ गया। अब त्रेतायुग में भगवान् राम आये। कुछ-कुछ कमी तो अब जाम्बवान को लगने लगी। बोले—**'जर भयउँ'**—अब बूढ़ा हो गया। इतना तो हुआ, काल ने थोड़ी अनुभूति तो कराई। समय पाकर थोड़ा अनुभव तो होता ही है। पर कहते हैं—हाँ, मैं बूढ़ा तो हो गया हूँ पर पुरानी जवानी की याद भुलाये नहीं भूलती। स्वयं भले कह लेते हैं कि मैं बूढ़ा हो गया, पर यदि और कोई बूढ़ा कह दे तो नहीं सह सकते। लंका के युद्ध में मेघनाद ने उनसे कह दिया कि बूढ़ा समझकर मैंने तुझे छोड़ दिया तो—

महि पछारि निज बल देखरायो। ६।७३।८

—पटककर दिखला दिया कि भले ही मैं बूढ़ा हो गया हूँ पर तुम्हारे लिये नहीं, तुम्हारे लिये तो बहुत काफी हूँ। ब्रह्मा बुद्धि के देवता हैं—

अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान॥ ६।१५ (क)

सतयुग में जाम्बवान नहीं हारे। त्रेता में भी नहीं हारे। तब द्वापर आया। अब भगवान् ने सोचा कि भई, मुझे ही इनको हराना पड़ेगा। हारे बिना इनका कल्याण न होगा। तब तक व्यक्ति में अहं समाप्त नहीं होता, तब तक उसमें समर्पण की मनोवृत्ति नहीं आती और बिना समर्पण के उसका कल्याण कठिन है। भगवान् ने कहा—तुम किसी से नहीं हारे हो तो चलो, हमसे ही कुश्ती हो जाये। द्वापर में जाम्बवान भगवान् से अट्ठाइस दिन तक लड़ते रहे। बाद में भगवान् ने इतना कस कर प्रहार किया कि याद आया, अरे यह तो हमारे वही पुराने भगवान् हैं। इतनी सेवा का पुरस्कार इस पिटाई के रूप में दे रहे हैं! क्या यही भगवान् की परम करुणा है ? भक्त को भगवान् इस सत्य का ज्ञान करा देते हैं कि वही सब कुछ नहीं है, उसका अहंकार इतना पूर्ण नहीं है कि वह चाहे जो कुछ कर ले।

तो, पुरुषार्थी तपस्वी विस्वामित्र का सौभाग्य था कि वे समझ गये कि इन राक्षसों पर विजय मैं अपनी शक्ति से नहीं पा सकता, बिना भगवान् के हमारा यज्ञ पूर्ण नहीं होगा, बिना भगवान् के राक्षस नहीं

मरेंगे। बस, यहीं से उस कर्मठ महापुरुष के जीवन में भक्ति का उदय हुआ। वे सोचने लगे—भगवान् को लाना चाहिये। पर भगवान् कहाँ मिलेंगे? नेत्र मूँदकर उन्होंने ध्यान किया। आप जरा उस समय विश्वामित्र की मनःस्थिति पर विचार कीजिये। ईश्वर ने उनपर कितना बड़ा व्यंग्य किया था! जब वे नेत्र मूंद कर ध्यान करने लगे कि ईश्वर कहाँ मिलेगा तो दिखाई पड़ा कि ईश्वर तो एक क्षत्रिय के घर में पैदा हो चुका है। सोचने लगे, यदि मैं जानता कि ईश्वर को क्षत्रिय के घर में आना है तो बेकार मैं क्षत्रिय से ब्राह्मण क्यों बनता? मैंने अनावश्यक समय गँवाया। इस सब तपस्या की क्या आवश्यकता थी? ईश्वर का तात्पर्य या कौतुक यह था कि जाति-पाँति कुल से जीवन का सदुपयोग नहीं होता। विश्वामित्र की तपस्या केवल इसीलिये तो थी कि लोग हमें क्षत्रिय न कहें, ब्राह्मण कहें। एक शब्द के हेरफेर के लिये, इतना सुनने के लिये कि लोग हमें राजर्षि नहीं, ब्रह्मर्षि कहें, कोई व्यक्ति दसियों हजार वर्ष तप करने में लगा दे तो इससे बढ़कर समय का क्या दुरुपयोग हो सकता था? आज उनके साथ ईश्वर ने व्यंग्य किया; बोले, यदि मुझे पाना चाहते हो तो फिर से अब क्षत्रिय के घर आना पड़ेगा बल्कि उस क्षत्रिय के घर आना पड़ेगा जिसके यहाँ के आचार्य वसिष्ठ हैं, जिनसे तुम्हारा जीवन भर झगड़ा रहा है। अब मुझे पाना है तो राग और द्वेष दोनों को छोड़ना पड़ेगा। जाति और त्याग-तपस्या का अभिमान छोड़ना पड़ेगा। अब वन को छोड़कर राजा के पास आओ। ब्राह्मण होकर क्षत्रिय के पास आओ। वसिष्ठ से समझौता करो। और आप देखते हैं कि समझौता सचमुच हो गया। झगड़ा कैसे हुआ था? विश्वामित्र ने कहा था, कामधेनु की पुत्री नंदिनी गौ हमें दे दीजिये। वसिष्ठ ने नहीं दी। अब झगड़ा कैसे मिटा? जब विश्वामित्र भगवान् को लेने आ गये तब आप देखेंगे कि वसिष्ठ कृपण नहीं दिखाई दे रहे हैं। नंदिनी के मामले में भले ही वसिष्ठ कृपण और विश्वामित्र लोभी दिखाई देते रहे हों, पर जब विश्वामित्र कोटि-कामधेनु तुल्य ईश्वर की याचना करने आये तब उल्टी बात हो गई।

जिस समय महाराज दशरथ के नगर में विश्वामित्र का आगमन हुआ, सर्वत्र आश्चर्य फैल गया कि अयोध्या में विश्वामित्र कैसे! वसिष्ठ कभी जनकपुर नहीं जा सकते थे और विश्वामित्र कभी अयोध्या नहीं आ सकते थे। भगवान् राम और सीताजी का विवाह दोनों मुनियों का

मिलन कराने वाला ही सिद्ध हुआ। वैसे तो उनका विवाह शाश्वत था पर जो सचमुच बिछड़े हुए थे उनको मिलाने के लिये ही विवाह की सारी लीला की गई थी। वसिष्ठ का जनकपुर से बड़ा भारी संघर्ष था। यदि आपने पुराणों की कथा पढ़ी होगी तो यह बात आप जानते होंगे। पहले वसिष्ठ जनकपुर के शासक निमि के आचार्य थे। सात्विक अहंकार के कारण दोनों में झगड़ा हुआ। निमि ने कहा—महाराज, मेरा यज्ञ करा दीजिये। वसिष्ठ ने बताया कि वे एक दूसरे यज्ञ का आचार्यत्व पहले ही स्वीकर कर चुके हैं, और वहाँ से लौटकर वे उनका यज्ञ करा देंगे। ऐसा कहकर वे चले गये। इस बीच निमि ने दूसरे पुरोहित को बुलाकर यज्ञ कर लिया। वसिष्ठ जब लौटकर आये तो उन्हें पता चला की मुझे छोड़कर दूसरे पुरोहित को आचार्य बना दिया गया। तब वे बहुत बिगड़े। बोले—इसका अर्थ यह है कि तुमको मेरे वचनों पर विश्वास नहीं था। निमि ने कहा—महाराज, आप ही तो कहा करते थे कि शरीर अनित्य है, इसलिये मैंने धर्मानुष्ठान शीघ्र से शीघ्र करा लिया। दोनों ही बात तो सिद्धान्त की कर रहे थे पर लड़ाई अहंकार की थी। वसिष्ठ कह रहे थे कि तुम्हें गुरु के वचनों पर विश्वास नहीं था कि जबतक मैं वापस आकर यज्ञ न कराऊँ तबतक तुम जीवित रहोगे; और निमि कह रहे थे कि नहीं महाराज, शरीर की क्षणभंगुरता के कारण मैंने शीघ्रता की। यह सारी टकराहट अहंकार की थी। निमि को यह आघात लगा कि मेरे गुरु मुझे छोड़कर दूसरे के यहाँ यज्ञ कराने चले गये, और वसिष्ठ को यह ठेस लगी कि मुझे छोड़कर निमि ने एक दूसरे गुरु को आचार्य बना लिया। फल यह हुआ कि दोनों ने एक दूसरे को श्राप दे दिया। इसके बाद वसिष्ठ निमि के राज्य में भला कैसे जाते ? तो, वसिष्ठ जनकपुर नहीं जा सकते थे और विश्वामित्र अयोध्या में नहीं आ सकते थे। अपने कट्टर विरोधी वसिष्ठ के क्षेत्र में भला वे कैसे आते ? पर प्रभु का खेल अनोखा है। यही तो लीला का आनंद है। उन्होंने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी जहाँ सारे मतभेद समाप्त हो गये, सारे द्वेष समाप्त हो गये और सब मिलकर एकाकार हो गये।

विश्वामित्र का अयोध्या में आगमन होता है। दशरथ तो चौंक पड़े। अगवानी की, पूजन किया और उसके बाद यही कहा—

केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लावउँ बारा ॥

१।२०६।८

—महाराज, आपके कहने में देर है, मेरे करने में नहीं; आज्ञा दीजिये। और जब विश्वामित्र ने अपनी माँग प्रस्तुत की तो महाराज दशरथ काँप उठे। बोले—

चौथे पन पायउँ सुत चारी। बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी।
१।२०७।२

—महाराज, वृद्धावस्था में, चौथी अवस्था में मैंने चार बेटे पाये, आपने विचार करके नहीं माँगा। पर आज तो विश्वामित्र और वसिष्ठ एक हो चुके हैं। जिस समय महाराज दशरथ ने अस्वीकृत दे दो कि मैं नहीं दूँगा तो मुस्कुराकर विश्वामित्र ने वसिष्ठ की ओर देखा और साथ साथ दशरथ की ओर भी देखा, मानो याद दिला दी कि **'चौथे पन पायउँ सुत चारी'**—पुत्र तो तुम्हारे थे नहीं, तुम्हीं कहते हो कि तुमने पाया है। और पाया कैसे ? पुत्र नहीं थे तो तुम एक मुनि के पास गये। उसने प्रसन्न होकर चार पुत्रों का आशीर्वाद दे दिया। आज एक मुनि को दो पुत्रों की आवश्यकता है तो आधा भी नहीं दोगे क्या भाई ? चार लेने में संकोच नहीं और दो देने में संकोच है ? राजा दशरथ की यही आशा थी कि वसिष्ठ जी मेरा समर्थन करेंगे, किंतु आज तो नई बात हो गई—

तब बसिष्ठ बहुबिधि समुझावा। नृप संदेह नास कहँ पावा॥
१।२०७।८

—वसिष्ठजी ने राजा दशरथ से कहा—राजन्, आपको तो देना ही होगा। क्यों ? स्मरण दिला दिया कि आपको पुत्र यज्ञ से मिले थे, और आज जब यज्ञ पर संकट आया हुआ है तो पुत्र को क्या नहीं दोगे। तुम्हें पुत्रों को रोकने का कोई अधिकार नहीं है। यज्ञपुत्र को तो यज्ञ के लिये देना ही पड़ेगा। और तब राजा दशरथ ने पुत्र दे दिये जिससे विश्वामित्र का यज्ञ पूरा हो गया। अपना यज्ञ पूरा कर विश्वामित्र दोनों राजकुमारों को लेकर जनकपुरी की ओर चल पड़ते हैं। क्या मुनि को इसका अधिकार था ? जब राजकुमारों को यज्ञ की रक्षा के लिये लाये थे तो काम पूरा हो जाने पर लौटा देते। उसके बाद यदि उन्हें जाना होता तो जनकपुर के स्वयंवर में जाते या न जाते, पर मुनि तो जानबूझकर उन्हें वहाँ ले गये। बोले—तुम तो यज्ञ पुरुष हो, जहाँ-जहाँ यज्ञ हो रहा

है वहाँ-वहाँ चलना पड़ेगा। उसमें तुम्हारे पिता से पूछने की कोई आवश्यकता नहीं। जनकपुरी में भी यज्ञ चल रहा है—

धनुष जग्य सुनि रघुकुल नाथा। हरषि चले मुनिबर के साथा।
१।२०६।१०

—मानो भगवान् राम दशरथ के पुत्र होकर विश्वामित्र की कृपा से विश्व के काम आ गये। अब यहाँ एक बड़ा मनोवैज्ञानिक चित्रण है।

वशिष्ठ की अपेक्षा विश्वामित्र में अधिक रजोगुण है। जहाँ तक व्यक्तिगत कल्याण की बात है वहाँ तक तो वसिष्ठ ठीक हैं, पर सामाजिक कल्याण के लिए तो विश्वामित्र जैसा रजोगुणी ही प्रेरक के रूप में अपेक्षित है। इसीलिए विश्वामित्र ही भगवान् राम को समाज के सामने ले जाते हैं।

विश्वामित्र और वसिष्ठ दोनों अलग-अलग रहकर अपनी-अपनी शक्ति का अपव्यय कर रहे थे, पर भगवान् राम के चरित्र से मिलकर दोनों का चरित्र सार्थक हो गया, दोनों का ज्ञान सार्थक हो गया, दोनों का शस्त्र सार्थक हो गया। वसिष्ठजी ने भगवान् राम को शास्त्र-ज्ञान दिया और विश्वामित्रजी ने उन्हें सारा शस्त्र-ज्ञान दे दिया। इसका अभिप्राय यह है कि वसिष्ठ और विश्वामित्र ने अपना शास्त्र और शस्त्र श्रीराम को देकर कहा कि इसका सर्वोपरि सदुपयोग आप ही कर सकते हैं। हम लोग तो नहीं कर पाये। इसीलिए यह विवाह कोई सामान्य विवाह नहीं है। क्या भगवान् राम और सीताजी का विवाह भौतिक स्तर पर किसी वर एवं कन्या के विवाह के समान है? जनकजी ने ऐसा मान लिया था और यही कारण था कि लक्ष्मणजी ने उन्हें फटकारा। धनुष के न टूटने पर जिस समय भरी सभा में जनकजी ने यह कह दिया कि—

कुअँरि कुआँरि रहउ का करऊँ। १।२५२।५

—मेरी कन्या कुँआरी रह जायेगी, तब रामायण में कहा गया है कि लक्ष्मणजी के होंठ फड़कने लगे, भौंहें टेढ़ी हो गईं और क्रुद्ध होकर लक्ष्मणजी ने भगवान् राम से कहा कि अगर आप आज्ञा दें तो मैं धनुष को तोड़ दूँ। कुछ लोगों को लगता है कि लक्ष्मणजी कैसे अमर्यादित थे कि उन्होंने ऐसी बात कह दी। वैसे, अगर बहिरंग दृष्टि से देखें तो लगता भी यही है। जब लक्ष्मणजी को ज्ञात है कि धनुष तोड़ने वाले से सीताजी का

विवाह होगा तो क्या लक्ष्मणजी के लिये यह कहना उचित है कि—

तोरौं छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ । १।२५३

—लेकिन वस्तुतः यह लक्ष्मणजी की अमर्यादा का चिह्न नहीं है, यह तो उनके महान् ज्ञान का ही चिह्न है । लक्ष्मणजी अपनी बात को उस अर्थ में नहीं देखते जिसमें साधारण व्यक्ति देखता है । लक्ष्मणजी ने जब यह कहा कि आप आज्ञा दीजिये तो धनुष तोड़ दूँ तो सबसे अधिक आनंद सीताजी को आया । वस्तुतः कष्ट तो सीताजी को होना चाहिये था कि लक्ष्मण कितना अनुचित बोल रहे हैं । पर गोस्वामीजी कहते हैं—

लखन सकोप बचन जे बोले । डगमगानि महि दिग्गज डोले ।।
सकल लोग सब भूप डेराने । सिय हियँ हरसु जनकु सकुचाने ।।
१।२५३।१-२

—सीताजी को हर्ष हुआ । भगवान् राम को बुरा लगना चाहिये था कि मेरे मनोभाव को जानने के बाद भी लक्ष्मण ऐसी अशिष्ट बात कह रहा है । पर भगवान् राम को तो इतना आनंद मिला कि तुलसीदासजी कहते हैं—

गुरु रघुपति सब मुनि मन माहीं । मुदित भये पुनि पुनि पुलकाहीं ।।
१।२५३।३

क्या कारण है कि सीताजी इतनी प्रसन्न हो रही हैं और भगवान् राम को इतना आनंद आ रहा है ? इसका एकमात्र कारण यह है कि भगवान् राम और सीताजी दोनों समझ रहे हैं कि लक्ष्मण कहाँ से बोल रहे हैं । लक्ष्मण इतनी ऊँचाई से बोल रहे हैं कि उतनी ऊँचाई तक जनक भी नहीं पहुँच पाये । जनक उस युग के महान् ज्ञानी थे किंतु वस्तुतः वे कभी परीक्षा में अनुत्तीर्ण हुए तो यहीं पर । जनक ने परीक्षा तो बहुतों की ली और उनकी परीक्षा में अनुत्तीर्ण भी बहुतेरे हुए, पर जनक अगर किसी की परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गये तो लक्ष्मणजी की ।

लक्ष्मणजी ने जो कुछ कहा उसके पीछे एक दर्शन है । जनक तत्त्वज्ञ हैं और तत्त्वज्ञ जनक हल चलाते हुए सीताजी को प्राप्त करते हैं । सीता कौन हैं ?—महाशक्ति । तो, ईश्वर ने पुत्र के रूप में दशरथ के घर में जन्म लिया और पुत्री के रूप में जन्म लिया महाराज जनक के घर में ।

महाराज श्री दशरथ सकाम व्यक्ति हैं, जबकि निष्कामता की चरम परिणति जनक हैं। ठीक भी है, पिता और पुत्र का संबंध स्वार्थ और कामना का है, जबकि पिता और पुत्री का संबंध निष्काम भावना का। पुत्र से व्यक्ति बदले में आशा रखता है, पर पुत्री को तो व्यक्ति देता ही देता है, उससे पाता कुछ नहीं। ईश्वर ने जिसके घर में निष्कामता देखी, उसके घर में पुत्री के रूप में जन्म ले लिया और जिसके घर में सकामता देखी वहाँ पुत्र के रूप में आ गये। दशरथ से बढ़िया कोई सकाम नहीं और जनक से बढ़िया कोई निष्काम नहीं। दशरथ ने अपनी सकामता के द्वारा ईश्वर को पुत्र के रूप में प्राप्त किया और जनक ने अचानक हल चलाते हुए महाशक्ति को पुत्री रूप में पा लिया। इसके पश्चात् देखिये, महाराज जनक के घर में एक धनुष है और वह धनुष भगवान् शंकर का है। शंकर हैं समष्टि अहंकार के देवता—**'अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।'** तो वह धनुष समष्टि अहकार के देवता का था जिसका परित्याग स्वयं भगवान् शंकर ने कर दिया था। इसका अभिप्राय यह है कि शंकरजी संहार के देवता होते हुए भी स्वदृष्टि से संहार के देवता नहीं हैं। इसीलिए वे धनुष का त्याग कर चुके हैं। यदि वे स्वदृष्टि से संहारक हो जायें तो संहार का पाप भी उनको लगे। इसलिये वे संहार के देवता तो हैं लेकिन धनुष के त्यागी हैं। जनकजी उस धनुष की पूजा करते हैं जो भगवान् शंकर के निष्काम कर्म और कर्तृत्व रहित कर्म का प्रतीक है। एक दिन उस धनुष के स्थल को स्वच्छ करने का भार सीताजी पर आ गया। जब सीताजी उस कक्ष में गईं जहाँ पर धनुष रखा हुआ था, तो उन्होंने देखा कि आस-पास की जमीन तो लिपी हुई है लेकिन धनुष के नीचे की जमीन को नहीं लीपा गया है। उन्हें लगा कि लीपो तो सारी जगह को लीपो। बस, उन्होंने तुरंत बायें हाथ से धनुष को उठाया और दायें हाथ से गोबर लेकर उस स्थान को स्वच्छ कर दिया। जब थोड़ी देर के बाद महाराज जनक आये और उन्होंने देखा कि धनुष के नीचे की जमीन भी गोबर से लिपी हुई है तो बड़े आश्चर्य से सोचने लगे कि जिस धनुष को मंजूषा सहित खींचने में इतना श्रम लगता है उसे किसने उठाकर इस प्रकार का कार्य किया? जब उन्हें पता चला कि सीताजी ने उस स्थान को स्वच्छ किया है तो उन्हें बुलाकर पूछा कि पुत्री, तुमने इस धनुष को कैसे उठाया? सीताजी ने भोलेपन से पुनः बायें हाथ से धनुष को उठकार दिखा दिया और बोलीं—'ऐसे।' तब जनक पहचान

गये कि यह कौन हो सकती हैं ! अब आप इसके आध्यात्मिक अर्थ पर विचार कीजिये । समष्टि अहंकार के कर्तृत्व का प्रतीक है धनुष जिसको शंकरजी दोनों हाथ से उठाया करते थे, किंतु सीताजी उसे बायें हाथ से उठा लेती हैं । ऐसा क्यों ? इसलिये कि, सीताजी हैं—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ।।

—जो शिव के दोनों हाथ से उठने वाला धनुष था उसे उठाना महाशक्ति के बायें हाथ का खेल है । महाशक्ति की प्रेरणा से ही सृजन पालन और संहार हुआ करता है । उन्होंने बायें हाथ से धनुष उठाकर अपने महाशक्तित्व का परिचय जनक को दे दिया । जनक को पता चल गया कि मेरे घर में कोई साधारण पुत्री नहीं बल्कि साक्षात् महाशक्ति ही आई है ।

जरा सोचिये, आपको रास्ते में कोई बहुत बढ़िया वस्तु पड़ी मिल जाये तो आप क्या करेंगे ? बहुत से लोग तो सोचेंगे—चलो, आज तो बहुत बढ़िया दिन है, इसे घर में रख लें । ईमानदार व्यक्ति होगा तो सोचेगा—चलो, जिसकी वस्तु है उसे दे दें । जनक सत्यनिष्ठ थे । ज्योंही उन्हें पता लगा कि ये महाशक्ति हैं, उनके मन में ज्ञान हुआ कि महाशक्ति जिनकी हैं, वे आकर ले जायं । जब किसी को कोई वस्तु मिलती है तो वह घोषणा करता है कि जिसकी हो, प्रमाण देकर ले जाये । तो जनक ने कहा कि धनुष तोड़ने वाले को कन्या दूँगा, अर्थात जो शक्तिमान है, वह अपनी शक्तिमत्ता का प्रमाण दे, और शक्ति को ले जाये ।

जनक की इस प्रतिज्ञा का अभिप्राय क्या है ? शक्ति से बढ़कर कोई कर्ता नहीं और ब्रह्म से बढ़कर कोई अकर्ता नहीं । शक्ति ने तो धनुष को बायें हाथ से उठा लिया, अब जो ब्रह्म है वह इसे तोड़कर दिखावे । जो कर्तृत्व का विनाश करके दिखावे, वही तो ब्रह्म होगा ! इसीलिए उन्होंने घोषणा की कि धनुष तोड़ने वाले के साथ कन्या का विवाह करूँगा । सारे संसार के राजा एकत्र हो गये । भगवान् भी विश्वामित्र के साथ आ गये । जैसे ही महाराज जनक ने भगवान् राम को पहली बार देखा तो विश्वामित्रजी से पूछा—महाराज, सच-सच बताइये, ये कौन हैं ? मुस्कुराकर विश्वामित्र ने जनक से कहा—तुम स्वयं इतने बड़े ज्ञानी हो जरा परखकर देख लो न, और बताओ कि तुम्हें क्या लग रहा है । जनक बोले —महाराज, मुझे तो लग रहा है—

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा ॥
१।२१५।२

—ये तो ब्रह्म हैं। गद्गद हो गये विश्वामित्र, बोले—सच में तुम्हारे ज्ञान की जैसी ख्याति सुनी थी तुम वैसे ही निकले! पहली ही दृष्टि में तुमने ईश्वर को पहचान लिया। सचमुच तुम्हारा ज्ञान सच्चा है।

तो जनक की स्थिति तो ठीक है, फिर उन्हें लक्ष्मणजी की फटकार क्यों सहनी पड़ी? लक्ष्मणजी ने दो महापुरुषों को फटकारा और दोनों अपनी-अपनी दृष्टि से अद्वितीय थे। परशुराम के समान उस समय कोई बलवान नहीं था और जनक के समान कोई बुद्धिमान नहीं था। दोनों को अगर किसी ने फटकारा तो इसी परमाचार्य लक्ष्मण ने, जो देखने में बालक की तरह हैं। दोनों को फटकारा भी इसी सभा में, एक को धनुष टूटने के पहले और दूसरे को धनुष टूटने के बाद। दोनों पर लक्ष्मणजी का व्यंग्य क्या है? यही कि दोनों महापुरुषों को क्रोध आ गया। पहले जनकजी को क्रोध आया, बाद में परशुरामजी को। इस क्रोध का कारण भी बड़ा अटपटा था। जनक इसलिए क्रोधित हुए कि धनुष क्यों नहीं टूट रहा है, और परशुराम को क्रोध इसलिये आया कि धनुष कैसे टूट गया। एक कहता है टूटे, दूसरा कहता है न टूटे। यह तो लक्ष्मणजी ही हैं जो बीच में कहते हैं—टूटे चाहे न टूटे, इससे होना-जाना क्या है? वे परशुरामजी से कहते हैं—आप लोगों की बुद्धि मेरी समझ में नहीं आती। महाराज जनक धनुष तुड़वाने के लिये व्यग्र थे और आप उसे न टूटने देने के लिये व्यग्र हैं—**'का छति लाभु जून धनु तोरे'** (१।२७१।२)—धनुष के टूटने में क्या हानि या लाभ है? जरा लक्ष्मणजी की भाषा पर विचार कीजिये। लक्ष्मणजी का तात्पर्य यह है कि यदि दूसरा कोई व्यक्ति कहता कि धनुष के टूटने का संबंध सीताजी के विवाह से है, तो बात अलग होती। पर जब महाज्ञानी जनकजी ने कह दिया कि धनुष के न टूटने पर मेरी कन्या कुँवारी रह जावेगी तो लक्ष्मणजी को क्रोध आ गया। क्यों? लक्ष्मणजी का कहना था कि मैंने सोचा जिसने राम को पहली दृष्टि में ही पहचान लिया, उसने शक्ति को गोद में खिलाने के बाद पहचान ही लिया होगा—यह जान ही लिया होगा कि सीताजी शक्ति हैं। और तब तो उन्होंने यह भी जान लिया होगा कि ब्रह्म और शक्ति का विवाह उन्हें नहीं कराना है, वह तो शाश्वत है। क्या जनक करावेंगे तभी ब्रह्म और शक्ति का विवाह होगा? तो जनक के लिये इससे बढ़कर अज्ञान की कल्पना

नहीं हो सकती कि वे यह समझें कि मैं विवाह कराऊँगा तो होगा, नहीं तो कन्या कुँवारी रह जायेगी। लक्ष्मणजी ने जो यह कहा कि लाओ, धनुष मैं तोड़ दूँ, तो इसका अभिप्राय यह है कि वे जानते थे कि यह विवाह तो अनादि काल का सत्य है; विवाह के लिए धनुष के टूटने की आवश्यकता नहीं है। पर शायद जनक का पुण्य बचाने हेतु धनुष के टूटने की जरूरत है तो वह कार्य मैं पूरा किये देता हूँ। आपको इतना बड़ा भ्रम कैसे हो गया कि आप समझ बैठे कि धनुष नहीं टूटेगा तो विवाह नहीं होगा ? —यह अभिप्राय है लक्ष्मणजी के कथन का। राम और सीता का विवाह कब हुआ ? क्या जनक ने जब कराया तब हुआ ? शंकर-पार्वती का विवाह कब हुआ ? क्या हिमाचल और मैना ने जब कराया तब ?

जब ब्रह्मा शंकरजी के पास विवाह की प्रार्थना लेकर आये तो उनसे यह नहीं कहा कि विवाह कर लीजिये। तब क्या कहा ?—**'सकल सुरन्ह के हृदयँ अस संकर परम उछाहु'** (१।८८)—भगवन्, सब देवताओं के हृदय में एक बड़ी इच्छा है। हम और आप होते तो बोल देते—भगवन्, विवाह कर लीजिये। पर ब्रह्मा कहते हैं—**'निज नयनन्हि देखा चहहिं नाथ तुम्हार बिबाहु'**—महाराज, आपका विवाह चाहे जब हुआ हो पर हम लोग तो नहीं देख पाये। अब ऐसी कृपा कीजिये जिससे हम लोग देख सकें कि आपका विवाह कैसे होता है। इसका अर्थ क्या है ? यही कि विवाह के होने की समस्या नहीं, केवल उसके देखने की समस्या है। भई, यही तो ईश्वर की कृपा है। बालक के माता-पिता बालक को प्यार करते हैं, उसे तरह-तरह की चीजें दिखाते हैं, लेकिन संसार में कितना ही समृद्ध पिता क्यों न हो, कितनी ही समृद्ध माता क्यों न हो, वे अपने बालक को सारा संसार दिखला सकते हैं, केवल एक वस्तु नहीं दिखला सकते। वह क्या है ? कोई माता-पिता अपने बालक को अपना विवाह नहीं दिखला सकते। लेकिन जब ईश्वर ने अवतार लिया तो सोचा—चलो, भक्तों को अपना विवाह भी दिखा दो, तभी तो कुछ अच्छा चमत्कार रहेगा। तो, जो अन्य माता-पिता नहीं कर पाये, वह जगत्पिता और जगन्माता ने करके दिखा दिया। इसीलिए ब्रह्मा ने शंकरजी से कहा—महाराज, जरा अपनी बारात दिखला दीजिये।

एक विचित्र संकेत हमें रामायण में प्राप्त होता है। जिस समय भगवान् राम सीताजी से विवाह के लिये आये तो, तुलसीदासजी लिखते हैं, ब्रह्मा को आश्चर्य हुआ—

बिधिहि भयउ आचरजु बिसेषी। निज करनी कछु कतहुँ न देखी॥
।१।३१३।८

—ब्रह्मा ने सारा जनकपुर देख डाला पर वहाँ अपना बनाया हुआ कोई पदार्थ दिखाई नहीं दिया। वे चक्कर में पड़ गये। शंकरजी ने धीरे से व्यंग्य किया—**'हृदयँ बिचारहु धीर धरि सिय रघुबीर बिआहु।'** (१।३१४) —क्या संसार के अन्य वर और कन्या का विवाह जिन आँखों से देखा जाता है उन्हीं आँखों से इस ब्रह्म और शक्ति का विवाह देखोगे। जरा हृदय में धीरज धरकर विचार करो। हृदय और मस्तिष्क का समन्वय करके सोचो। शंकरजी ने ब्रह्मा पर कितना बडा कटाक्ष कर दिया! एक बालक अपने माता-पिता के विवाह का चित्र देख रहा था। उस चित्र में वह सबको देखकर प्रसन्न हो रहा था पर अंत में उदास हो गया। किसी ने उससे पूछा कि उदास क्यों हो गये, तो बालक ने कहा—इसमें सबका चित्र तो है, पर मेरा नहीं है। तब उस बुद्धिमान व्यक्ति ने कहा —विवाह के समय तो तुम थे ही नहीं, तुम्हारा जन्म तो उसके बाद हुआ। शंकरजी के कटाक्ष का यही तात्पर्य था। उन्होंने ब्रह्मा को समझाया— इनका विवाह तो अभी हो रहा है, बाद में तुम्हारा जन्म होगा। अभी जब तुम्हारा जन्म ही नहीं हुआ तो संसार के रचयिता कैसे बन गये? जब विवाह देखने आये हो तो यह मत देखो कि मैंने क्या बनाया और क्या नहीं, बल्कि यह देखो कि मुझे किसने बनाया।

धनुषयज्ञ का अर्थ है—कारण की खोज, कार्य की खोज नहीं। कार्य और कारण के विवाह की शोभा जनक के यहाँ ही हो सकती थी। जनक दार्शनिक थे। इसीलिए लक्ष्मणजी ने जनक को फटकारते हुए कहा—क्या यही आपका ज्ञान है कि कह रहे हैं, धनुष नहीं टूटेगा तो विवाह नहीं होगा? यह तो वैसी ही बात हुई जैसे कोई डरे कि आज कौआ नहीं बोल रहा है तो सवेरा कैसे होगा। कौए के बोलने न बोलने से सूर्य के उदय का क्या संबंध? धनुष के टूटने से जनक को संतोष हुआ और परशुराम जी को असंतोष। पर लक्ष्मणजी कहते हैं—**'का छति लाभु जून धनु तोरे।'** धनुष चाहे टूटता या न टूटता, सीता और राम तो शाश्वत रूप से एक हैं। आप लोग अपने ही विचारों को आरोपित कर सुख और दुःख का भोग करते हैं। इसका सांकेतिक तात्पर्य क्या है? यही कि भगवान् राम और सीताजी के विवाह में वसिष्ठ और विश्वामित्र का मिलन हो गया। इसी विवाह में अहल्या और गौतम भी मिल गये। यदि

यह विवाह की लीला न हुई होती तो अहल्या और गौतम कैसे मिल पाते ? भगवान् राम के विवाह से वसिष्ठ विश्वामित्र और परशुराम की विचारधारा में अलगाव के कारण जो टक्कर थी वह दूर हो जाती है।

भगवान् राम अपने व्यक्तित्व के द्वारा, अपने चरित्र के द्वारा प्रत्येक के हृदय की भ्रांति दूर कर देते हैं। विश्वामित्र की भ्रांति यह थी कि क्षत्रिय से ब्राह्मण बनो तभी काम बनेगा। परशुराम की भ्रांति यह थी कि सबसे बड़ी वस्तु शस्त्र है, हिंसा है, फरसे से बढ़कर कुछ नहीं। भगवान् राम ने उनसे वार्तालाप किया और अन्त में उनसे शस्त्र रखवा ही लिया। तदनन्तर—

कहि जय जय जय रघुकुलकेतू। भृगुपति गए बनहि तप हेतू ॥
१।२८४।७

इसका अभिप्राय यह कि परशुरामजी जान गये, हिंसा श्रेष्ठ है या अहिंसा—न तो सब समय केवल हिंसा से काम चलता है, न केवल अहिंसा से समाज की समस्या का समाधान होता है। समाज के परिप्रेक्ष्य में तो भगवान् राम का समन्वय ही देता करता है कि हृदय में अहिंसा रहे पर हाथ में शस्त्र अवश्य रहे। इसका अभिप्राय यह है कि हृदय में कोमलता हो पर शस्त्र में कठोरता। दोनों का समन्वय आप भगवान् श्रीराम के चरित्र में पावेंगे। हृदय में तो अहिंसा-वृत्ति की पूर्णता है और ऊपर से शस्त्र धारण किये हुए हैं। जब तक समाज में पशु-वृत्ति है तब तक उस पर नियंत्रण के लिये शस्त्र की स्वीकृति है और बाद में उसका परित्याग है।

इस प्रकार क्रमिक रूप से भगवान् इन महापुरुषों को मिला देते हैं। विश्वामित्र को उस समय कितना संतोष हुआ होगा, जब राजा दशरथ वसिष्ठ के साथ बारात लेकर जनकपुर आते हैं! वर-कन्या के विवाह के बाद विश्वामित्र और वसिष्ठ एक दूसरे को बहुत बढ़िया दक्षिणा देते हैं। वसिष्ठ ने यदि विश्वामित्र को ईश्वर की प्राप्ति कराई तो विश्वामित्र ने भी कम बढ़िया दक्षिणा नहीं दी। यदि अयोध्या में पहुँचने से विश्वामित्रजी को राम की प्राप्ति हुई तो वसिष्ठजी के जनकपुर आने पर वे उन्हें भक्ति और ज्ञान के मिलन की उत्तम दक्षिणा देते हैं। राम और सीता का विवाह भक्ति और ज्ञान का ही तो मिलन है।

यह पूछा जाता है कि ज्ञान श्रेष्ठ है या भक्ति ? गोस्वामीजी बहुत

बढ़िया समन्वय करते हैं । सीता-राम कौन हैं ? गोस्वामीजी कहते हैं—

सानुज सीय:समेत प्रभु राजत परन कुटीर ।
भगत ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर ॥ २।३२१

—सीताजी मूर्तिमती भक्ति है और भगवान् राम मूर्तिमान ज्ञान हैं । अब बताइये, कौन बड़ा है और कौन छोटा ? इसका अर्थ यह है कि वस्तुत: वे दोनों एक दूसरे से मिलकर एक ही हैं । एक ने ही दो रूप बना लिये हैं । यह बात अलग है कि कभी-कभी बालक से आनंद लेने के लिये माता-पिता पूछ लेते हैं कि तुम मेरे पुत्र हो या इनके ? उस समय बालक जिसके पक्ष में रहता है उसका नाम ले लिया करता है । लेकिन सच्चे अर्थों में तो वह दोनों का पुत्र है । गोस्वामीजी ऐसा ही समन्वय देते हैं ।

तुलसीदासजी ने कहा—भगवान् राम अखंड ज्ञानघन हैं । जनक और सीताजी का दु:ख तब तक दूर नहीं हुआ जब तक श्रीराम ने धनुष नहीं तोड़ा । इसका अभिप्राय यह है कि अज्ञान के अंधकार का निवारण तो ज्ञान का सूर्य ही कर सकता है । ज्ञान से बढ़कर भला और कौन है ? भगवान् राम ने ज्योंही धनुष तोड़ा त्योंही—

महि पाताल नाक जसु ब्यापा । राम बरी सिय भंजेउ चापा ॥
१।२६४।५

—ज्ञान विजयी हुआ । ज्ञान ने अंधकार दूर कर दिया । पर तुलसीदास-जी तो बड़े कौतुकी हैं न, बोले—ठीक है, ज्ञान विजयी तो हो गया पर अभी जयमाला भक्ति देवी के हाथ में है । जब तक भक्ति देवी प्रमाण-पत्र नहीं देंगी तब तक यह विजय प्रमाणित नहीं मानी जायेगी । तो अब भगवान् राम को जयमाला कौन पहनावेगा ? परीक्षा भले ही उत्तीर्ण कर लीजिये, पर यदि प्रमाणपत्र नहीं है तो आपकी सफलता प्रमाणित नहीं होगी । ज्ञान भले ही सफल हो जाये लेकिन प्रमाण तो भक्ति के हाथों में है । और जब सीताजी जयमाला लेकर आईं तो भगवान् राम ने स्वभावत: जयमाला पहनने के लिये सिर झुकाया । सीताजी ने हाथ तो उठाया पर जयमाला नहीं पहना रही हैं–**'प्रेम बिबस पहिराइ न जाई ।'** (१।२६३।६) तुलसीदासजी को बड़ा आनंद आया; बोले—महाराज, ज्ञान की शोभा इसी में है कि विजय प्राप्त करने के बाद वह भक्ति के सामने झुका ही रहे, अकड़कर खड़ा न हो । जरा अधिक से अधिक देर तक खड़े रहिये

जिससे लोगों को पता चले कि झुकने में ही ज्ञान की शोभा है। सच्चा ज्ञान झुकता है, वह अकड़ता नहीं है। दृश्य यह है कि भगवान् राम झुके हैं और सीताजी अपने हाथ में माला लिये खड़ी हैं, पहना नहीं रही हैं। भगवान् राम को रूठ जाना चाहिये था कि कितनी देर तक मैं झुका खड़ा रहूँ, पर भगवान् राम रूठते नहीं, वे झुके हुए खड़े हैं। प्रत्यक्ष परस्पर वार्तालाप न होते हुए भी मानो आंतरिक वार्तालाप चल रहा है। भगवान् राम कहते हैं—मुझे तो झुके रहने में आपत्ति नहीं है पर तुम्हें तो शीघ्रता से जयमाला पहना देनी चाहिये। इस पर सीताजी भी उलाहना देती हैं कि आपने भी तो धनुष तोड़ने में बड़ा विलंब किया. आप भी तो शीघ्रता कर सकते थे। तब भगवान् राम कहते हैं—विलम्ब में ज्ञान की शोभा हो सकती है पर भक्ति की नहीं। ज्ञान ने विलम्ब किया तो अपनी परम्परा का निर्वाह किया, पर भक्ति ने यदि विलम्ब किया तो उसकी सरलता और सहजता का क्या होगा ? और तब गोस्वामीजी कहते हैं—

गावहिं छबि अवलोकि सहेली। सियँ जयमाल राम उर मेली ॥
१।२६३।८

—ज्ञान और भक्ति का समन्वय हुआ। विश्वामित्र और वसिष्ठ का—पुरुषार्थ और प्रारब्ध का समन्वय हुआ। गौतम और अहल्या का, जो पाप और पुण्य की धारणा को लेकर एक-दूसरे से अलग हो गये थे, मिलन हुआ। और विवाह के बाद दोनों जब लौटे, तो वसिष्ठ कथा कहने लगे। वसिष्ठ किसकी कथा सुनाने लगे ? गोस्वामीजी कहते हैं—

मुनि मन अगम गाधिसुत करनी। मुदित बसिष्ठ बिपुल बिधि बरनी ॥
१।३५८।६

—लगे वसिष्ठजी विश्वामित्र की गाथा सुनाने। कहाँ तो विश्वामित्र अपने लिये उनके मुख से तीन अक्षर सुनने के लिये व्याकुल थे और कहाँ आज वसिष्ठ विश्वामित्र के गुण गा रहे हैं ! जब वसिष्ठ विश्वामित्र की कथा सुनाने लगे तो सबसे अधिक आनंद किसे आया ? गोस्वामीजी कहते हैं—**'सुनि आनंदु भयहु सब काहू।'** (१।३५८।८) लेकिन सबसे अधिक आनंद किसको आया ? वह कहते हैं—**'रामलखन उर अधिक उछाहू।'** भगवान् राम ने लक्ष्मणजी की ओर देखा। लक्ष्मणजी ने भगवान् राम की ओर देखकर मानो कहा कि जैसे हम दोनों की जोड़ी है वैसे ही दो

गुरुओं की जोड़ी भी मिल गई है। यह बिलकुल ठीक रहा। हम जो चाहते थे वह हो गया। अब वसिष्ठ और विश्वामित्र का, जनक और दशरथ का, अयोध्या और जनकपुर का, प्रारब्ध और पुरुषार्थ का मतभेद समाप्त हो गया तथा ये सब शक्तियाँ आपस में मिलकर भगवान् राम को केन्द्रित कर रामराज्य की स्थापना में संलग्न हो गईं। इसकी प्रक्रिया पर हम आगे विचार करेंगे।

चौथा व्याख्यान समाप्त

पाँचवाँ व्याख्यान

भगवान् श्रीराम मनुष्य-जीवन की शाश्वत समस्या का मानवीय पद्धति से निराकरण करने विश्व में प्रकट होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् श्रीराम ने अपने ऐश्वर्य को प्रकट करने के लिये अवतार नहीं लिया। यदि ऐश्वर्य को प्रकट करने हेतु वे अवतार लेते तो रावण के वध के लिये या रामराज्य की स्थापना के लिये उन्हें क्रमिक प्रयास न करना पड़ता। तब तो ईश्वर अपने संकल्प मात्र से ही क्षण भर में यह सारे कार्य संपन्न कर लेता। रावण के वध के लिये उसे किसी सेना के एकत्रीकरण की आवश्यकता नहीं थी। सेतु का निर्माण करने की अपेक्षा नहीं थी। तब तो ईश्वर सत्य-संकल्प होने के नाते रावण को यों ही विनष्ट कर देता। तब तो वह बाधा भी न होती जो श्रीराम को युवराज-पद पर अभिषिक्त करते समय पड़ी। तब स्वभावतः श्री राघवेन्द्र दिव्य सिंहासन पर बैठकर समाज में ईश्वरीय राज्य की स्थापना करते। पर जब ईश्वर ने मनुष्य के रूप में अवतार लिया तो उसने ईश्वरीय पद्धति का आश्रय न लेकर मानवीय पद्धति के माध्यम से अपने संकल्प पूरे किये। और मानवीय पद्धति से पूरे करने का तात्पर्य यह है कि वे प्रत्येक व्यक्ति से उन कार्यों को संपन्न कराना चाहते थे जो उन लोगों के चरित्र द्वारा किये गये हैं। आइये, इसी दृष्टि से अयोध्या कांड के कुछ अंशों पर विचार करें। आपके सामने भगवान् राम के चरित्र के समग्र अंशों में से कुछ भाग ले लिये जायेंगे।

भगवान् श्रीराम के चरित्र में तीन नगरों की बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। ये तीन नगर हैं—अयोध्या, जनकपुर और लंका। इसके साथ ही भगवान् राम के चरित्र में तीन वनों का बड़ा गौरवपूर्ण स्थान है। महर्षि विश्वामित्र के आश्रम में जब निवास करते हैं वह प्रथम वन है;

अयोध्या से यात्रा करते हुए चित्रकूट में निवास करते हैं, यह द्वितीय वन है और बाद में रावण से संघर्ष करने की दिशा में चित्रकूट से वे दंड-कारण्य जाते हैं—भगवान् श्रीराम का यह तृतीय वन है। ये तीन नगर और तीन वन भगवान् श्रीराम के चरित्र में एक महत्त्वपूर्ण भाग प्रस्तुत करते हैं। इनमें नगरों की भूमिका क्या है, यह मैं स्पष्ट करना चाहूँगा। भगवान् श्रीराम की यात्रा इन तीनों ही स्थानों में होती है तथा उनके चरित्र का विविध पक्ष इन तीनों स्थानों में प्रकट होता है।

अगर आप तारतम्य की दृष्टि से विचार करके देखें तो आपको इन तीनों नगरों में एक सापेक्षता दिखाई देगी। यदि हम आध्यात्मिक दृष्टि से कहें तो लंका देहवाद का नगर है, यह दशमुख का नगर है। और अयोध्या महाराज दशरथ का नगर है। दोनों में 'दश' शब्द तो समान है। किंतु 'दश' के बाद जो अगला शब्द है वह अलग है। मुख का उप-योग किया जाता है भोजन के कार्य में और रथ का?—प्राचीन काल में जब किसी को शीघ्रता के साथ कहीं पहुँचना होता था तो लक्ष्य तक पहुँचने के लिये उसका आश्रय लिया जाता था। रामायण में कभी-कभी शब्दों के माध्यम से बड़े अनोखे संकेत दिये गये हैं। जैसे, प्रारम्भ में आपको दो पात्र मिलते हैं—प्रतापभानु सत्यकेतु का पुत्र है और उसका विरोधी कालकेतु है। वहाँ पर भी 'केतु' शब्द दोनों में समान है तथा सत्य और काल का पार्थक्य है। यहाँ 'दश' शब्द में साम्य है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति दश इन्द्रियों वाला है किंतु इसके पश्चात् जो शब्द है वह अलग है—रथ और मुख।

कुछ लोगों की मान्यता है कि मनुष्य के शरीर में जो इन्द्रियाँ हैं, व्यक्ति उनके द्वारा अधिक से अधिक विषयों का स्वाद ले, भोगों का भोग करे—यह दशमुख का दर्शन है। ध्यान रखियेगा कि यह साधारण दर्शन नहीं है। रावण का दर्शन और विचार-धारा बड़ी ही शक्तिशाली है। रावण उसी के अनुकूल अपना जीवन व्यतीत करता है और उसी धारणा के अनुकूल लंका के नागरिकों का जीवन भी चलाना चाहता है। दूसरा दर्शन 'रथ' का है। रथ का तात्पर्य है—जहाँ घोड़ों पर नियंत्रण है और ऐसे नियंत्रित रथ पर बैठकर व्यक्ति लक्ष्य तक पहुँचना चाहता है। इसी प्रकार, महाराज श्री दशरथ का जो दर्शन है वह भोगों का निषेध तो नहीं करता, क्योंकि इन्द्रियाँ होंगी तो इन्द्रियों के लिये विषय की भी अपेक्षा होगी, लेकिन वह विषयों को मात्र साधन मानता है। यहीं पर

मूल अंतर है। जो व्यक्ति यह मानता है कि मनुष्य को अपनी इंद्रियों का नियमन करते हुए जीवन को किसी लक्ष्य की पूर्ति में लगाना चाहिये वह महाराज श्री दशरथ के दर्शन का अनुगामी है। इस अर्थ में हम कह सकते हैं कि लंका 'देहवादी नगर' है जब कि महाराज श्री दशरथ का नगर 'देहाधिकार नगर' है। जनकपुर और भी ऊँचा है। वह 'विदेह का नगर' है। दशमुख के नगर में तो व्यक्ति पूरी तरह देह के अधीन है और दशरथ के नगर में इन्द्रियां पर अधिकार है। पर फिर भी दशरथ के नगर में शरीर तो है; व्यक्ति शरीर वृत्ति से ऊपर उठा हुआ नहीं है। इसके विपरीत, विदेह जो है वह देह से ऊपर की स्थिति है। इसीलिये इन तीनों में एक तारतम्य है। लंका में अधिक राक्षस रहते हैं पर दो-एक संत भी हैं। अयोध्या में अधिकतर संत रहते हैं पर दो-एक असंत भी हैं। केवल जनकपुर ही ऐसा है जहाँ केवल संत ही संत हैं असंत हैं ही नहीं। ठीक भी है; जहाँ विदेहवृत्ति है वहाँ असंत का क्या काम ? इसके विपरीत, जहाँ देहवृत्ति हो—चाहे वह देहाधिकार के रूप में हो अथवा पूरी तरह देह-परतंत्र जीवन हो—वहाँ तो असत्-वृत्ति होगी ही। मात्रा के तारतम्य के भेद में अयोध्या से भी असंत मिल जाते हैं और लंका में तो उनका बाहुल्य है ही।

भगवान् श्रीराम का चरित्र इन तीनों नगरों में विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होता है। उसकी समग्रता इसी में है कि गोस्वामीजी ने अपनी पद्धति में उसे उत्कृष्टता से प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा—ईश्वर में अनंत गुण हैं, पर गुण की गुणवत्ता क्या है ? गुण अपने आपमें न तो गुण हैं, न अवगुण। इसकी व्याख्या रामायण में भगवान् राम ने की है। उत्तरकांड में भरत ने प्रश्न किया कि संत के क्या लक्षण हैं ? संत में क्या गुण होते हैं और असंत में क्या अवगुण होते हैं ? भगवान् राम ने इसके उत्तर में पहले तो संत के गुणों और असंत के अवगुणों के विषय में कहा पर अंत में एक दार्शनिक वाक्य कहा कि—

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥ ७।४१

—'भरत, सत्य तो वह है कि गुण और दोष दो अलग वस्तुएँ नहीं हैं। यह तो माया के द्वारा विभाजित सत्य सा, प्रतीत होता है। सच्चा गुण यह है कि दोनों दो प्रतीत ही न हों।' तो, भगवान् ने एक संक्षिप्त

वाक्य में उसे समाप्त कर दिया, किंतु प्रभु का उसके द्वारा तात्पर्य क्या है ? श्रीराम जब कहते हैं कि गुण और दोष दो अलग-अलग वस्तुएँ नहीं हैं, तो इसका यही अर्थ है कि गहराई से विचार करने पर व्यक्ति को यही सत्य प्रतीत होगा। दूसरी बात यह भी है कि ईश्वर सृष्टि का निर्माता है। यदि वह गुण और दोष दोनों की सत्ता स्वीकार कर ले तो किसी को दंड देने का अधिकार उसे कहाँ रहेगा ? तब तो उसी से पूछा जा सकता है कि जब आपने गुण और दोष दोनों बना दिये तब ऐसी स्थिति में मनुष्य को दोष देने का आपको क्या अधिकार है ? तो, ईश्वर बताना चाहता है कि मैंने दो वस्तुएँ नहीं बनाई। वस्तुत: मैंने एक ही वस्तु बनाई—वह कुछ लोगों के हाथ में पड़कर गुण के रूप में दिखाई देती है ? और कुछ लोग उसे दोष के रूप में प्रदर्शित करते हैं। इसलिये ईश्वर भी अपने को इससे मुक्त कर लेता है। एक ही वस्तु के निर्माण के बाद उसके भिन्न-भिन्न उपयोग के कारण कुछ लोग उसे गुण कहने लगे, कुछ उसे दोष कहने लगे।

रामायण में एक दृष्टांत दिया गया है—संत-असंत के भेद का। वैसे भले ही कोई कहे कि ईश्वर ने महीने में दो पक्षों का निर्माण किया किंतु यह कहना अधिक उचित होगा कि ईश्वर ने मास का निर्माण किया। अब इसमें दो पक्ष का जो विभाजन है वह चंद्रमा के आधार पर है तथा चंद्रमा मन का प्रतीक है। इसको इस संदर्भ में आप देखें कि वास्तव में ईश्वर ने कोई पक्षपात किया है क्या ? शुक्ल पक्ष को हम उज्ज्वल पक्ष कहते हैं और कृष्ण पक्ष को अंधकार का पक्ष। पर यह तो सत्य नहीं है। सत्य यह है कि शुक्ल पक्ष में जितना प्रकाश है, उतना ही प्रकाश कृष्ण पक्ष में भी है। उसमें कोई अंतर नहीं है। चंद्रमा जितना प्रकाश शुक्ल पक्ष में देता है उतना ही कृष्ण पक्ष में भी देता है। फिर एक को हम शुक्ल और दूसरे को कृष्ण क्यों कहते हैं ? इसका उत्तर यह है कि आप शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को आकाश की ओर दृष्टि डालिये तो आपको चंद्र का प्रकाश दिखाई नहीं देगा। द्वितीया को आपको एक क्षीण चंद्रमा की रेखा दिखाई पड़ी। तृतीया को देखने पर चंद्रमा कुछ और उज्ज्वल रूप में आपके सामने आया और पूर्णिमा आते-आते पूर्ण प्रकाश आकाश में दिखाई देने लगा।

दूसरी ओर हम जिसको कृष्ण कहकर अंधकार का प्रतीक कहते हैं उसकी प्रतिपदा को आकाश की ओर दृष्टि डालिये तो उसका चंद्रमा

बिल्कुल पूर्णिमा जैसा दिखाई देगा। प्रतिपदा के बाद द्वितीया को देखें तो कुछ और क्षीण, तृतीया को और भी क्षीण और अमावस्या आते-आते सर्वत्र अंधकार हो गया। गोस्वामीजी कहते हैं—

सम प्रकास तम पाख दुहुँ नाम भेद बिधि कीन्ह।
ससि सोषक पोषक समुझि जग जस अपजस दीन्ह॥ १।७ (ख)

—प्रकाश और अंधकार की मात्रा में अंतर नहीं है। शुक्ल पक्ष में प्रकाश बढ़ते-बढ़ते पूर्णता तक जाता है और कृष्ण पक्ष में घटते-घटते समाप्त हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति अपने मन को उज्ज्वल बनाते-बनाते पूर्णता तक ले जाता है उसे हम संत कहते हैं और जो अपने उपलब्ध प्रकाश को क्रमशः अपनी वासनाओं के द्वारा क्षीण करता हुआ अपने जीवन को अंधकार में परिणत कर लेता है उसको हम असंत कह देते हैं। इस प्रकार प्रभु दो वस्तुएं नहीं देते। पूंजी को घटाना और बढ़ाना व्यक्ति के हाथ में है। इसीलिये ईश्वर कहते हैं—विचार कर के देखो, गुण और दोष दो वस्तुएँ हैं कहाँ? वस्तु तो एक ही है। उदाहरण के लिये, एक व्यक्ति किसी का सिर काट लेता है तो उसे फाँसी मिलती है और दूसरा व्यक्ति युद्ध में हजारों का सिर काट लेता है, उसे महावीर चक्र मिलता है। इसका तात्पर्य यही है कि गुण, देश, काल या व्यक्ति के संदर्भ में भिन्न रूप ले लेता है, जिसे हम गुण और दोष की भिन्न-भिन्न परिभाषा के रूप में देखने लगते हैं। इस तरह गुण और दोष की जो सत्ता है उसमें मूलतः वस्तु तो एक ही है, लेकिन संतत्व, असंतत्व किस रूप में क्रमशः परिवर्तित होता है, यह संकेत विविध नगरों के माध्यम से दिया गया है।

दशमुख, दशरथ और विदेह के जीवन में विदेह का जीवन सर्वोत्कृष्ट है लेकिन वस्तुतः भगवान् श्रीराम ही इन नगरों को समानता की स्थिति में ले आते हैं। इसके पूर्व एक नगर में विचार की, दूसरे में सत्कर्म की और तीसरे में पाप की प्रधानता थी। तीनों नगर विश्व में एक साथ रहे थे। जब तक ये त्रिविध जीवन बने रहेंगे तब तक रामराज्य नहीं होगा। वस्तुतः विदेह नगर, देहनगर और देहाधिकार नगर को वे बराबरी पर ले आये। उन तीनों नगरों के विषय में गोस्वामीजी भगवान् के तीन गुण प्रकट करते हैं। वे हैं—**'बारिउ सील रूप गुन धामा'** (१।१९७।६) अथवा, जैसा कि जनकपुर के प्रसंग में (१।२१६) कहा गया—**'रूप सील**

बल धाम ।' श्रीराम के रूप-गुण का प्रत्यक्षीकरण होता है विदेहनगर में, शील-गुण की विजय है अयोध्या में तथा लंका में बल के दर्शन होते हैं। इसके दर्शन पर विचार करें तो देखेंगे कि ईश्वर का ज्ञान तीनों में समान है। पर वस्तुतः तारतम्य है उसके उपयोग में। यहां तक कि रावण भी ईश्वरीय ज्ञान से वंचित नहीं है। ईश्वर ने उसको भी अपने ज्ञान से वंचित नहीं किया, जबकि ठीक उल्टी बात होनी चाहिये थी। रावण को भगवान् का ज्ञान जितनी शीघ्रता से हुआ उतनी शीघ्रता से तो शायद हनुमानजी को भी नहीं हुआ होगा। हनुमानजी को तो पास में आकर देखना पड़ा, पहचानना पड़ा। रावण ने तो भगवान् राम को देखने के पहले ही पलंग पर लेटे-लेटे ज्ञान प्राप्त कर लिया। कई लोग पलंग पर लेटे-लेटे ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं पर वह बड़ा खतरनाक होता है। कई लोग बुद्धि से सारी बात समझ लेते हैं, पर क्या वह समझना कहलावेगा ? इस समझ लेने का कोई महत्त्व नहीं। जानने के बाद आप ज्ञानी बनते हैं या ज्ञान बनते हैं, मुख्य प्रश्न यह है। जानने के बाद जहाँ व्यक्ति ज्ञानी बनेगा वहाँ ज्ञान का अभिमान आवेगा। और जहाँ ज्ञान की उपलब्धि के बाद ज्ञानीपन का अभिमान नष्ट हो जाये वहाँ सच्चा ज्ञान होगा। तो ज्ञान के द्वारा ज्ञानीपन का अभिमान पानेवाले संसार में बहुत हैं। इसीलिये रामायण में ज्ञानी के दो रूप बताये गये हैं। एक ज्ञानी का रूप बताया गया—**'ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं, देख ब्रह्म समान सब माहीं।'** सच्चा ज्ञान वहाँ पर है जहाँ मान का लेश नहीं है। पर इसके साथ-साथ तुलना में एक वाक्य यह भी कहा गया—

जे ग्याग मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी ॥

१।१२।३ (छं.)

इसीलिये संकेत आता है कि समुद्र-मंथन किये जाने के पश्चात् जब अमृत का वितरण किया जाता है तो वह एक ही पात्र से होता है। उसी पात्र के एक भाग से अमृत निकल रहा था और दूसरे भाग से सुरा। दैत्य सुरा पीकर उन्मत्त हो रहा था और देवता अमृत पीकर अमर हो रहे थे। इसका सीधा तात्पर्य यह है कि वितरण तो सर्वत्र समान हो है। एक ही ग्रंथ दो व्यक्ति पढ़ रहे हैं। एक व्यक्ति उसे पढ़कर नम्र हो गया—समझ लीजिये, देवता हो गया और दूसरा उसी ग्रंथ को पढ़कर अभि-

मान में चूर हो गया। वह दैत्य-प्रकृति हो गयी। मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि व्यक्ति में ज्ञान की कमी है, प्रश्न यह है कि ज्ञान का परिणाम क्या हुआ ? फिर वही मूल बात आयी कि—

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक ॥ ७।४१

जिस समय शूर्पणखा से रावण श्रीराम का पूरा वर्णन सुनता है और रात्रि में अपने महल में जाता है, अपने पलंग पर लेटता है, तो उसको नींद नहीं आती। नींद न आने पर रावण जब शुद्ध अंतःकरण से विचार करता है तो द्वेष की स्थिति, आवेश की स्थिति से गुजरते हुए वह सत्य के सन्निकट पहुँचता सा दिखाई देता है। रावण सोचता है कि यह कौन व्यक्ति हो सकता है जिसने अकेले ही चौदह हजार राक्षसों का संहार कर दिया ? और अब कितने ज्ञान का प्रकाश उसमें हुआ !—

खर दूषन मोहि सम बलवंता।
तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता ॥ ३।२२।२

—हमारे इतने शक्तिशाली भाइयों को यदि कोई मार सकता है तो इसका अर्थ है निश्चित रूप से भगवान् आ गया। कितना बड़ा ज्ञानी है रावण ! पर है बड़ा विचित्र ज्ञानी ! लगा कि पूर्णिमा का चंद्रमा आकाश में उदित हो गया। लेकिन ज्यों ही रावण के हृदय में ज्ञान उत्पन्न हुआ कि ईश्वर का अवतार हो गया त्योंही उसे मर्म में प्रेरणा हुई अथवा यों कहें, उसके विवेक ने कहा कि यदि ईश्वर का अवतार हो गया तो भजन करना चाहिये। पर यह तो रावण के विवेक की क्षणिक झलक थी। रावण का अहंकार, उसका मन उसके विवेक से प्रबल है। उसके अहं-कार ने कहा—तुमने इतनी सरलता से मान लिया कि ईश्वर आ गया है ? केवल एक घटना हुई और मात्र इतने से तुम डिग गये ! तुमने मान लिया कि वह व्यक्ति ईश्वर को छोड़ और कुछ नहीं हो सकता ? तब रावण के अहंकार ने कहा कि हम उसको कसौटी पर कसकर देखेंगे, परखेंगे और उसके पश्चात् निर्णय करेंगे कि सचमुच वह ईश्वर है या नहीं। फिर विवेक ने प्रश्न किया—अच्छा, यदि तुम्हारे मन में यह निर्णय हो गया कि ईश्वर है तो क्या करोगे ? तब भजन करोगे क्या ? तब मन की बात उसने कह दी—**'होइहि भजनु न तामस देहा'**

(३।२२।५)—भजन-वजन तो अपने से हो नहीं सकता। अब सोचिये, उस ज्ञान का लाभ क्या है जिसे व्यक्ति जीवन में उतार न सके? जान तो सब ले और जान लेने के पश्चात् व्यक्ति यह कहे कि हमसे हो नहीं सकता, तो ऐसे जानने का क्या तात्पर्य।

हनुमानजी का उत्तर भी इसी संदर्भ में था। हनुमानजी को जब मेघनाद नागपाश में बाँधने लगा तो हनुमानजी जानबूझकर बँध गये। वे मूर्छित तो थे नहीं, केवल मूर्छा का स्वांग किये हुए थे, चाहते तो न बँधे हुए जाते, पर उनको लगा कि रावण से वार्तालाप का उचित रूप यही होगा। रावण की सभा में हनुमानजी खुले नहीं जाना चाहते थे, बँधे हुए जाना चाहते थे क्योंकि जानते थे कि रावण ने मेघनाद को आदेश दिया था कि 'उसको जरा बाँधकर मेरे पास ले आना' मैं एक अपराधी का न्याय करना चाहता हूँ। जिस व्यक्ति ने मेरी वाटिका का फल चुराकर खाया है उसे एक चोर समझकर दंड दूँगा।' हनुमानजी जब रावण की सभा में एक चोर की भाँति लाये गये तो रावण ने तुरन्त हनुमानजी पर व्यंग्य करते हुए पूछा कि दूसरे की वाटिका का फल बिना पूछे खाना क्या चोरी नहीं है? प्रत्येक अधार्मिक दूसरे व्यक्ति से धर्म की आशा रखता है। वह यही चाहता है कि दूसरे व्यक्ति धर्म का पालन करें। रावण ने यह भी पूछा कि तुमने फल खाने के साथ ही मेरी वाटिका को उजाड़ क्यों दिया? हनुमानजी ने इसका विचित्र उत्तर दिया—**'खायउँ फल प्रभु लागी भूँखा'** (५।२१।३)—भूख लगी थी इसलिये मैंने फल खा लिये। रावण ने पूछा—मेरा बाग क्यों उजाड़ा? तो बोले—**'कपि सुभाव तें तोरेउँ रूखा'** (५।२१।३)—यह तो बंदर का स्वभाव है, इसलिये मैंने उजाड़ दिया। यह उत्तर क्या युक्तियुक्त लगता है? कोई चोर न्यायालय में कह दे कि मैंने इसलिये चुरा लिया कि मुझे आवश्यकता थी; या किसी से पूछने पर कि आग क्यों लगा दी, कोई कह दे कि घर फूँकना और उजाड़ देना मेरा स्वभाव है तो शायद उसे जितना दंड मिलनेवाला होगा उससे दूना मिलेगा। हनुमानजी को क्या इसी प्रकार का उत्तर देना चाहिये था? अलग से उनके इस उत्तर को देखें तो वह सही नहीं लगता, किंतु हनुमानजी यह सारी बात जिस संदर्भ में कह रहे हैं उनसे यह उत्तर बड़ा पैना हो गया है तात्पर्य क्या है?

हनुमानजी से रावण कहता है कि क्या चोरी करना अपराध नहीं है और हनुमानजी का व्यंग्य यह है कि क्या एक भूखे बंदर का फल खाना

चोरी है और इतनी पत्नियों के स्वामी होते हुए भी जगज्जननी की चोरी करना तुम्हें चोरी नहीं दिखाई देती ? तुम एक व्यक्ति को फल की चोरी के लिये कैदी बनाते हो पर स्वयं सीताजी को चुराने के बाद तुम्हें अपने में चोरी नहीं दिखाई देती। तो क्या तुम्हारे जीवन में दो मापदंड हैं ? एक दूसरों के लिये और दूसरा तुम्हारे अपने लिये ? और जब हनुमान-जी ने कहा कि बंदर के स्वभाव के कारण मैंने वृक्ष तोड़े तो यह और भी बड़ा व्यंग्य था। इसका तात्पर्य यह था कि तुमने राम के ईश्वरत्व को जान तो लिया पर जानने के बाद भी तुमने कहा—**'होइहि भजन न तामस देहा'**—तुम विद्वान् ब्राह्मण और ऋषि की संतान हो, शास्त्रों के पंडित हो और फिर भी कहते हो—मेरा मन भजन नहीं कर सकता। तो जब एक विद्वान् ब्राह्मण अपने स्वभाव को नहीं बदल सकता तो एक बंदर अपना स्वभाव बदल सकता है क्या ? जब तुम अपने को नियंत्रित नहीं कर सकते तो एक पशु से कैसे आशा करते हो कि वह अपने स्वभाव को नियंत्रित करे और अनुशासित बन जाये ? बहुधा देखा जाता है, लोग कुत्तों को अनुशासित होना सिखाते है, परंतु स्वयं उन्हें अनुशासित होना चाहिये इस पर उनका कभी ध्यान नहीं जाता। हनुमानजी का कटाक्ष यही था कि रावण, तुम अपनी ओर तो दृष्टि डालो। न्याय करने वाले के लिये केवल सामनेवाले पर न्याय कर देना ही पर्याप्त नहीं, इस पर भी विचार करना चाहिये कि न्यायकर्ता जिस आसन पर बैठा है वह उसका अधिकारी है या नहीं। तो, रावण के जीवन में भी सत्य के प्रकाश का उदय हुआ था पर उसकी वासना ने उसे विचलित कर दिया और जो कुछ रहा-सहा प्रकाश रहा होगा, उसके अहंकार ने उसे भी तिरोहित कर दिया। उसके मन ने निर्णय कर लिया कि भजन नहीं होगा, किंतु इसके बाद उसके अहंकार ने कहा—हम तो ईश्वर की परीक्षा लेकर देखेंगे।

और इस परीक्षा के लिये रावण ने कसौटी क्या बनाई। वह पंडित था। उसने निर्णय किया—ईश्वर का लक्षण होता है कि वह सर्वज्ञ होता है, अतः यदि मैं एक नकली मृग बनाकर ले चलूँ तो सर्वज्ञ ईश्वर होने पर वह उसके पीछे नहीं भागेगा। यदि पीछे भागेगा तो समझ लूँगा कि यह मनुष्य है। यही हुआ भी। ईश्वर तो बड़ा कौतुकी निकला। स्वर्ण-मृग लेकर रावण आया तो जानते हुए भी राम स्वर्णमृग के पीछे भागे और अहंकार-भरा रावण मन में हँसने लगा कि मैंने किन अज्ञान के

क्षणों में इसे ईश्वर मान लिया था ! ईश्वर की बात तो दूर, यह तो एक बुद्धिमान राजकुमार जैसा भी मालूम नहीं होता। जिस व्यक्ति को स्वर्ण-मृग की सत्ता पर विश्वास हो गया वह भला ईश्वर कैसे होगा ? वह तो कोई अल्पबुद्धि प्रतीत होता है जिसको लोभ के कारण यह भी ध्यान न रहा कि स्वर्णमृग भी क्या संभव वस्तु है ? उसका अहंकार अंत में ईश्वर को अनुत्तीर्ण कर देता है। भई, यह तो स्वाभाविक है कि मैं और ईश्वर एक साथ नहीं रह सकते हैं—

जब मैं था तब प्रभु नहीं अब प्रभु हैं मैं नाहिं।
प्रेमगली अति साँकरी ता में दू न समाहिं ।।

तो, रावण अहंकार के कारण ईश्वर से दूर चला गया। रावण का दर्शन क्या है, जरा इस संदर्भ में मैं आपको कुछ बातें बताऊँ। रावण शक्ति को स्वीकार करता है। भौतिकवादी विज्ञान की जो मान्यता है, रावण उसके बहुत निकट है। इसका तात्पर्य यह है कि भौतिक विज्ञान का पंडित पदार्थ में शक्ति को मानता है और वह निरंतर उस शक्ति को प्रकट करने की चेष्टा करता है। वह यह मानता है कि वस्तु से जिस शक्ति को हम प्रकट करते हैं वह हमारे अधिकार में आ गई और उसे हम अपनी इच्छा के अनुकूल चला लेंगे। इसलिए विज्ञान की प्रतिक्षण चेष्टा यही है कि वह पदार्थ को शक्ति में परिवर्तित करता रहे और शक्ति को अपनी इच्छानुकूल चलाता रहे।

भौतिक विज्ञान और आध्यात्मिक विज्ञान में अंतर कहाँ है ? भौतिक विज्ञान ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता पर शक्ति की सत्ता पर विश्वास करता है। आध्यात्मिक विज्ञान यह मानता है कि जब शक्ति की सत्ता है तो शक्तिमान भी है। यहीं वास्तविक मतभेद है। भौतिक विज्ञान ईश्वर की सत्ता में विश्वास न करते हुए कहता है कि हम तो निरंतर पदार्थों को शक्ति में परिणत करेंगे और अपनी इच्छानुकूल उसका समाज में उपयोग करेंगे। आध्यात्मिक विज्ञान कहता है कि शक्ति के बाद शक्तिमान की खोज करो। शक्ति है तो शक्ति का स्वामी शक्ति-मान भी है। बस, यही अंतर है। भौतिक विज्ञानी कहता है कि शक्ति जिसके पास है वही शक्ति का स्वामी है और आध्यात्मिक विज्ञान कहता है—नहीं शक्ति तो माँ है, शक्ति के हम बेटे हो सकते हैं, शक्ति के स्वामी नहीं हो सकते। शक्ति का स्वामी तो एकमात्र ईश्वर ही हो सकता है।

अब रावण के दर्शन में, अयोध्या के दर्शन में और जनकपुर के दर्शन में जो अंतर है उस पर विचार करके देखिये। रावण सीताजी को चुरा-कर ले जाता है। उसका अभिप्राय शक्ति की प्राप्ति है। सीता के चरणों में वह प्रणाम भी करता है और इसी नाते कई लोग प्रमाणपत्र दे देते हैं कि रावण बड़ा भारी भक्त था। जितने स्वार्थी और भोगवादी व्यक्ति होते हैं वे अपनी आकांक्षा और अभीप्सा की पूर्ति के लिए कब प्रणाम नहीं करते ? तभी तो अंगद जब रावण की सभा में आये तो सारे सदस्य उठकर खड़े हो गये। **'उठे सभासद कपि कहुँ देखी'** (६।१८।८)। रावण को क्रोध इस बात पर आ गया कि मेरी जिस सभा में आकर इंद्र, वरुण, कुबेर तक झुक जाते हैं वहाँ एक बंदर को देखकर स्वागत किया गया यह हमारे लिये बड़ी लज्जा की बात है। पर बेचारे राक्षस अंगद का स्वागत नहीं कर रहे थे वे तो अंगद को हनुमान समझ बैठे थे और उन्हें याद आ गयी कि इसी ने लंका जलाई थी, और यदि स्वागत नहीं करेंगे तो अब यह शायद हमीं लोगों का नाश कर देगा। वे बेचारे डर के मारे खड़े हो गये थे। रावण ने निर्णय किया कि सभासद को बाद में देखेंगे। अभी अगर बंदर के सामने उनको डाटेंगे तो उसे और मजा आवेगा। अंगद ने जानबूझकर खेल किया। अंगद ने कहा—तुम अथवा तुम्हारी सभा का कोई सदस्य अगर मेरे पैर को उठा देगा तो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि राम हार स्वीकार कर लेंगे और सीताजी तुम्हारे पास रह जायेंगी। उन्होंने कहा—

जौं मम चरन सकसि सठ टारी। फिरहिं रामु सीता मैं हारी॥
६।३३।९

कई बेचारे कमजोर दिलवाले तो आज भी काँप जाते हैं कि यदि अंगद का पैर हट जाता तो क्या होता ? ये बेचारे इतने कमजोर हृदय के हैं कि अंगद का पैर तो नहीं हटा पर ये उस आतंक की कल्पना कर के आज भी भयभीत होते हैं। अंगद की योजना बड़ी दूरगामी थी। अंगद चाहते क्या थे ? देखिये, शक्ति का जो संघर्ष है वह तो बहुत पहले प्रारंभ हो गया था। शक्ति का प्राकट्य जनकपुर में हुआ। शक्ति के तीन नाते हैं—एक जनकपुर का, एक अयोध्या का और एक लंका का।

जनकपुर निष्काम कर्मयोगी का नगर है। वहाँ पर शक्ति को पुत्री मान लिया गया है। जनक पिता बनकर शक्ति को पुत्री के रूप में पाते

हैं और उसे शक्तिमान को समर्पण करने का संकल्प करते हैं। जब एक महान् तत्त्वज्ञ ने शक्ति को पाने के बाद शक्तिमान को समर्पण करने का निश्चय किया तो उसने शर्त लगा दी कि शक्ति का स्वामी धनुष को तोड़ते हुए अपनी शक्तिमत्ता का प्रमाण देकर उसे ले जाये। जैसा कि अखबारों में विज्ञापन दिया जाता है कि वस्तु मिली है प्रमाण देकर ले जाइये। किंतु शक्ति को पाने का इतना लोभ है कि लाखों व्यक्ति प्रमाण-पत्र देने के लिए आ गये। लाखों को लगा कि शायद हम ही इसके योग्य अधिकारी हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—

देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥
१।२५०।८

—सारे विश्व के लोग एकत्र हो गये। शक्ति को पाने का यह प्रलोभन प्रकट करता है कि लोगों में शक्ति को पाने की कैसी तीव्र व्यग्रता है। रावण और बाणासुर जैसे लोग भी उस प्रलोभन से आकृष्ट हो जनकपुर आते हैं। वे भी शक्ति को पाना चाहते हैं। देश-देश के राजा इस प्रयत्न में लगे हैं और उनका व्यंग्यात्मक चित्र भी तुलसीदासजी बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत करते हैं। पहले तो ज्योंही महाराज जनक के बंदी प्रतिज्ञा करते हैं कि धनुष तोड़ने वाले को सीताजी मिलेंगी, सारी सभा में भग-दड़ मच जाती है। यही शक्ति पाने की होड़ है। हमसे पहले कोई शक्ति पर अधिकार न कर ले! अगर शक्ति का स्वामी किसी को होना है, श्री का स्वामी होना है, समृद्धि का स्वामी होना है, तो हमें ही होना है। इस होड़ में वे असफल हो गये। इनके असफल हो जाने पर तुलसीदास-जी ने और बड़ा व्यंग्य भरा वर्णन किया कि अब दस हजार राजा एक-त्रित हो गये।

भूप सहस दस एकहि बारा। लगे उठावन टरइ न टारा॥
१।२५०।१

—दस हजार राजा मिलकर एक ही साथ प्रयास कर रहे हैं। कितने बड़े अविवेक का लक्षण है! जब इन राजाओं को ज्ञात है कि विवाह केवल एक ही होगा तो ये दस हजार मिल कर प्रयास क्यों कर रहे हैं? इसका तात्पर्य यह है कि मिलते समय भी मन में संकल्प है—दस हजार मिलकर धनुष तोड़ो और बाद में आपस में लड़ो। नौ हजार नौ सौ

निन्यान्नवे का सिर काटो तब कहीं एक का विवाह होगा। जितने शक्ति के अभिलाषी होते हैं उनका गणित ही ऐसा होता है। चाहे वे अकेले प्रयास करें या संस्था और संगठन बनाकर प्रयास करें, लक्ष्य एक ही है। पर यहाँ अकेले प्रयास किया तो असफल हो गये। दस हजार लोगों ने संगठित होकर प्रयास किया तो भी अंत में उनका उद्देश्य एक दूसरे के सिर काटना है। कभी-कभी रामायण पढ़ने वाले बड़े आश्चर्य से प्रश्न किया करते हैं कि कितना बड़ा धनुष था जो उसे तोड़ने दस हजार राजा लग गये ? बहुत से लोग रामायण को गणित के ग्रंथ की तरह पढ़ते हैं, उसको साहित्य या अध्यात्म के ग्रंथ की तरह नहीं पढ़ते। यही बड़ी समस्या है। किसी वस्तु को पढ़ते समय आप कम-से-कम यह तो समझ लें कि आप पढ़ क्या रहे हैं। जैसे एक विद्यार्थी गणित पढ़े, वही भूगोल भी पढ़े और साहित्य भी। जब वह प्रश्नपत्रों का उत्तर दे तो सार्थकता इसमें नहीं कि बस, उत्तर दे दिया जाये, बल्कि इसमें है कि सही संदर्भ में उत्तर दिया जाये। बात को स्पष्ट करने के लिये, मान लीजिये भौतिक विज्ञान का प्रश्नपत्र है, और पूछ लिया जाये कि चंद्रमा में कालापन क्यों है, और कोई उत्तर में रामायण का दोहा लिख दे—

कह हनुमंत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरति बिधु उर बसति सोइ स्यामता अभास॥ ५।१२। (क)

—तो वह छात्र उत्तीर्ण हो जायगा क्या ? और इसी प्रकार, साहित्य का प्रश्नपत्र हो और उसमें रामायण का प्रश्न दुहराया जाय कि—

कह प्रभु ससि महुँ मेचकताई। कहहु काह निज निज मति भाई॥
६।११।४

—और आप उत्तर में आजकल के शोध के अनुसार चंद्रमा की कालिमा का कारण लिख दें, तो क्या रामायण के संदर्भ में वह सही उत्तर माना जायेगा ? इसका तात्पर्य यह है कि साहित्य की अपनी अलग दृष्टि है, दर्शन की अपनी अलग और भौतिक विज्ञान अपने अलग ढंग से सोचता है। अब दस हजार के अंक में आपको यह नहीं सोचना चाहिये कि सच-मुच कितने हजार हैं। वहाँ गोस्वामीजी का जो व्यंग्य है बड़ा सार्थक है। गोस्वामीजी ने अंक भी ऐसा चुना जिससे मानो व्यंग्य ध्वनित हो रहा हो। वह व्यंग्य क्या है ? इन राजाओं से यदि पूछा जाये कि विवाह

जब एक का होगा तो क्या इन दस हजार का एकत्र होना मूर्खता नहीं है, तो प्रत्येक राजा यही कहेगा कि दस हजार में भी अंक तो एक ही होता है, बाकी शून्य होते हैं, तो वह एक मैं हूँ और बाकी तो शून्य हैं जो मेरे पीछे खड़े हैं। विवाह केवल मेरा होगा, बाकी शून्य की तरह मेरी शक्ति बढ़ा रहे हैं। गोस्वामीजी ने गणित के संदर्भ में साहित्य को नया अर्थ दे दिया।

श्रीराम शबरी के आश्रम में गये। शबरी ने कहा—प्रभो, मैं तो छोटी जाति की हूँ, स्त्री हूँ। प्रभु ने कहा—जाति-वाति से मुझे क्या करना है? मैं तो जाति का नाता नहीं मानता, मैं तो केवल भक्ति का नाता मानता हूँ।

कह रघुपति सुनु भामिनी बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥
३।३४।४

फिर भगवान् ने दस वस्तुएँ गिनाई—जाति, पाँति, कुल, धर्म, बड़ाई, धन, बल, परिजन, गुण तथा चतुराई। प्रभु ने कहा—

भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥
३।३४।६

इसके बाद :प्रभु कहते हैं—'**नवधा भगति कहौं ते पाई।**' सबका चक्कर छोड़ो, नौ को चुनो। इसमें साहित्यिक व्यंग्य है। किसी से कहिये दस छोड़ो, नौ ले लो तो कौन तैयार होगा? दस लेगा या नौ लेगा? प्रत्येक व्यक्ति यही कहेगा कि हम घाटा क्यों सहें? हम तो दस लेंगे, नौ नहीं। पर भगवान् कहते हैं—शबरी, दस व्यर्थ है और नौ ठीक है। गणित के अर्थ में नहीं, बल्कि शुद्ध साहित्यिक रूप में भगवान् अपनी बात रखते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि देखने में तो दस ही बड़ा लगता है पर अंकशास्त्र के किसी विद्यार्थी से कहा जाय कि सबसे बड़ा अंक लिखो, तो वह नौ लिखेगा; उससे कहें—दो अंकों की सबसे बड़ी संख्या लिखो, तो दो बार नौ लिख देगा। जब भी लिखने को कहा जायगा, विद्यार्थी नौ की याद करेगा, दस की नहीं। इसका कारण यह है कि अंक नौ तक ही समाप्त हो जाता है। यह दस कौन है? अंकों में जो सबसे छोटा है वह एक, और अंकों में जिसका कोई दाम नहीं वह शून्य। दोनों ने मिलकर समझौता किया कि सबसे बड़े नौ को हम हरावें और इससे भी आगे

निकल जावें। इसका अर्थ क्या है ? सबसे कम दाम वाले के द्वारा निरर्थक शून्य के साथ मिलकर अपना मूल्य बढ़ाने की चेष्टा।

भगवान् का व्यंग्य यह था कि जाति-पाँति आदि के द्वारा जो अपना बड़प्पन बढ़ाना चाहते हैं वे अपनी क्षुद्रता के लिये शून्य का आश्रय ले रहे हैं, जिसका वस्तुतः कोई मूल्य नहीं। नौ का अभिप्राय तो एक रस रहनेवाला मूल्य है। इसीलिये उस संदर्भ में व्यंग्य यह है कि जो शक्ति का अभिलाषी होता है वह किस प्रकार मिथ्या शून्य या बड़प्पन का आश्रय ले लोकदृष्टि से स्वयं को ऊँचा उठाने का प्रयास करता है। पर जो शून्य है वह तो शून्य ही है, अतः वे दस हजार राजा नहीं थे बल्कि दस हजार शून्य थे। इसीलिये गोस्वामीजी कहते हैं—एक तो वस्तुतः अलग बैठा हुआ है। एक कहिये, चाहे नौ कहिये, या सर्व कहिये, वह तो ईश्वर है। और ये राजा लोग ऐसे हैं जिनमें से प्रत्येक व्यक्ति अपने को एक मानता है और दूसरे को शून्य। इसका अभिप्राय यह है कि सबकी दृष्टि में कोई सर्वमान्य एक है ही नहीं। इसका परिणाम यह होता है कि शक्ति की इस होड़ में राजा असफल हो जाते हैं। निराश हो जाते हैं। रावण आता है तो वह शब्द-चातुरी के द्वारा सीताजी को पाना चाहता है। व्यंग्य आता है हनुमन्नाटक में। उसमें रावण जनक से कहता है—पहले तुम इस कन्या का विवाह मुझसे कर दो, बाद में मैं धनुष तोड़ दूँगा। रावण ने बड़े तर्क का प्रयोग किया। उसने कहा, यह बताओ जिस व्यक्ति ने कैलास को उठा लिया, क्या वह धनुष नहीं उठा पायेगा ? ऊपर से तर्क बड़ा समझने योग्य है। आपने कभी इस प्रश्न पर विचार किया ? कहा जाता है कि शंकरजी कैलास पर्वत पर बैठे थे और रावण ने उनके-सहित कैलास को उठा लिया। तो शंकरजी का यह धनुष भी तो वहीं रहा होगा ! और न जाने कितने देवी-देवता, ऋषि-मुनि, पर्वत-वृक्ष सहित रावण ने उन्हें उठा लिया। तब रावण अकेले धनुष को उठा पाने में समर्थ क्यों न हुआ ? यही रामायण का दर्शन है जिस पर लोग कम ध्यान देना पसंद करते हैं। लोग केवल घटनाक्रम के रूप में उसे पढ़ना चाहते हैं। हाँ, तो क्या अभिप्राय है इसका ?

भगवान् राम धनुष कैसे उठा लेते हैं यह भी गोस्वामीजी ने बताया, तथा और लोग क्यों नहीं उठा पाते, इसकी भी उन्होंने विलक्षण व्याख्या की है। जनक की प्रतिज्ञा है सीताजी का विवाह उससे होगा जो धनुष को उठावे। इसका अभिप्राय यह है कि शक्ति का स्वामी वह है जो भार

उठावे। जो दूसरे के कंधे का भार बने वह शक्ति का स्वामी होने का अधिकारी नहीं है। पर संसार में जितने शक्ति के अभिलाषी हैं वे दूसरे के कंधे पर सवार होकर शक्ति का प्रदर्शन करना चाहते हैं। सेवा के लिये शक्ति नहीं चाहते, वे तो स्वामित्व और अहंकार की पूर्ति के लिये शक्ति चाहते हैं। इसीलिये तुलसीदासजी व्यंग्य करते हैं कि ज्यों-ज्यों राजा इस धनुष के पास जाते हैं त्यों-त्यों इसका बोझ बढ़ता जाता है। चाहिये तो यह था कि वे धनुष का बोझ उठा लेते किंतु वे राजा धनुष पर ही सवार हो गये। स्थूल अर्थ में इसे न समझिये।

गोस्वामीजी ने कहा—**'मनहुँ पाइ भट बाहुबल अधिकु अधिकु गरुआइ।'** (१।२५०) कोई भी व्यक्ति जब वस्तु को उठाना चाहे तो उसके लिये आवश्यक है कि वह उससे अलग हटकर खड़ा हो। इसको गोस्वामीजी ने अनेकों व्यंग्य प्रसंगों में बताया है कि वस्तुतः ये राजागण धनुष पर सवार होना चाहते हैं, अतः धनुष को उठाने की क्षमता कैसे रखेंगे? उसे तो केवल ईश्वर उठावेगा।

इसी को दूसरे संदर्भ में गोस्वामीजी कहते हैं—जब मेघनाद लक्ष्मणजी को शक्ति मारता है, लक्ष्मणजी मूर्छित हो जाते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि मेघनाद लक्ष्मणजी को उठाने की चेष्टा करता है किन्तु उठा नहीं पाता। इसको वे दार्शनिक ढंग से समझाते हैं—

मेघनाद सम कोटि सत जोधा रहे उठाइ।
जगदाधार सेष किमि उठै चले खिसिआइ॥ ६।५४

—लक्ष्मण उठ ही नहीं पाये क्योंकि वे जगदाधार हैं, शेष हैं। मेघनाद कहाँ खड़ा है? पृथ्वी पर। पौराणिक मान्यता है कि पृथ्वी शेष पर विराजमान है और लक्ष्मण शेष के अवतार हैं। इसका तात्पर्य क्या है? जिनके आधार पर मेघनाद खड़ा है उन्हीं को उठाने की चेष्टा करेगा तो कैसे उठा पावेगा? इसका तात्पर्य यह है कि मेघनाद यह तो देखता है कि मुझ में भार उठाने की शक्ति कितनी है पर यह नहीं देखता कि मुझ सहित भार उठाये हुए कौन है। यही कार्य-कारणभाव का संकेत है। व्यक्ति बहुधा यही देखता है। एक व्यक्ति अपने सिर पर कोई बोझ ले ले और वह गर्व करे कि मेरे सिर पर तो एक मन का बोझ है, तब उसे दर्द होगा जब वह ऊपर की ओर देखेगा कि मेरे सिर पर क्या है। जब वह सोचेगा कि एक मन का बोझ लिया हुआ यह शरीर भी पृथ्वी पर बोझ

है, ऐसे अनगिनत बोझ उठानेवालों का बोझ पृथ्वी ने उठा रखा है, तब व्यक्ति को अपना बोझ उठाने पर गर्व होगा क्या ? इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति मूल शेष-तत्त्व पर, कारण-तत्त्व पर विचार नहीं करता। कार्य को देखकर कर्म करता है इसलिये ऐसा होता है। राजा लोग सोचते हैं कि समष्टि-अहंकार के देवता धनुष को व्यष्टि अहंकार द्वारा उठा लें। व्यष्टि-अहकार समष्टि-अहकार को उठावेगा कैसे ? वह तो स्वयं समष्टि अहंकार का आश्रित है। शंकरजी समष्टि-अहंकार के देवता हैं और राजा लोग व्यष्टि-अहंकार को लेकर चले, इसलिए व्यष्टि-अहंकार के लिये संभव नहीं कि वह समष्टि-अहंकार को उठा सके। ऐसी स्थिति में राजाओं की असफलता स्वाभाविक है।

आगे चलकर आप देखेंगे, भगवान् राम से परशुरामजी ने कहा कि धनुष तुमने तोड़ा। यदि भगवान् भी यह कहते कि धनुष मैंने तोड़ा तो धनुष टूटने वाला नहीं था। इसका अभिप्राय यह है कि 'मैं' से 'मैं' का कैसे विनाश होगा ? वह तो अकर्तृत्व से ही कर्तृत्व पर विजय हो सकती है। इसीलिये भगवान् राम ने आदि से लेकर अंत तक अपने आप को धनुष उठाने वाले के रूप में कभी नहीं देखा। अब रावण के संदर्भ में विचार कीजिये—है तो थोड़ी रूखी-फीका बात। **रावण शंकरजी को उठाता है और शंकरजी उठ गये**। इसका अर्थ क्या है। रावण शंकरजी को गुरु मानता है। 'गुरु' शब्द का अर्थ आप जानते होंगे। गुरु शब्द का एक अर्थ होता है 'विपत्तिजन्य', और उसका दूसरा अर्थ है 'रूढ़'। 'विपत्तिजन्य' गुरु का अंधकारमय रूप है। और जब कोई वस्तु भारी होती है तो उसे कहते है रूढ़ अथवा गुरु, गुरुतर, जिसका कि हम सम्मान करते हैं। अब यह विचार कर देखिये कि गुरु स्वदृष्टि से गुरु है अथवा शिष्य-दृष्टि से ? शिष्य गुरु में बड़प्पन की कल्पना करता है अथवा गुरु स्वयं में ही अपने बड़प्पन की कल्पना करता है ? जो शिष्य की दृष्टि में गुरु है वह तो धन्य है, पर जो स्वदृष्टि में गुरु बना वह तो गया। श्रद्धा से शिष्य अपने गुरु में श्रेष्ठता आरोपित करे तो उसका कल्याण है, पर गुरु कहीं अपने में श्रेष्ठता आरोपित कर ले, अपने को गुरुत्व का अधिकारी मान ले तो कैसे चलेगा ? सच्चा गुरु तो स्वभाव से ही हल्का और निरहंकारी होता है। सबसे बड़ा बोझ अहंकार का होता है। सच्चे महापुरुष में अहं होता नहीं, अतः वह बिल्कुल हल्का होता है। रावण जैसे लोग क्या करते हैं ? वे गुरु का नाम तो लेते हैं मगर इस प्रकार मानो वे गुरु पर

कृपा कर रहे हों ! गोस्वामीजी की विवेचना देखिये । भगवान् शंकर का शिष्य बना रावण । उधर भगवान् राम गुरु वसिष्ठ के चरणों में प्रणाम करते हैं । दोनों में क्या अंतर है ? भगवान् राम लंका जीत कर आये तो उन्होंने गुरु वसिष्ठ के चरणों में सिर रख दिया । गुरु वसिष्ठ ने भगवान् राम को उठाया । हृदय से लगा लिया । भगवान् राम ने गद्गद होकर कहा—गुरुदेव, यही तो गुरु की कृपा है कि वह नीचे गिरे हुए शिष्य को अपने आश्रय से ऊपर उठा लेता है । आपने मुझे अपने चरणों से ऊपर उठाया यही महापुरुष का स्वभाव है । पर जब रावण शंकरजी को प्रणाम करता है तो कैसे करता है ? रावण ने कैलास पर्वत को शंकर सहित सिर पर रख लिया । तो, रावण का प्रणाम ऊँचा है या भगवान् राम का ? इसका तात्पर्य यह कि रावण यह मानता है कि संसार के चेले गुरु की कृपा से उठते होंगे, पर मैं वह चेला हूँ जो गुरु को ऊपर उठा लिया करता हूँ । मुझे किसी उठाने वाले की आवश्यकता नहीं । गोस्वामीजी कटाक्ष करते हैं कि रावण ने संसार को जीत लिया और तब उसने सोचा कि अब तो सब मेरे सामने हार गये । लेकिन उसको एक चिंता हो गई । उसने सोचा कि जब मैं कहूँगा कि मैंने सारे विश्व को जीत लिया तो लोग कहेंगे कि शंकरजी को तो नहीं जीता । अब अगर मैं शंकरजी से जाकर लड़ता हूँ तो निंदा होगी कि गुरु से लड़ा । और यदि कोई उपाय नहीं करता हूँ तो शंकरजी के सामने छोटा बना रहूँगा, तो फिर क्या करूँ ? अचानक उसके मन में विचार आया कि तराजू पर जब कोई वस्तु तौली जाती है तो यदि वह हल्की हुई तो ऊपर उठ जाती है और भारी हुई तो नीचे आ जाती है । अतः—

कौतुकहीं कैलास पुनि लीन्हेसि जाइ उठाइ ।
मनहुँ तौलि निज बाहुबल चला बहुत सुख पाइ ।। १।१७९

—ज्योंही उसने शिव सहित कैलास पर्वत को उठाया तो शिवजी उठ गये । वे स्वदृष्टि से तो भारी हैं ही नहीं, वे तो सच्चे गुरु हैं । अपनी दृष्टि में उनमें कहीं अहंकार नहीं है । रावण उठाने लगा तो मुस्कुराकर उठ गये । कैलास को उठाकर रावण ने संसार को धीरे से दिखा दिया कि मैंने ही इन्हें गुरु मान लिया है, हैं तो ये हल्के । वास्तव में गुरु तो मैं हूँ क्योंकि यदि मैं भारी न होता तो नीचे कैसे रहता और शिव हल्के न होते तो ऊपर कैसे उठ जाते ? इसलिये हल्के ये हैं और भारी मैं हूँ । पर जब

धनुष तौलने का सवाल आया तो रावण कैसे तौलता ? गोस्वामीजी यहाँ पर कटाक्ष करते हैं। वस्तु तौलने के लिए आपके पास केवल तराजू थोड़े ही चाहिये। तराजू के एक ओर आप वस्तु रखियेगा तथा दूसरी ओर बाट, तभी वस्तु तौली जायगी। रावण दुर्भाग्यवश गुरु को हल्का बना चुका है। यदि उसने गुरु को हल्का न बनाया होता तो आज शंकर की कृपा का आश्रय लेकर धनुष के उस गुरुत्व को लघुत्व में परिणत कर सकता था। आज रावण के पास तौलने का बाट तो था नहीं। धनुषयज्ञ की सभा में वह आया तो डर गया कि अगर धनुष न उठा तो क्या होगा ? रावण सार्वजनिक परीक्षा से बड़ा घबराता था। यदि सफल हो सकता तो घोषणा कर देता पर जहाँ विफलता का डर हो वहाँ लोगों के सामने परीक्षा देने को तैयार नहीं होता था। इसीलिये रावण यह सोचकर डर गया कि धनुष को न उठा पाया और असफल हो गया तो क्या होगा ! भगवान् राम ने कर्ता बन कर धनुष को नहीं उठाया। गोस्वामीजी का एक-एक वाक्य अपने आप में अनोखा है। जैसे, भगवान् राम की यात्रा में सर्वत्र जब भगवान् चलते हैं तो प्रसन्न और हर्षित मन से चलते हैं— **पुरुषसिंह दोउ बीर हरषि चले मुनि भय हरन।'** (२।२०८।ख) आगे चलकर भी कहते हैं—**'गुरु पद पदुम हरषि सिरु नावा।'** (२।८०।१) अथवा, **'हरषि चले मुनि बृन्द सहाया। बेगि बिदेह नगर निअराया॥'** (१।२११।४) सर्वत्र हर्ष का उल्लेख है।

इसके विपरीत, जब विश्वामित्रजी ने भगवान् राम से कहा कि धनुष तोड़ने को उठो, तो तुलसीदासजी ने यह नहीं लिखा कि भगवान् राम हर्षित मन से उठे और चले, बल्कि गोस्वामीजी लिखते हैं—

सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा। हरषु विषादु न कछु उर आवा॥
१।२५३।७

—न तो हर्ष है, न विषाद। यह अंतर क्यों है ? इसका तात्पर्य यह है कि हर्ष और विषाद कर्ता में हुआ करता है। भगवान् राम धनुष तोड़ने के लिये अकर्ता बनकर चल रहे हैं, इसलिये न तो उनको हर्ष है न विषाद। जहाँ कर्ता बनकर मनुष्य हर्ष स्वीकार करेगा वहाँ अहं से अहं नहीं उठेगा। इसलिये भगवान् राम में हर्ष-विषाद का अभाव है। दूसरा संकेत यह है कि जब किसी वस्तु को आप तराजू पर तौलते हैं तो वस्तु को तौलने के पहले तराजू को भी तौल लेते हैं। कई बेचारे तो इसी

धोके में मारे जाते हैं कि तराजू पर वस्तु तुल गई, ठीक ही होगी। घर पर ले जाकर तौला तो पता चला कि यह तो कम है। तराजू यदि ठीक न हो तो ऐसा होता है। पहले तराजू के दोनों पलड़े उठाकर देखिये, सम हैं या नहीं। तो जितने राजा धनुष को उठाने या तोलने चले उनकी तराजू विषम थी। गोस्वामीजी कहते हैं कि जनक की प्रतिज्ञा सुनते ही जितने राजा थे तुरंत उठे—**'परिकर बाँधि उठे अकुलाई'** (१।२३९।६). —व्याकुल हो गये और उससे तराजू का पलड़ा विषम हो गया। विषम तराजू लेकर बिना मापदंड के जो धनुष तोड़ने जायेंगे वे बिचारे क्या तौलेंगे ? भगवान् राम चले तो तराजू बिल्कुल सम थी—

सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा। हरषु बिषादु न कछु उर आवा॥
१।२५३।७

—हर्ष आ जाये तो भी तराजू का पलड़ा नीचे चला जाय और विषाद आ जाये तो भी। इसलिये न तो हर्ष, न विषाद। निमित्त बनकर भगवान् चले, कर्ता बन कर नहीं, इसलिये स्वयं उठे भी नहीं। सब राजा तो स्वयं उठकर गये लेकिन भगवान् राम से जब तक विश्वामित्र ने नहीं कहा तब तक वे नहीं उठे। विश्वामित्र में संकल्प आया कि तोड़ो। भगवान् राम में स्वतः कोई संकल्प नहीं है और जब वे धनुष के समीप गये तो किसी ने तुलसीदासजी से पूछा—अचानक इतना भारी धनुष हल्का कैसे हो गया ? राजाओं को भी यही आश्चर्य था कि हम दस हजार व्यक्ति मिलकर प्रयास करते रहे और यह खिसका तक नहीं, और ये आये तो इनसे इतनी सरलता से उठ गया कि हमने देखा भी नहीं। तराजू पर जब वस्तु रखी जाती है तो क्या उस पलड़े को हाथ से उठाया जाता है ? तराजू पर आप जब वस्तु रखते हैं तो उस पलड़े को उठाने का उपाय यह नहीं है कि आप उस तराजू के धागे को पकड़कर उठा लें। इससे तो काम और उल्टा होगा। उसका उचित उपाय यह होगा कि दूसरे पलड़े पर कोई भारी माप रख दीजिये। और तब देखिये, आपके बिना प्रयास के वह उठ जायेगा। भगवान् राम से धनुष उठ क्यों गया ? गोस्वामीजी कहते हैं—तराजू सम था, धनुष एक ओर था और भगवान् राम ने दूसरे पलड़े पर एक वस्तु रखी और धनुष उठ गया। गोस्वामीजी के शब्द हैं—

गुरुहि प्रनामु मनहिं मन कीन्हा । अति लाघवँ उठाइ धनु लीन्हा ॥
१।२६०।५

—अब तक यह धनुष नकली गुरु बना हुआ था लेकिन ज्योंही असली गुरु का स्मरण किया, नकली गुरु लघु हो गया । इसका अभिप्राय यह है कि अब तक जड़ की गुरुता थी जब चैतन्य गुरु के चरणों का आश्रय लिया गया तो सहज भाव से धनुष हल्का होकर टूट गया, विनष्ट हो गया। बिना कर्तृत्व के कर्म को कर्तायुक्त कर्म पर विजय प्राप्त हो गई । श्रीराम के कंठ में जयमाल पड़ गई । अस्तु ।

तो, शक्ति पाने की एक प्रक्रिया वह है जहाँ गोस्वामीजी ने 'गुरु' और 'लघु' शब्दों का प्रयोग किया । धनुष तभी तक गुरु था, भारी था जब तक उससे भारी कोई नहीं आ गया। भगवान् राम ने यह कभी नहीं स्वीकार किया कि मैंने पुरुषार्थ के द्वारा धनुष तोड़ा । उन्होंने कहा कि यह संकल्प तो गुरुदेव का था कि धनुष टूटे और उस संकल्प से वह टूट गया; राम तो धनुष-भंग के केवल निमित्त के रूप में दिखाई दे रहा है।

दूसरी ओर, रावण संकल्प करता है कि सीता को पाना है—फिर चाहे जैसे भी शक्ति मिले । 'हनुमन्नाटक' में वर्णन आता है, रावण जनक से कहता है कि पहले विवाह कर दीजिये, बाद में धनुष तोड़ देंगे । उसने यह तर्क दिया कि जो व्यक्ति कैलास को उठा लेता है उसे धनुष उठाने में क्या कठिनाई है ? जनक कहते हैं—उठा सकते हो तो उठाते क्यों नहीं ? रावण कहता है—मैं तो पंडित हूँ, मैं शास्त्रीय विधि का पालन करना चाहता हूँ । उसने ज्यतिष शास्त्र का एक बड़ा दुरुपयोग किया । ज्योतिष शास्त्र में बारह राशियाँ मानी जाती हैं । एक राशि का नाम है 'कन्या' और एक का 'धनु' । कन्या छठी राशि है और धनु नवीं । रावण ने कहा—'जनक, विचार करके देखो, ज्योतिष शास्त्र में भी पहले कन्या है बाद में धनु । तुम ज्योतिष को उलटना चाहते हो, इसलिए पंडित नहीं हो । पर हम तो पंडित हैं इसलिये पूर्णता चाहते हैं ।" जनक ने बड़ा बढ़िया उत्तर दिया । हनुमन्नाटक में आता है कि जनक ने कहा, "अच्छा, आप नक्षत्र विद्या में बड़े कुशल हैं !" व्यंग्य यह था कि जिस समय वीरता की आवश्यकता है उस समय नक्षत्र विद्या के गणित की याद दिलाना केवल भागने की चेष्टा है । इस प्रकार हम देखते हैं कि रावण केवल शब्दचातुरी के द्वारा सीताजी को पाना चाहता है । पर जनक उसे निराश कर देते हैं और वह वहाँ से चला जाता है । इसके

बाद रावण सीताजी को चुराने की चेष्टा करता है। यहाँ भी वही बात। शक्ति को चाहे जैसे भी पा लो—छल या बल किसी भी तरह शक्ति पर अधिकार कर लो ! रावण की शक्ति के प्रति तो आस्था है, ईश्वर से विरोध है। इसलिये जब वह दंडकारण्य में सीताजी का हरण करने के लिये चलता है तो गोस्वामीजी शब्द लिखते हैं कि—

'मन महुँ चरन बंदि सुख माना'। ३।२७।८

—रावण सीताजी के चरणों में प्रणाम करता है। इस दर्शन को सही न समझनेवाले लोग इस प्रमाण के आधार पर कह देते हैं कि रावण तो महान् भक्त था। अरे, यदि रावण महान् भक्त था तो बुरा फिर कौन था ? शक्ति के सामने सिर झुकाने से ही क्या कोई भक्त बन जाता है ? जितने सत्तालोलुप और स्वार्थी लोग होते हैं वे तो सत्ता या शक्ति के सामने सदा ही सिर झुकाते हैं। अंगद ने रावण से जान बूझकर यही व्यंग्य किया। जब उन्होंने यह कहा कि मेरा पैर हटा दो तो सीताजी नहीं जायेंगी तो यह रावण को मुँहतोड़ उत्तर था। मंदोदरी ने रावण से पूछा, "तुम अगर सीता को पाना चाहते थे तो सीता को पाने का मार्ग खुला हुआ था। जनक ने राम से तो सीता का विवाह एकदम से नहीं कर दिया। जनक ने तो प्रतिज्ञा की थी कि जो धनुष उठावेगा उसे मैं अपनी कन्या दूँगा। तुम्हीं जाकर धनुष तोड़कर सीता को पा लेते।" रावण वचन-रचना में चतुर तो था ही। उसने कहा, "मंदोदरी, मेरे लिये धनुष तोड़ना कोई कठिन तो था नहीं, पर मैंने सोचा कि गुरुदेव के धनुष को तोड़कर विवाह करना ठीक नहीं है। इसीलिये गुरु के प्रति आदर के नाते मैंने ऐसा नहीं किया।" रावण के इस धूर्ततापूर्ण उत्तर का वास्तविक रूप तो आगे चलकर अंगद ने स्पष्ट किया। अंगद ने रावण की सभा में पैर जमा दिया और कहा, "जाने दो, विदेहनगर में जो यज्ञ हुआ था उसकी चर्चा छोड़ो। चलो, हम लंका में एक यज्ञ फिर से किये दे रहे हैं। अब यह तो बंदर का पैर है, गुरुजी का कोई धनुष नहीं। एक बार शक्ति को पाने का फिर से प्रयास करके देख लो। अगर आज तुम मेरे चरण को हटा दो तो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि **'फिरहिं रामु सीता मैं हारी'।"** रावण पहले तो थोड़ी देर शांत बना बैठा रहा फिर दूसरों से बोला—"उठो, उठो"। जब सब थक गये तो अंत में अंगद ने कहा—अब तो तुम ही बचे हो। और जब रावण उठकर खड़ा हुआ

तो हँसकर अंगद ने उसे देखा—व्यंग्य यह था कि जब मुझे देखकर राक्षस खड़े हुए तो तुम्हें बुरा लगा था पर अब तो तुम भी खड़े हो गये। वे लोग तो डर के मारे खड़े हुए थे और तुम लोभ के मारे खड़े हो गये। बात एक ही है, केवल वृत्ति का अन्तर है। उनमें भय है, तुममें लोभ है। वे भयभीत हैं, तुम लोभग्रस्त हो। ठीक है, अगर बंदर का पैर उठाने से शक्ति स्वरूपा सीताजी मिल जाती हैं तो यही सही। शक्ति के प्रति रावण की जो लोभदृष्टि है यहाँ पर उसका चित्र खींचा गया है।

रावण ऐसा कभी नहीं मानता कि राम ईश्वर हैं। इसका एक बड़ा दार्शनिक संकेत आपको मिलेगा। रावण को मंदोदरी उपदेश देती है। वह उसे भगवान् राम का विराट रूप बतलाते हुए कहती है—

पद पाताल सीस अज धामा। अपर लोक अँग अँग बिश्रामा॥
६।१४।१

—यह सारा ब्रह्मांड श्रीराम का शरीर है और उन राम का भजन करना चाहिये। रावण ने मंदोदरी का भाषण सुना। रावण ने कहा—मंदोदरी, तुम इतने दिनों तक मेरे निकट रहीं पर तुम्हारी योग्यता से तो मैं आज ही परिचित हुआ। इसके पहले मैं तुम्हारी महानता और ज्ञान से परिचित नहीं था। मंदोदरी ने सोचा कि अब शायद मेरी बात मानकर ये भक्त हो जावेंगे पर रावण ने जो व्याख्या प्रस्तुत की वह तो उसके दर्शन के ही अनुकूल थी। रावण ने कहा—

तव बतकही गूढ़ मृगलोचनि। समुझत सुखद सुनत भवमोचनि॥
६।१५।८

—हे मृगलोचनी, तुम्हारी कही बात बड़ी गूढ़ है, गंभीर है। आगे कहा—

जानहुँ प्रिया तोरि चतुराई। एहि बिधि कहेहु मोरि प्रभुताई॥
६।१५।५

—तुमने चतुराई से कैसा बढ़िया मेरा वर्णन किया है। यह वर्णन तो उस राम का नहीं है, वह राम तो छोटा-सा है। जब तुमने कहा कि सारा ब्रह्माण्ड ही राम का शरीर है तब मैं समझ गया कि यह मेरा ही वर्णन है क्योंकि सारे ब्रह्माण्ड को मैंने अपने अधीन कर रखा है। सारा ब्रह्माण्ड मेरी इच्छा के अनुकूल चलता है। मैं समझ गया कि तुमने बार-

बार राम का नाम क्यों लिया। पतिव्रताएँ अपने पति का नाम नहीं लेतीं, तब भला तुम मेरा नाम कैसे लेतीं ? इसीलिये तुमने जानबूझकर मेरा नाम 'राम' रख दिया ! कोई बात नहीं, मेरे अनेक नामों में एक नाम 'राम' ही सही। रावण का दर्शन क्या है ? यह कि राम की पत्नी सीता नहीं, पर सीता जिसके पास हैं वह राम है। शक्ति जिसके पास है वह शक्तिमान है। रावण यह नहीं मानता कि शक्ति का स्वामी कोई अलग शक्तिमान होता है। भौतिकवादी यही मानता है कि शक्ति जिसके पास है वही शक्ति का स्वामी है। जब लंका जलने लगी और माल्यवान ने कहा कि देखो, ईश्वर की प्रतिकूलता को देख लो तो रावण कहता है—कौन होता है ईश्वर ? कोई ईश्वर नहीं है। मैंने प्रकृति की सारी शक्तियों को, सारी वस्तुओं को अपने वशीभूत कर लिया है। अतएव रावण का दर्शन शक्ति को तो स्वीकार करता है, पर शक्तिमान को नहीं।

इसके विपरीत अध्यात्म विज्ञान कहता है कि शक्ति का पति एकमात्र ईश्वर ही है। पति छोड़कर शक्ति से और कोई भी नाता जोड़ लो। जनकपुर और अयोध्यावालों ने कितना बढ़िया नाता जोड़ा। जनकपुर में सीताजी पुत्री हैं और अयोध्या में पुत्रवधू। वे किसी की माता हैं तो किसी की भाभी। उनके स्वामी तो एकमात्र श्री राम हैं। इसका अभिप्राय यह भी है कि शक्ति का स्वामी बनकर व्यक्ति ईश्वर को चुनौती देता है जब कि शक्ति का पुत्र बनकर वह माँ के प्रताप को पाने का अधिकारी हो जाता है। इसीलिये हम शक्ति को माता कहकर पुकारते हैं। यह शक्ति आपको तीनों क्षेत्रों में दिखाई देगी। जनकपुर में इनका प्राकट्य होता है, अयोध्या में ये निवास करती हैं और लंका में अपहृत कर ले जाई जाती हैं। इस प्रकार इनके तीन रूप दिखाई देते हैं। ये तीन रूप हैं—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥ १।०।५

—इनका उद्भव-रूप जनकपुर में दिखाई देता है, पालक-रूप अयोध्या में और संहारक-रूप लंका में। रावण ने सोचा था कि शक्ति के द्वारा लंका की समृद्धि में वृद्धि होगी। पर जिस दिन से सीताजी लंका में आईं, लंका का विनाश होने लगा। जहाँ पर भी शक्ति का स्वामी बनने की चेष्टा की जावेगी वहाँ पर परिणाम ऐसा ही होगा।

इन तीन नगरों के द्वारा तीन दर्शन सामने आते हैं जिनमें सर्वोत्कृष्ट दर्शन जनक का है, जो विदेह का दर्शन है। लेकिन भगवान् राम की लीला का केन्द्र विदेहनगर नहीं है और न वह देहनगर ही है। वह तो मध्य में अयोध्यानगर है। इस अयोध्यानगर में ही रामराज्य की स्थापना होती है। क्रम की दृष्टि से देखिये, भगवान् राम जनकपुर जाते हैं, वहाँ शक्ति और ब्रह्म का मिलन होता है तथा धनुर्भंग के द्वारा विदेह-दर्शन की संपूर्ति होती है। उसी संदर्भ में गोस्वामीजी अपने काव्य के श्रृंगार अंग को भी पूर्ण कर देते हैं। गोस्वामीजी के सामने यह भी तो प्रश्न था कि ईश्वर जब व्यक्ति के रूप में अवतार लेगा तो श्रृंगार और काम को जीवन में स्वीकार करेगा या नहीं? यदि श्रृंगार और काम को वह स्वीकार नहीं करेगा तो फिर वह तो पूर्ण चित्र उपस्थित नहीं कर पावेगा। तुलसीदासजी ने तुरंत निर्णय किया कि अगर श्रृंगार और काम का वर्णन करना ही है तो वह विदेहनगर में ही करना ठीक होगा, देहनगर में नहीं। राम का श्रृंगार, राम का रूप, राम का विवाह और राम का काम—सब विदेहनगर में है। इस प्रकार सौंदर्य और श्रृंगार की अभिव्यक्ति की पूर्णता विदेहनगर में होती है। इसका अभिप्राय यह है कि देहनगर में बिना प्रवेश किये यदि श्रृंगार और काम को स्वीकार कर सकते हैं तो कीजिये। पर यहाँ तो लोग देह को ही श्रृंगार तथा सब कुछ का केन्द्र मानते हैं।

जनक की मान्यता थी कि संसार का रूप मिथ्या है, पर मनुष्य केवल निषेध में जीवित नहीं रह सकता। आप किसी मिथ्या का वर्णन कीजिये तो व्यक्ति को संतोष नहीं होगा। मिथ्या के द्वारा बुद्धि को खाद्य भले ही मिले पर व्यवहार कैसे चलेगा? कोई डाक्टर आपके सामने आकर भाषण देने लगे कि यह खाना ठीक नहीं, वह भी ठीक नहीं इसमें यह दोष है और उसमें वह, तो बुद्धि चाहे उसे स्वीकार कर ले, पर अंत में व्यक्ति कहेगा कि कुछ खायेंगे भी या केवल आपका भाषण सुनकर पेट भरेंगे? इसका अभिप्राय यह है कि यदि आप मिथ्या का वर्णन करते हैं और सत्य का वर्णन नहीं करते, तो मिथ्या से भले ही व्यक्ति को क्षणिक बौद्धिक संतोष मिले पर जीवन कैसे चलेगा? तो, जनक का ज्ञान अधूरा था उनमें सृष्टि के मिथ्यात्व का निश्चय तो था पर ईश्वर के सत्यत्व में सौंदर्य का भी सत्यत्व है इसकी अनुभूति नहीं थी। भगवान् राम राजा जनक को सौंदर्य का पुजारी बनाते हैं, विरागी के साथ रागी बनाते हैं

और उनको निर्गुण में सगुण के समन्वय के साथ-साथ ले चलते हैं। जनक निर्गुण-निराकारनिष्ठ थे परंतु सगुण-साकार ब्रह्म को देखकर कहने लगे—**'प्रमुदित हृदय कहत अस भल भवसागर।'** पहले तो वे भव-सागर की निंदा ही किया करते थे। पर गोस्वामीजी कहते हैं—जनक ने अब यह कहा कि भवसागर धन्य है जिसमें राम जैसा रत्न प्रकट हुआ करता है। हम उसे मिथ्या कैसे कहें ? मानो संसार की भी सार्थकता हो गई जहाँ ईश्वर सगुण-साकार बनकर अवतरित होता है पर अपनी लीला के द्वारा शृंगार और काम को सार्थक करते हुए भी उससे विमुक्त रहता है।

इसे सूत्र के रूप में यों कह सकते हैं। जब ईश्वर अवतार लेता है तो उसमें क्रोध दिखाई देता है या नहीं ? उसमें काम दिखाई देता है या नहीं ? उसमें लोभ दिखाई देता है या नहीं। ये तीनों ही दिखाई देते हैं। रावण यही तो निष्कर्ष निकालता है। रावण के सामने जब भी कोई श्री-राम की महिमा का वर्णन करता था तो वह कहता था तुम्हें पता नहीं है, वह राज्य छोड़कर नहीं आया है—**अगुन अमान जानि तेहि दीन्ह पिता बनवास** (६।३१।क)—पिता ने जब समझा कि लड़का किसी काम का नहीं, तो घर से निकाल दिया। यह निकाला गया लड़का है, यह त्याग करके नहीं आया। रावण का तर्क क्या है ? वह कहता है कि जो सोने के मृग के पीछे भागे वह क्या राज्य छोड़ सकता है ? रावण को लगता है कि राम तो बड़ा लोभी है।

ईश्वर में गोस्वामीजी काम का भी वर्णन कर देते हैं। पुष्पवाटिका के प्रसंग में कहते हैं, श्रीराम के कानों में श्रीसीताजी के आभूषणों की ध्वनि गई—

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन रामु हृदयँ गुनि॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही॥
१।२२९।१-२

तो कहने लगे—लक्ष्मण, तुमने सुना, यह कैसी ध्वनि सुनाई दे रही है। भगवान् राम ने अभी सौंदर्य नहीं देखा। कानों में आभूषणों की ध्वनि सुनकर लक्ष्मण से कहते हैं—ऐसा प्रतीत होता है जैसे कामदेव सारे विश्व को जीतने का संकल्प लेकर बाजे बजाता हुआ आ रहा हो। इस तरह काम की भी स्वीकृति दे दी गई।

क्रोध की भी स्वीकृति का वर्णन आता है—**कोपेउ समर श्रीराम** (३।१६।छं-२) अब यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि ईश्वर भी काम, क्रोध और लोभ को स्वीकार करता है तो ये गुण हैं या दोष ? गोस्वामीजी इसका बड़ा सार्थक उत्तर देते हैं। वे कहते हैं—

काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा ॥
७।१२०।३०

काम वात है, क्रोध पित्त और कफ लोभ है। वैद्य के पास जब आप दवा लेने जाते हैं तो वह क्या करता है ? क्या वह आपके शरीर से कफ, वात और पित्त को पूरी तरह से निकाल देता है ? अगर कोई वैद्य ऐसी दवा दे जिससे कफ, वात और पित्त पूरी तरह मिट जाये तो उससे रोग ही नहीं बल्कि रोगी भी मिट जायेगा। इसका अभिप्राय यह है कि वैद्य कफ, वात और पित्त को मिटाता नहीं बल्कि उनकी विषमता को दूर करता है। अतएव यदि काम, क्रोध और लोभ क्रमशः वात, पित्त और कफ हैं तो उनको पूरी तरह नष्ट कर देने से समाज का काम कैसे चलेगा। उन्हें तो समत्व में लाना होगा, और यह एक कला है। भगवान् राम ने इस कला का प्रदर्शन जनकपुर में किया। काम, क्रोध और लोभ तीनों की ही स्वीकृति जनकपुर में है। काम की उत्कृष्टता पुष्पवाटिका में है, क्रोध की उत्कृष्टता धनुष यज्ञ में और लोभ की उत्कृष्टता दहेज के प्रसंग में जनकपुर के मंडप में। हमारी कठिनाई यह है कि हमारे जीवन में काम, क्रोध और लोभ गलत दिशा में मुड़े हुए हैं। हम लोगों ने तीन पहरेदार बना लिये हैं—एक काम, दूसरा क्रोध और तीसरा लोभ। भूतवादी क्रोध वर्तमान का काम और भविष्य का लोभ। क्रोध क्यों आ रहा है ?—यह सोचकर कि ऐसा क्यों हो गया। तो, क्रोध भूतकाल को लेकर चलता है। सौंदर्य और शृङ्गार अभी चाहिये, उसके बिना इस समय मन में प्रसन्नता हो ही नहीं रही है। तो, काम वर्तमान को लेकर चलता है। और लोभ पर लोभ क्यों किये जा रहे हैं ? करोड़ों और अरबों की संपत्ति क्यों एकत्रित किये जा रहे हैं। यह सोचकर कि आगे क्या होगा ? तो, लोभ भविष्य को लेकर चलता है। अतएव काम, क्रोध और लोभ को हम जब स्वीकार करते हैं तो परिणाम क्या होता है ? भूतकाल की बातों पर क्रोध करने से वर्तमान नष्ट होता है। वर्तमान में काम को स्वीकार करने से भविष्य का विनाश होता है और भविष्य के लोभ की चिंता से

वर्तमान उपेक्षित हो जाता है। इस तरह काम, क्रोध और लोभ तीनों घातक हो जाते हैं। रामायण में इन तीनों की दिशा बदल दी गई है। वस्तुतः काम को बनाना चाहिये भूतोन्मुख, क्रोध को भविष्योन्मुख और लोभ को वर्तमानोन्मुख। जरा इसे स्पष्ट समझ लें। काम का संबंध सौंदर्य से है। सौंदर्य को देखकर यदि व्यक्ति उसके तत्काल उपभोग की कल्पना करे, तो उसके अंतःकरण में कलुष को छोड़कर और आ ही क्या सकता है ? किंतु सुन्दरता सदैव वासना की ही सृष्टि करती है क्या ? सुन्दरता को देखकर व्यक्ति में केवल वासना का उठना ही क्या उसका उपयोग है ? यदि सौंदर्य के साथ व्यक्ति भूतकाल में चला जाये तब तो निश्चित रूप से सौंदर्य मनुष्य के मन में वासना के स्थान पर भक्ति की सृष्टि करेगा। सुन्दरता देखकर यदि व्यक्ति को ध्यान आ जाये कि इस सौंदर्य का मूल उद्गम कहाँ है, तब तो ईश्वर की ही याद हो आवेगी। संसार में जो सौंदर्य है वह आया कहाँ से। इसका संकेत श्रीमद्भागवत में किया गया है। गोपियाँ श्रीकृष्ण के साथ रासमंडल में रास करते-करते अहंकार से भर जाती हैं कि हमारे सौंदर्य के कारण ही तो कृष्ण नाच रहे हैं। अचानक श्रीकृष्ण लुप्त हो जाते हैं। अहंकार आया कि भगवान् का दिखाई देना बंद हो गया। बाद में गोपियाँ श्रीकृष्ण को ढूँढ़ने निकलती हैं। वर्णन आता है कि एक बड़ी सुन्दर लता दिखाई देती है जिसमें एक सुन्दर सा फूल खिला हुआ है। फूल में बड़ी मनभावनी सुगंध है। एक गोपी ने दूसरी गोपी से कहा कि इस लता से जरा पूछना चाहिये कि श्रीकृष्ण किधर गये। इस पर दूसरी ने कहा कि इसे क्या पता ? पहली ने कहा कि यहाँ तक श्रीकृष्ण आये यह तो निश्चित है; यहाँ से किधर गये यही संदेह है, और उसे इस लता से पूछकर निर्णय कर लेना चाहिये। इस पर दूसरी गोपी ने कहा कि तुम्हें कैसे पता कि श्रीकृष्ण यहाँ तक आये। इस पर सखी कहती है—अगर हमारे प्रियतम श्रीकृष्ण ने न छुआ होता तो इस फूल में इतनी सुगन्ध कहाँ से आती ? जाते हुए उनका हाथ इस लता पर पड़ गया होगा और इससे सुगन्ध आ गई होगी। यह है सौंदर्य को देखने की सच्ची दृष्टि। फूल का सौंदर्य देखा और ईश्वर तक बात पहुँच गई। वाटिका में फूलों को तो न जाने कितने लोग देखते हैं, पर ईश्वर की याद कहाँ आती है ? गोपियाँ आगे चलीं। देखती हैं, एक मृग है जिसके नेत्र बड़े सुन्दर और विशाल हैं। एक गोपी ने कहा इससे भी पूछना चाहिये, जरूर इसने भगवान् को देखा है। अब मृग की आँखें

देखकर भगवान् की याद आ रही है। फूल का सौंदर्य और सौरभ देखकर भगवान् की स्मृति आ रही है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस काम का मूल सौंदर्य है, उस सौंदर्य के मूल में भी तो ईश्वर ही है। पर हम सौंदर्य के भोक्ता बनना चाहते हैं, यही वासना की वृत्ति है। जहाँ सौंदर्य के मूल में ईश्वर की स्थिति का स्मरण है वहाँ व्यक्ति के अंत:करण में स्वभावत: निष्कामता और पवित्र भावना का संचार होता है।

श्रीसीताजी भगवान् राम की प्रिया हैं, पर भगवान् राम जब सीताजी के सौंदर्य को देखते हैं तो पहली बात आप क्या पायेंगे ? सौंदर्य को देखकर कलुष और गोपन की जो प्रवृत्ति उठती है वह नहीं है ? कोई व्यक्ति सौंदर्य को देखने के बाद क्या अपने छोटे भाई से अपनी मन:स्थिति का वर्णन करता है ? भगवान् राम के श्रोता हैं श्री लक्ष्मण। अनोखे हैं भगवान् राम। इनके शृङ्गार रस के दो ही श्रोता हैं—हनुमानजी और लक्ष्मणजी। श्रीराम को छोड़ ऐसा दूसरा कोई नहीं मिलेगा जो शृङ्गार रस का श्रोता या तो ब्रह्मचारी को चुने या फिर अपने छोटे भाई को। भगवान् राम के जीवन में जब वियोग आया तो हनुमान जी से कहने लगे कि मेरा संदेशा सीताजी को सुना देना—**कहि बल बिरह बेग तुम आयउ।** अब हनुमान क्या जानें कि विरह क्या होता है। नल-दमयंती के उपाख्यान में आता है कि बेचारा नल जब दमयन्ती से बिछुड़ गया तो रोते हुए कहने लगा—**'किं करोमि [illegible] गच्छामि रामो नास्ति महीतले'**—मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, राम इस संसार में होते तो उनको मैं अपनी व्यथा सुनाता क्योंकि पत्नी-वियोग का दु:ख तो वे ही जानते हैं। तो, नल बिचारा भगवान् राम की खोज में था और भगवान् राम को अपना दुख सुनाने को मिला एक ब्रह्मचारी ! हनुमानजी को छोड़कर जितने बंदर थे सभी गृहस्थ थे पर हनुमानजी ही भगवान् राम के श्रोता बनते हैं। श्रीराम वियोग-शृंगार का वर्णन बालब्रह्मचारी से करते हैं और संयोग-शृङ्गार का लक्ष्मण से। कहते हैं—**तात जनकतया यह सोई।** और भावना कितनी सुन्दर है ! सौंदर्य है, पर पाने की वृत्ति नहीं। कहते हैं—**धनुष जग्य जेहि कारन होई** (१।२३०।१) यह वही जनक की सुन्दरी पुत्री हैं जिनके कारण धनुष यज्ञ हो रहा है। इस प्रकार भगवान् राम ने अपनी यज्ञ भावना को ही रखा। क्या आप समझते हैं कि भगवान् राम बिना निमंत्रण के स्वयंवर में कभी आ सकते थे ? चतुर विश्वामित्र ने कहा था कि स्वयंवर नहीं, धनुष-यज्ञ हो रहा है। इसका अर्थ यह है कि बिना निमंत्रण

के विवाह में तो नहीं जाना चाहिये पर यज्ञ में निमंत्रण की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये। इसीलिये भगवान् यज्ञभावना लेकर आये थे और यही कारण है कि वे धनुष तोड़ने के लिये नहीं उठे। उन्होंने सोचा, मैं तो यह समझकर आया था कि यज्ञ है और यहाँ तो जुआ हो रहा है, प्रत्येक व्यक्ति सीताजी को होड़ की वस्तु समझ रहा है। तो, श्रीराम लक्ष्मणजी से कहते हैं—

तात जनकतनया यह सोई। धनुष जग्य जेहि कारन होई॥
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मनु छोभा॥
१।२३०।१-३

साथ ही और भी कहते हैं—**'पूजन गौरि सखीं लै आई'** (१।२३०।२)—इन सीताजी को ये सखियाँ पार्वतीजी का पूजन करने ले आई हैं। अगला शब्द और महत्त्व का है। गोस्वामीजी कहते हैं—**करत प्रकास फिरइ फुलवाई** (१।२३०।२)। सीताजी को देखकर भगवान् राम दीपशिखा से उनकी तुलना करते हैं—**छबिगृहँ दीपसिखा जनु बरई** (१।२२९।७)। मैं आपको स्मरण दिलाऊँ कि अरण्यकांड के अंत में गोस्वामीजी ने एक दोहा लिखा है। कई लोग गोस्वामीजी को नारी-जाति का विरोधी मानते हैं। वे कहते हैं कि गोस्वामीजी ने कई ऐसे प्रसंग लिखे हैं जिनसे उनका नारी विरोध प्रकट होता है और उन प्रसंगों में अधोलिखित यह दोहा भी है—

दीप सिखा सम जुबति तन मन जनि होसि पतंग।
भजहि राम तजि काम मद करहि सदा सतसंग॥ ३।४६ (ख)

—स्त्री का सौंदर्य दीपशिखा की तरह है; हे मन, तू पतंग मत बन। मानो गोस्वामीजी स्त्री जाति को दाहक मानते हैं। किंतु यह बात सही नहीं। दीपशिखा निंदा की वस्तु नहीं है। यदि दीपशिखा निंदा की वस्तु होती तो भगवान् राम सीताजी को दीपशिखा नहीं कहते। दीपक में प्रकाश और दाहकता दोनों हैं। जो प्रकाश ले ले वह धन्य है और जो प्रकाश न लेकर अपने को जलावे वह मूर्ख है। गोस्वामीजी कहते हैं—सौंदर्य भले ही दीपशिखा हो, पर तुम अपने मन को पतिंगा न बनाओ। अगर उससे प्रकाश ले सको तो ले लो। भगवान् राम सीताजी के सौंदर्य को देखकर कहते हैं—**करत प्रकासु फिरइ फुलवाई**—सीताजी अपने

सौंदर्य के द्वारा चारों ओर प्रकाश बिखेरती हुई वाटिका में घूम रही हैं।

इसका अभिप्राय यही है कि सौंदर्य तो वस्तुतः ईश्वर का प्रकाश ही है। यदि उसे देख मनुष्य में भोक्तापन की स्मृति उठे तो वह पतिंगे की तरह स्वयं अपना विनाश कर लेगा। पर यदि सौंदर्य को देख उसे उसमें ईश्वर के प्रकाश के दर्शन हों तो काम उसे नीचे की ओर जाने की वजाय ऊर्ध्व दिशा में ले जायेगा, ईश्वर की स्मृति करानेवाला वनेगा। यही काम को वर्तमान के स्थान पर भूत से जोड़ना है, मूल से जोड़ना है, क्योंकि मूल में ईश्वर है।

इस प्रकार, दो क्रोधी जनकपुर में मिलते हैं। एक हैं लक्ष्मण और दूसरे हैं, परशुराम। दोनों ही प्रसिद्ध क्रोधी हैं और दोनों का सम्मान होता है। जब परशुरामजी ने भगवान् राम से कहा—"राम, तुम कितने सज्जन हो पर तुम्हारा छोटा भाई तो खोटा है," तो लक्ष्मणजी ने हाथ जोड़ कर व्यंग्यपूर्वक कहा—**मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया**(१।२७७।१)—महाराज, हम तो आपके ही अनुयायी हैं। इसका अर्थ यह है कि यदि क्रोध बुरा है तो आप छोड़ दें तो हम भी छोड़ दें। और अगर आपके लिये वह अच्छा है, तो हमारे लिये बुरा क्यों है ? दूसरा तात्पर्य यह है कि यदि आप कोई वस्तु सिर पर लेकर जा रहे हैं और इतने में नौकर आ गया तो आप बोझा उसके सिर पर रख देते हैं। लक्ष्मणजी कहते हैं —"महाराज, मैं तो आपका सेवक हूँ, बहुत दिनों तक आपने क्रोध का बोझ सिर पर ढोया, थक गये होंगे, अब मुझे भार दे दीजिये। मैं क्रोध कर लिया करूँगा। आप आराम कीजिये, आपको क्रोध करने की आवश्यकता क्या है ?" तो दोनों के क्रोध में अन्तर क्या है ? एक का क्रोध भविष्योन्मुख है और एक का भूतोन्मुख। जो बीत गया, उसके लिये क्रोध करना—यह अविवेक की पराकाष्ठा है। परशुरामजी का क्रोध इसी प्रकार का है। लक्ष्मणजी ने यही तो आलोचना की—महाराज, जब धनुष आपको इतना प्रिय था तो जिस समय जनक ने प्रतिज्ञा की थी, उसी समय आप उन्हें डाँट देते कि धनुष तोड़ने की प्रतिज्ञा मत करो। या उसी समय आप फरसा लेकर खड़े हो जाते कि एक भी व्यक्ति अगर धनुष तोड़ने के लिये उठा तो उसका मैं सिर काट लूँगा। तब तो आप आये नहीं और जब धनुष टूट गया तब आप आकर लगे क्रोध करने। **'टूट चाप नहिं जुरिहि रिसाने'** (१।२७७।२)–अब आपके क्रोध करने से धनुष तो जुड़ने वाला है नहीं। **'बैठिअ होइहिं पाय पिराने'**—धनुष तो

टूट ही गया, अब अपना पैर और मत तोड़िये। पैर को सुरक्षित रहने दीजिये। जो बात हो गई, उस पर क्रोध करने से कोई लाभ नहीं।" अधिकांश लोगों का क्रोध इसी प्रकार का होता है। हमारे एक परिचित सज्जन थे। अगर उनके रसोइये ने भोजन कहीं ठीक नहीं बनाया तब तो डाँटते ही थे कि तुमने भोजन का सत्यानाश कर दिया, और कहीं उसने दूसरे दिन बढ़िया भोजन बना दिया तो उन्हें दुगुना क्रोध आता और वे डाँटते हुए कहते कि कल तूने भोजन इसी प्रकार अच्छा क्यों नहीं बनाया ? इसका तात्पर्य यह है कि उनका भूत भी गया और वर्तमान भी नष्ट हो गया। भूतकाल में जब बिगड़ गया तो भी दुखी रहे और वर्तमान में जब बन गया तो भी दुखी रहे। यही भूतोन्मुख क्रोध है।

इसके विपरीत लक्ष्मणजी का क्रोध भविष्योन्मुख है। यदि कोई भविष्य में कल्याण करने के लिये क्रोध करे कि ऐसी भूल न हो अथवा यदि क्रोध के द्वारा मनुष्य को सत्कार्य की प्रेरणा मिले तो क्रोध सार्थक है। लक्ष्मण जी ने क्रोध कब किया ? जब जनक ने कहा—

अब जनि कोउ माखै भटमानी। बीर बिहीन मही मैं जानी॥
१।२५१।३

—तब लक्ष्मणजी ने क्रोध करके ऐसी गर्जना की कि—

लखन सकोप बचन जे बोले। डगमगानि महि दिग्गज डोले॥
१।२५३।१

—सारी पृथ्वी काँप उठी। लक्ष्मणजी ने प्रभु की ओर देखा और कहा— महाराज, अब तो सब काँप उठे, सब डिग गये—केवल दो ही अडिग हैं—एक तो आप और दूसरा धनुष—अब कृपा कीजिए, अब आप डिगिये तो वह धनुष डिगे; नहीं तो जड़ का राज्य बना रहेगा, अंधकार का अस्तित्व बना रहेगा। लक्ष्मणजी के क्रोध की सार्थकता यह है कि उनके क्रोध के द्वारा शौर्य की प्रेरणा प्राप्त होती है। बाद में लक्ष्मणजी ने भगवान् राम से पूछा कि प्रभो, आपने धनुष तोड़ने में इतना विलंब क्यों किया ? सूर्योदय में इतनी देर क्यों लगी ? तो प्रभु ने हँसकर कहा —लक्ष्मण, तुम्हारे कारण। उन्होंने पूछा—कैसे ? तो श्रीराम ने कहा —नियम यह है कि सूर्य निकलने के पहले पूर्व दिशा में लाली छाती है। मैं तो तुम्हारे क्रोध की लाली की प्रतीक्षा कर रहा था कि पहले लाली

का उदय हो तो सूर्य निकले ! तुम शांत बने बैठे थे तो लाली के बिना यह सूर्य कैसे आता ? तो, लक्ष्मण का क्रोध शौर्य के लिये, भविष्य के लिये प्रेरित करता है, जो कि कल्याणकारी है।

इसी प्रकार लोभ की भी विवेचना है। भविष्य के लिये आप संग्रह किये जा रहे हैं वर्तमान में लाखों व्यक्ति अभाव से ग्रस्त हैं लाखों व्यक्ति भूखे हैं। आवश्यकता उनको है--और आप केवल अपने लिये, अपने परिवार के लिये, अपने संबंधियों के लिये धन का संग्रह किये जा रहे हैं। यह कौन-सी प्रवृत्ति हो सकती है ? अगर लोभ की आवश्यकता, धन की आवश्यकता जीवन में है, तो तत्काल वितरण के लिये। समाज में जिसको जब धन की आवश्यकता हो तब उसके अभाव को दूर कर हम वर्तमान में उस धन का उपयोग करें। महाराज दशरथ के प्रसंग में आता है —जब जनक दहेज देने लगे तो गोस्वामीजो ने गिनाना शुरू किया—

कंबल बसन बिचित्र पटोरे। भाँति भाँति बहु मोल न थोरे॥
गज रथ तुरग दास अरु दासी। धेनु अलंकृत कामदुहा सी॥
बस्तु अनेक करिअ किमी लेखा। कहि न जाइ जानहिं जिन्ह देखा॥
लोक पाल अवलोकि सिहाने। १।३२५।३–६

—राजा जनक ने इतना दहेज दिया कि लोकपालों के मन में भी ईर्ष्या हो जाये ! महाराज दशरथ को दहेज लेने में अच्छा लगा या बुरा ? तुलसीदासजी ने तुरंत कहा—

लीन्ह अवधपति सबु सुखु माने।

उन्होंने बड़े आनंद से लिया। निष्कामता का झूठा स्वाँग नहीं किया। तब तो महाराज दशरथ बड़े लोभी जान पड़ते हैं कि इतना सब ले लिया ? गोस्वामीजी तुरन्त कहते हैं कि लिया तो—

लीन्ह अवधपति सब सुखु माने, पर अगले क्षण—

दीन्ह जाचकन्हि जो जेहि भावा। १।३२५।७

—दशरथ ने ज्योंही पाया त्योंही वितरण करना प्रारंभ कर दिया। उन्होंने सब बाँट दिया।

उबरा सो जनवासेहिं आवा। १।३२५।७

--सब को देने के बाद जो बच गया उसी को दशरथ ने अपना प्राप्य माना। इस प्रकार भगवान् राम ने वर्तमानोन्मुख लोभ, भूतोन्मुख काम और भविष्योन्मुख क्रोध की सार्थकता को सिद्ध करके मानो विदेहनगर में एक नया दर्शन प्रस्तुत किया। विदेहनगर के इस नये दर्शन को सार्थकता प्रदान करने के बाद उन्होंने बीच के नगर अयोध्या में रामराज्य स्थापित करने की योजना बनाई, जो न तो विदेहनगर के समान ऊँचा है और न देहनगर के समान बुरा। इसमें बाधा कैसे पड़ी और कैसे इस बाधा का निवारण करने के बाद चौदह वर्षों के उपरान्त रामराज्य बन पाया, इसमें इतना विलंब क्यों हुआ तथा देश, काल और व्यक्ति में परिवर्तन क्यों करना पड़ा, यह सारी चर्चा हम बाद में करेंगे।

पाँचवाँ व्याख्यान समाप्त

छठा व्याख्यान

गोस्वामीजी की यह दृढ़ मान्यता है कि श्रीराम व्यक्ति नहीं हैं ईश्वर हैं। इसके साथ-साथ उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि भगवान् श्रीराम ईश्वरत्व का प्रतिपादन करने के साथ-साथ नरलीला भी करते हैं। उनके नरलीला करने का अभिप्राय यह है कि वे अपने चरित्र के द्वारा ईश्वरत्व का दर्शन नहीं कराते, मनुष्य के लिये जो असंभव है उस प्रणाली का आश्रय नहीं लेते अपितु वह जिस प्रणाली के द्वारा कल्याण प्राप्त कर सके वही अपने चरित्र के द्वारा प्रकट करते हैं। इसी में तो लीला की सार्थकता है, क्योंकि लीला का तात्पर्य यह है—**जस काछिअ तस चाहिअ नाचा।** (२।१२६।८) व्यक्ति जिस भूमिका का अभिनय कर रहा हो उसका ठीक तरह निर्वाह करे। अगर मनुष्य के रूप में अभिनय करते हुए ईश्वर अपनी ईश्वरता का प्रदर्शन करें तो उनके अभिनय की सार्थकता नहीं मानी जायेगी। इसे यों कह सकते हैं कि भगवान् राम का चरित्र एक विशेष पद्धति का आश्रय लेता है। उदाहरणार्थ, यदि भगवान् श्रीराम गंगा पार करने के लिये ईश्वरीय उपाय का आश्रय लेते तो उनके पास बड़ा सरल उपाय था, वे अपने शरीर को विराट बना लेते। जब बलि की यज्ञशाला में उन्होंने ढाई पग में सारे ब्रह्माण्ड को नाप लिया था तो गंगा की नन्हीं सी धारा पार करने में उन्हें क्या कठिनाई थी ? वे एक पग उस पार रखते और पार हो जाते। किंतु भगवान् श्रीराम केवट की अटपटी बातें सुनते रहे। केवट ने जो-जो कहा उसे प्रभु ने स्वीकार किया। यहाँ तक कि, 'कवितावली' के शब्दों में, केवट ने भगवान् से कहा कि यदि आप नदी से पार उतरने के लिये व्यग्र हों और साथ-साथ आपका यह हठ हो कि मैं केवट से चरण नहीं धुलाऊँगा तो भी मुझे कोई आपत्ति नहीं है। मैं आप को एक दूसरा उपाय भी

बता सकता हूँ । यहाँ नदी में कुछ दूर पर एक ऐसा स्थान है, जहाँ कमर तक जल है, वहाँ से आप पार हो जाइये ।

एहि घाट तें थोरिक दूरि अहै, कटि लौं जल थाह देखाइहौं जू ।
(अयोध्याकांड, ६)

क्या सचमुच केवट इतना निरपेक्ष था ? क्या सचमुच श्रीराम के चरणों से उसे इतना डर था और अपनी आस्था एवं मान्यता में वह इतना आग्रही था कि वह भगवान् राम से कह देता है कि आप यहाँ से थोड़ी दूर पर चले जाइये ? मैं तो यही कहूँगा कि केवट का जो वाक्य था वह **'कहइ तुम्हार मरम मैं जाना'** (२।६६।३) ही सूचित करता है । केवट सचमुच 'मरम' जानता था उसे पता था कि जो अपने जीवन में स्वयं घाट का निर्माण करने आया है वह घाट छोड़कर अपने अहकार की ऐसी संतुष्टि के लिये कि एक केवट के सामने मैं नहीं झुका, अवघट में नहीं जायेगा; वह ऐसे मार्ग को नहीं चुनेगा जो लोगों के मन में भ्रांति उत्पन्न करे । छोटे मार्ग की यह जो खोज है वह अधिकांश लोगों को संकट में डालती है । अधिकांश लोगों की समस्या यह है कि वे चाहते हैं कि कम से कम कार्य करना पड़े, विधि और मर्यादा का पालन जीवन में कम से कम हो और लक्ष हमें ऊँचे से ऊँचा प्राप्त हो । और इसी में वे बहुधा मारे जाते हैं । केवट कहता है कि महाराज, यह तो नदी का मार्ग है जिसे नौका से पार किया जाता है । अब यदि कोई व्यक्ति नदी को नौका से पार करना चाहेगा तो उसे मल्लाह की इच्छा का पालन करना होगा । नौका का संचालक तो मल्लाह है । नदी पार करनेवाले पथिक को चाहिये कि मल्लाह की इच्छा का पालन करे । भगवान् राम स्वयं को इसका अपवाद नहीं बनने देते ।

उनके सामने प्रश्न यह नहीं था कि भौतिक दृष्टि से वे चक्रवर्ती सम्राट के पुत्र थे और केवट एक अत्यंत दीनहीन साधारण नागरिक था । ऐश्वर्य की दृष्टि से श्रीराम साक्षात ईश्वर थे, केवट उनके समक्ष कुछ नहीं था । भगवान् राम की मर्यादाप्रियता यही है कि जब वे केवट से वार्तालाप करते हैं तब वे ईश्वर या राजा बनकर वार्तालाप नहीं करते । वे तो यह निश्चय करते हैं कि मुझे नदी को पार करना है, और मनुष्य जिस पद्धति से उसे पार करता है, उसी पद्धति से करना है । वह पद्धति है नौका से पार करने की और मल्लाह जिन शर्तों पर उतारना चाहेगा

उन्हें स्वीकार करने की। केवट ने स्पष्ट कह दिया कि यदि आपको पार जाना है तो चरण धुलाना होगा। इसके साथ ही उसकी यह भी शर्त थी कि अगर आपको पार जाने के लिये चरण धुलाना है तो चरण धोने का प्रस्ताव भी मैं नहीं करूँगा, आपको अपने मुँह से कहना होगा कि मेरे चरण धो दो।

जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पद पदुम पखारन कहहू।।
२।९९।८

वैसे यदि केवट चाहता तो जल लाकर पद-प्रक्षालन की चेष्टा भी कर सकता था। और शिष्टाचार भी यही है। यदि कोई किसी का चरण प्रक्षालन करना चाहता है तो जल ले आता है और धोने की चेष्टा करता है। वह यह थोड़े ही पूछता है कि क्या आपके चरण धो दूँ? पर केवट ने वहीं से विवाद प्रारभ कर दिया जहाँ निषेध था ही नहीं। भगवान् राम को गोस्वामीजी ने वहाँ एक सुन्दर संकेत-सूत्र दिया है। जिस समय श्रीराम गंगातट पर आकर खड़े हुए, गंगा प्रसन्न हो गईं। गंगा श्रीहरि के चरणों से ही निकली हैं, अपने उद्गम को देख उन्हें बड़ा आनंद आया। साथ-साथ गंगा को यह संतोष भी हुआ कि मेरे निकट रहने वाला केवट बड़ा सौभाग्यशाली है कि यह नौका के द्वारा श्रीराम को पार कराके जीवन को भिन्न बना लेगा। पर जब केवट भगवान् पर अपनी शर्तें लादने गया तो गंगा को लगा कि केवट बड़ा अभागा है। गंगा को लगा, यदि यह ईश्वर को पहचानता तो ऐसी मूर्खता न करता। गंगा को यह भी लगा कि भगवान् अभी विराट रूप प्रकट करेंगे और पार चले जायेंगे तथा इस अभागे को जो अवसर मिला है उससे वह वंचित रह जायेगा। परंतु गंगा को उस समय बड़ा आश्चर्य हुआ जब श्रीराम विराट नहीं बने, अपितु यही कहने लगे—

कृपासिंधु बोले मुसुकाई। सोइ करु जेंहि तव नाव न जाई।।
२।१००।१

—अच्छा भाई, वही काम करो जिसमें तुम्हारी नाव न जाये। फिर भी केवट इतना हठीला था कि नहीं उठा। भगवान् ने कहा—मैंने कहा न, वही कार्य करो, जिसमें तुम्हारी नाव न जाये। केवट ने कहा—यह तो पंडितों जैसी घुमावदार भाषा है, मुझसे मेरी भाषा में बात कीजिये जिसे

मैं समझ सकूँ। नाव बचाने के तो कई उपाय हैं, आप मत जाइये उस पार, इसी पार टिक जाइये, तो भी मेरी नाव बच जायेगी। आप कमर तक जल में उतरकर नदी पार कर लोजिये तो भी मेरी नाव बच जायेगी। तब भगवान् ने कहा—

बेगि आनि जल पाव पखारू। होत बिलंब उतारइ पारू॥

२।१००।२

—ठीक है, जल्दी से जल लाकर मेरा पाँव धो दो, मुझे विलंब हो रहा है, शीघ्रता से पार उतार दो। गोस्वामीजी ने लिखा कि जब गंगा ने भगवान् राम के ये बचन सुने तो उसे संदेह हो गया कि वे ईश्वर हैं या नहीं, मैंने कहीं पहचानने में भूल तो नहीं कर दी। पहले उन्हें केवट के अभागेपन की चिंता हो रही थी, अब उनको राम के ईश्वरत्व में संदेह हो गया। गोस्वामीजी कहते हैं—

पद नख निरखि देवसरि हरषी। सुनि प्रभु बचन मोहँ मति करषी॥

२।१००।५

—प्रभु के वचनों ने गंगा की बुद्धि को भ्रमित कर दिया। क्या ईश्वर इतना दीन हो सकता है कि केवट जो कुछ कहता जाये, वह पार होने के लिये उसकी बातें मानता जाये ? वस्तुत: गंगा इसलिये भ्रमित हो गईं कि वे श्रीराम की नरलीला को ठीक-ठीक नहीं समझ पाईं।

प्रभु मनुष्य के लिये वही पद्धति बताना चाहते थे। कोई व्यक्ति कह सकता है कि कमर तक ही तो जल है, चलो वहाँ से चलकर पार हो जायँ। पर कमर तक के जल की आप कल्पना ही तो कर रहे हैं। नौका में बैठने से आपको चिंता करने की आवश्यकता भी नहीं कि जल कमर तक है या सिर तक। आप कमर तक जल की बात सुनकर ऐसा स्थान खोजते बैठें जिससे केवट की बात आपको न माननी पड़े तो यह कोई ठीक पद्धति नहीं है। गोस्वामीजी का तात्पर्य यह है कि मल्लाह वस्तुत: गुरु का प्रतीत है—**'करनधार सद्गुरु दृढ़ नावा।'** (७।४३।८) यदि हमें सरिता को पार करना है तो आचार्य की परतंत्रता स्वीकार करनी ही पड़ेगी। ऐसा कोई स्वतंत्र मार्ग ढूँढ़ना, जहाँ से बिना किसी आश्रय के हम पार हो जायँ, मानव-पद्धति नहीं है। प्रभु तो मानव-पद्धति को स्वीकार करते हुए केवट को बात मान लेते हैं। यही भगवान् के चरित्र

का प्रतीकात्मक संकेत है। श्रीराम के चरित्र में चमत्कार का प्रदर्शन कम से कम है। मैं तो कभी-कभी सोचता हूँ कि यदि आज का युग होता तो लोग भगवान् राम की अपेक्षा रावण को ही ईश्वर मानते, क्योंकि रामायण में जितने चमत्कार रावण में बताये गये हैं उतने भगवान् राम में भी नहीं। लोग चमत्कार के आधार पर ही ईश्वर का निश्चय किया करते हैं। आजकल तो महात्मा और ईश्वर—इन दो की कसौटी चमत्कार बन गई है। लोग चमत्कार की खोज में व्याकुल हैं, पागल हैं। कहते हैं, देखो ईश्वर न होता तो यह चमत्कार कैसे होता? अगर इस संदर्भ में विचार करके देखें तो रामायण में क्या भगवान् राम कहीं आकाश में चलते दिखाई देते हैं? पर रावण तो चाहे जब आकाश में चलता दिखाई देता है। तो भगवान् कौन हुआ—रावण या राम? चमत्कार ही अगर ईश्वरत्व की कसौटी हो तो रावण में चमत्कार कहीं अधिक है। मैं जो एक बात कहा करता हूँ उसे आज भी दोहरा दूँ। वह यह कि रावण में भगवान् राम की अपेक्षा दोहरा चमत्कार है? भगवान् राम की समस्या यह है कि वे राम ही बन सकते हैं, पर रावण का चमत्कार है यह कि रावण के रूप में तो वह था ही, साथ ही वह जब चाहे तब राम का भी रूप बना सकता था। राम रावण नहीं बन सकते, पर रावण राम बन सकता है। इसका अर्थ यह है कि बुरा व्यक्ति अच्छे का स्वाँग कर सकता है, पर अच्छा बुरे का स्वाँग कैसे करेगा? श्रीराम तो अपने चरित्र में ही रहेंगे, पर रावण के लिये सुविधा है कि वह दोनों का अभिनय करके अपने जीवन में दिखला दे। चमत्कार प्रकृति की एक शक्ति का नियम है। जो व्यक्ति उस शक्ति को जानता है वह चमत्कार दिखाने में सफल हो सकता है। रावण ने उन नियमों को पहचाना था। अपनी तपस्या और साधना के द्वारा उन्हें हस्तगत किया था। वस्तुतः महत्त्व चमत्कार का नहीं है, उसके उपयोग का है। चमत्कारिकता ईश्वरत्व का लक्षण नहीं है। श्रीराम का ईश्वरत्व स्पष्ट है। उन्होंने ईश्वरत्व का आश्रय न लेकर मानवीय पद्धति का आश्रय लिया।

इससे भी बड़ा संकेत आपको और कौन-सा मिलेगा? समुद्र के किनारे भगवान् राम ने एक क्षण के लिये ऐश्वर्य का आश्रय लेना चाहा। पर उसे विशुद्ध ईश्वरीय आश्रय नहीं कहा जा सकता। यही कहा जा सकता है कि उन्होंने बाण की शक्ति का आश्रय लिया। ऐसा वर्णन आता है कि भगवान् श्रीराम समुद्र के तट पर बैठे हुए हैं और मंत्रिमंडल से प्रश्न

करते हैं कि समुद्र को कैसे पार करें। ठीक वही मनुष्य की पद्धति ! जब मनुष्य बने हैं और राजनीति के अनुकूल युद्ध का आचरण कर रहे हैं तो मंत्रिमंडल के सामने प्रश्न रखते हैं। विभीषण आये और जो थोड़े ही समय पूर्व युद्धमंत्री पद पर नियुक्त किये गये थे। भगवान् राम ने जब किष्किधापुरी से प्रयाण किया तो दो वस्तुओं को साथ नहीं लिया। प्रभु ने सुग्रीव को प्रधानमंत्री तो बनाया पर युद्धमंत्री का पद खाली रखा। सुग्रीव ने जब पूछा—प्रभो युद्ध करने चल रहे हैं तो कोई वैद्य भी साथ लेते चलें तो इस पर प्रभु ने कहा—नहीं, किसी को ले चलने की आवश्यकता नहीं। युद्ध के लिये युद्धमंत्री नहीं ले गये, और सेना के घायल व्यक्तियों के लिये उन्होंने साथ में वैद्य नहीं लिया। प्रभु का उद्देश्य दूरगामी था। प्रभु का विचार था कि युद्धमंत्री और वैद्य दोनों लंका में सबसे अच्छे हैं। रावण तो उनका उपयोग कर नहीं पाता, हमीं उनका उपयोग कर लेंगे। यहाँ से ले जाने की क्या आवश्यकता है। और प्रभु ने यही किया। लक्ष्मण को शक्ति लगने पर लंका के वैद्य से चिकित्सा कराई और युद्धमंत्री का पद रावण के छोटे भाई विभीषण को दिया। यह भगवान् राम के आत्मविश्वास की तथा रावण के चरित्र की दुर्बलता की एक झलक है। रावण अच्छी से अच्छी वस्तु पास में होते हुए भी उसका उपयोग नहीं कर पाता था। अस्तु। भगवान् राम ने तत्काल नियुक्त युद्धमंत्री विभीषण के सामने ही जब पूरे मंत्रिमंडल से उक्त प्रश्न किया तो विभीषणजी ने कहा—

प्रभु तुम्हार कुलगुरु जलधि कहिहि उपाय बिचारि।
बिनु प्रयास सागर तरिहि सकल भालु कपि धारि ॥ ५।५०

—प्रभो, जलधि आपका कुलगुरु है; आप अनशन कीजिये और वैसा करके उससे मार्ग माँगिये। मुझे विश्वास है कि वह उचित पद्धति के द्वारा आपकी सहायता करेगा। प्रभु ने सुनकर कहा—

सखा कही तुम्ह नीकि उपाई। करिअ दैव जौं होइ सहाई ॥ ५।५०।१

—'मित्र, तुमने बड़ा सुंदर उपाय बताया है। यदि दैव सहायक होगा तो अवश्य सफलता मिलेगी।' पर उसी समय दूसरी ओर विरोध का स्वर भी गूँजा। लक्ष्मणजी के संबंध में गोस्वामीजी ने लिखा—

राम बचन सुनि अति दुख पावा। ५।५०।२

वे तुरंत बोले—

नाथ दैव कर कवन भरोसा। सोषिअ सिंधु करिअ मन रोषा॥
कादर मन कहुँ एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा॥
५।५०।३-४

ये ही नदी के दो किनारे हैं। एक किनारा विभीषण है तो दूसरा लक्ष्मण। एक भाग्यवादी है तो दूसरा पुरुषार्थवादी। विभीषण ने जब भाग्य का समर्थन किया तो श्रीराम ने कहा—मित्र, तुमने बड़ा सुंदर उपाय बताया। पर श्रीराम यदि वास्तव में ही भाग्यवादी होते तो लक्ष्मणजी की बात का तुरंत खंडन कर देते। भगवान् तो सेतु हैं जो नदी के दोनों किनारों को मिलाते हैं। लक्ष्मणजी के कथन पर वे मुस्कुराये और बोले—

सुनत बिहसि बोले रघुबीरा। ऐसेहिं करब धरहु मन धीरा॥
५।५०।५

—धैर्य धारण करो, ऐसा ही करेंगे। वे तो ठीक बीचोंबीच हैं।

इसके पश्चात् भगवान् श्रीराम समुद्र के किनारे अनशन करके बैठ जाते हैं, पर अनशन की भी एक सीमा है। तीन दिन तक प्रभु ने अनशन किया। यह कौन-सी योजना थी जिसमें तीन दिन का अनशन विचार कर रखा गया? यह एक प्रतीक है। भगवान् ने चौथे दिन अपनी योजना त्यागी। इसका अर्थ क्या हुआ? सप्ताह में सात दिन होते हैं। यदि उनका बँटवारा करें तो यह चौथा दिन ही मध्य का दिन है। यही श्रीराम के चरित्र का केन्द्रबिंदु है जो उभय तीनों के बीच में चतुर्थ के रूप में विद्यमान है। इसका अभिप्राय यह है कि तीन दिन तो उन्होंने भाग्यवादी की बात मान ली, पर इसके पश्चात् बोले—**लछिमन बान सरासन आनू** (५।५७।१)—लक्ष्मण, जरा धनुष-बाण तो लाना। लक्ष्मणजी को आश्चर्य हुआ कि अंत में अगर मेरी ही बात रखनी थी तो तीन दिन समय गँवाने से क्या लाभ हुआ? हमें भी ऐसा ही लगता है, पर बात ऐसी नहीं है। भगवान् राम ने क्या सचमुच समय गँवाया? नहीं, इन तीन दिनों में उन्होंने जो कार्य किया वह उनके चरित्र के अनुरूप है। वे जानते थे कि समुद्र मार्ग नहीं देगा। पर इतना होते हुए भी तीन दिनों तक उन्होंने

विभीषण की बात मानी। इस प्रकार उन्होंने विभीषण के हृदय को जीत लिया। विभीषण तो यह सोचकर गद्‌गद हो गये कि कहाँ मैं इनके शत्रु का छोटा भाई और कहाँ अपने छोटे भाई के मत की तुलना में इन्होंने मेरे मत को अधिक महत्त्व दिया! मुझ पर इतना विश्वास किया कि अनशन करने बैठ गये! विभीषण को लगा कि श्री राम जैसा उदार हृदय और किसी का नहीं हो सकता। तभी तो विभीषण भगवान् राम के सामने सदैव अपने मत को प्रकट कर देते थे। यदि भगवान् राम विभीषण की पहली बात को अस्वीकार कर देते तो शायद विभीषण के मन में यह गाँठ पड़ जाती कि शायद शत्रु का भाई समझ कर मुझ पर भरोसा नहीं किया जा रहा है। भगवान् राम ने अपने व्यवहार के द्वारा विभीषण के हृदय को जीत लिया। प्रभु को लगता है कि यदि तीन दिन में किसी का हृदय जीता जा सकता है तो लंका की लड़ाई की अपेक्षा उसका महत्त्व अधिक है। जब तीन दिन व्यतीत हो गए तभी उन्होंने धनुष-बाण मँगवाया। लक्ष्मणजी ने मुस्कुराकर देखा, मानो कह रहे हों अंत में यही करना पड़ा न। फिर भी प्रभु ने जो किया वह दोनों से हटकर ही था। लक्ष्मण कहते हैं—समुद्र सुखा दीजिये और विभीषण कहते हैं—मार्ग माँगिये। श्रीराम का मार्ग तीसरा है, और वही माननीय मार्ग है। धनुष पर बाण तो चढ़ा दिया लेकिन उन्होंने समुद्र को जलाया नहीं। समुद्र श्रीराम के सामने आकर खड़ा हो गया। उसने कहा—प्रभो मुझे सुखाने के लिये आपको धनुष पर बाण चढ़ाना पड़ रहा है! आप तो ईश्वर हैं, संकल्प कीजिये, मैं नष्ट हो जाऊँगा। पर एक वाक्य समुद्र ने और कहा, और प्रभु ने तुरन्त उसकी बात स्वीकार कर ली। समुद्र ने कहा—प्रभो दो उपाय हैं आपके सामने। एक तो यह कि आप मुझे सुखा दीजिये जिससे आपके ईश्वरत्व को, आपके बाण की महिमा को लोग पहचान लें और सेना पार हो जाये। पर इस उपाय में एक ही बुराई है—इसमें तो संदेह नहीं कि—

प्रभु प्रताप मैं जाब सुखाई। उतरिहि कटकु न मोरि बड़ाई॥
५।५८।७

—सेना पार उतर जायेगी, पर इससे मेरा बड़प्पन नष्ट हो जायेगा। दूसरा उपाय यह है कि आप मेरी सहायता से, मानवीय पद्धति से सेतु का निर्माण कीजिये। परन्तु इसमें आपकी महिमा प्रकट नहीं होगी और

आपको मानव रूप में देखा जायगा। अब आप ही निर्णय कीजिये। संसार में जब आप किसी दूसरे व्यक्ति से बातें करते हैं तो कहते हैं कि यह आप के बड़प्पन के अनुरूप नहीं है। पर यहाँ तो समुद्र कहता है कि मेरा बड़प्पन नष्ट होगा। इसका तात्पर्य यह है कि समुद्र ने भगवान् राम से कहा —'मैंने सुना है कि आप दूसरों को बड़ा बनाते हैं। अब आप यदि मुझे छोटा बनाकर अपने ईश्वरत्व का प्रदर्शन करना चाहें तो सुखा दीजिये। और अगर आप मुझे बड़ा बनाना चाहते हैं तो जैसा मैंने सुना था कि आप सेतु बनाने आये हैं, चमत्कार दिखाने नहीं, तो सेतु बना लिजिये।'

बड़ी सरल सी बात है। दो मार्ग हैं। चमत्कार में मनुष्य की आस्था अधिक है। अभी कोई घोषणा कर दे कि हम खड़ाऊँ पहनकर यमुना नदी पार करेंगे तो बेचारा कर पावे या न कर पावे, भीड़ लग जावेगी। कई बरस पहले बंबई में एक घटना हुई। वह याद होगी आपको। अखबारों में छपा था कि एक तथाकथित योगी महोदय ने घोषणा की थी कि वे जल के ऊपर चलकर दिखावेंगे। यह बात और है कि बिचारे चलने की चेष्टा में कुंड में गिर पड़े थे। अब भी यदि ऐसी घोषणा कर दी जावे तो यह देश ऐसा विलक्षण है कि देखने के लिये लाखों की भीड़ लग जावेगी। पर यदि किसी नदी पर पुल बनने का समाचार मिले तो कोई देखने नहीं जायेगा। कहेगा, जब जाना होगा चले जायेंगे। तो, खड़ाऊँ से नदी पार करना महत्त्वपूर्ण है या नदी पर पुल का निर्माण करना ? यदि कोई व्यक्ति खड़ाऊँ पहन कर नदी पार भी कर ले तो समाज को इससे क्या लाभ है ? उस व्यक्ति ने सिवा अपने अहंकार और योगविद्या का चमत्कार दिखाने के और क्या किया ? उसके द्वारा समाज का क्या कल्याण हुआ ? पर नदी के ऊपर यदि पुल का निर्माण कर दिया जाये तो भले ही भीड़ न लगे लेकिन वह कितना कल्याणकारी है। एक साधारण से साधारण व्यक्ति भी उस पुल के आश्रय से नदी को पार कर सकता है। व्यक्ति ही नहीं, पशु भी उसके द्वारा नदी को पार कर लेगा। तुलसीदासजी कहते हैं कि चींटी भी पार उतर जायेगी—

अति अपार जे सरित बर जौं नृप सेतु करांहि।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहि जांहि॥ १।१३

—धन्य है वह राजा जो नदी पर सेतु का निर्माण करता है, जिसके आश्रय से छोटी-सी चींटी भी नदी पार कर लेती है। इसका अर्थ यह है

कि महापुरुष वह नहीं जो अपने विराट व्यक्तित्व का प्रदर्शन करता है। महापुरुष वह है जिसके चरित्र का आश्रय ले छोटे से छोटा व्यक्ति भी अपनी जीवन-सरिता को पार कर लेता है। भगवान् राम के सम्मुख प्रश्न यह था कि हम अपने अहं की पूजा कराने आये हैं या वस्तुतः लोगों के जीवन में उच्चता लाने के लिये? समुद्र ने कहा—'प्रभो, सुखाने का मार्ग सबके योग्य नहीं है। आपकी तरह भला कितने लोग सुखा पावेंगे? फिर, आप जो प्रार्थना कर रहे थे वह भी उचित नहीं। इससे तो अन्य लोग भी पुरुषार्थ छोड़ कर नदी के किनारे बैठ जायेंगे और कहेंगे कि नदी, मुझे रास्ता दे दे। आप तो वेद-मर्यादा के संरक्षण के लिये आये हैं। आप क्यों नहीं सेतु का निर्माण कराते?' श्रीराम के चरित्र की महानता यही है कि उन्होंने तुरन्त समुद्र की बात स्वीकार कर ली, कहा—'बिल-कुल ठीक कहते हो। मैं सेतु का निर्माण करूँगा।' सेतु-निर्माण का तात्पर्य यह है कि उसके उपयोग से दूसरे व्यक्ति भी पीछे से अनुगमन करते हुए नदी या समुद्र को पार कर ले सकें। भगवान् राम का संपूर्ण चरित्र ही एक सेतु की तरह है जो व्यक्ति को ऐसा पथ बताता है जिस पर चलकर छोटे से छोटा व्यक्ति भी महान् उपलब्धि तक पहुँच सकता है। रामायण का उद्देश्य यह सिद्ध करना नहीं कि भगवान् राम कितने महान् हैं, बल्कि यह कि श्रीराम के चरित्र का आश्रय लेकर, उनके चरणों का अनुगमन करता हुआ साधारण से साधारण व्यक्ति अपने जीवन में महत् लक्ष्य को कैसे प्राप्त कर सकता है। इस संदर्भ में मैं आपको और कुछ गहराई की ओर ले जाना चाहूँगा।

भगवान् राम की जनकपुर-भूमिका की चर्चा हमने पहले कुछ की है। दूसरा नगर है—अयोध्या। यह केन्द्र अथवा मध्य में है। एक ओर विदेह-नगर है, दूसरी ओर देह-नगर है और मध्य में यह अयोध्या है। यहाँ के राजा हैं महाराज दशरथ जिनके अन्तःकरण में रामराज्य का पवित्र संकल्प जागृत होता है। यदि ईश्वरीय पद्धति की बात होती तब तो दूसरे ही दिन रामराज्य बन जाता। किंतु रामराज्य के संबंध में महा-राज श्री दशरथ का संकल्प पूर्ण नहीं हुआ। विघ्न आया। विघ्न स्वीकार करने का तात्पर्य यह था कि प्रभु ने वही मानवीय मार्ग स्वीकार किया और इस प्रकार यह बताया कि किसी महत् लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए यह आशा नहीं करनी चाहिये कि मार्ग में विघ्न नहीं आवेगा। महान् से

महान् विघ्न आवेगा। विघ्न क्यों आता है ? विघ्न को कैसे पार किया जाता है ? किसी भी विघ्न को पार करने की एक पद्धति होती है जिसे स्वीकार कर उस विघ्न को पार करना चाहिये—अपनी इस मानवीय पद्धति का परिचय देने के लिये ही भगवान् राम ने अपने राज्याभिषेक में विधि से बाधा पड़वाई। महाराज दशरथ का संकल्प बड़ा पवित्र है। वे श्रीराम को सिंहासन पर बिठाना चाहते हैं। उद्देश्य पवित्र है, संकल्प करने वाला व्यक्ति भी पवित्र है, महान् चरित्रवाला है, पर इतना होते हुए भी रामराज्य की स्थापना नहीं हो पाई, बल्कि यह कहना चाहिये कि रामराज्य की स्थापना में तीनों बदल गये। देश भी बदल गया, काल भी बदल गया और व्यक्ति भी बदल गया। महाराज दशरथ की मान्यता यह थी कि रामराज्य सबसे पहले अयोध्या में बनेगा, फिर सारे संसार में फैलेगा, किंतु रामराज्य की स्थापना पहले अयोध्या में नहीं हुई वह पहले चित्रकूट में हुई; यह पहला अंतर देश संबधी है। महाराज दशरथ की धारणा थी कि रामराज्य कल प्रातःकाल बन जायेगा पर रामराज्य का काल भी चौदह वर्ष के लिये टल गया। उनकी धारणा थी कि राम-राज्य का निर्माण मैं करूँगा किंतु यह कार्य दशरथजी नहीं कर पाये; उसके शिल्पी तो श्री भरत बने। इस प्रकार देश भी बदल गया, काल भी और निर्माण का संकल्प करने वाला व्यक्ति भी बदल गया तब कहीं रामराज्य की स्थापना संभव हुई।

अयोध्या में पवित्र संकल्प के बाद भी रामराज्य के संपन्न होने में जो बाधा है, वह क्या है ? रामराज्य के माध्यम से भगवान् श्रीराम हम लोगों के लिये जिस सेतु का निर्माण करते हैं, उस सेतु का अर्थ क्या है ? आइये इस संदर्भ में महाराज श्री दशरथ के भौतिक एवं आध्यात्मिक रूपों के साथ हम गोस्वामीजी द्वारा यहाँ पर प्रस्तुत महान् दर्शन पर भी विचार करें। महाराज दशरथ के तीन रानियाँ हैं—महारानी कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी। महाराज श्री दशरथ बड़े धार्मिक हैं। आध्यात्मिक अर्थ में यदि विचार करें तो महाराज दशरथ मूर्तिमान वेद हैं। ये जो तीन रानियाँ हैं वे '**ज्ञानशक्तिश्च कौसल्या, सुमित्रोपासनात्मिका, क्रिया-शक्तिश्च कैकेयी।**' कौसल्या ज्ञानमयी-ज्ञानशक्ति हैं, सुमित्रा भावनामयी उपासनाशक्ति हैं और कैकेयी अम्बा क्रियाशक्ति हैं। वेद में इन तीनों का भाग है—ज्ञान का, उपासना का एवं क्रिया का। महाराज श्री दशरथ की ये तीनों प्रिय रानियाँ हैं। महारज दशरथ का चरित्र उदात्त है, महान्

है। लेकिन प्रश्न यह है कि यह जो रामराज्य है उसकी स्थापना वेदपरंपरा के अंतर्गत है अथवा उससे ऊपर ? आप गीता के प्रारंभिक भाग को देखें। भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ जिस सत्य का प्रतिपादन करते हैं उसकी सही-सही व्याख्या आपको 'मानस' में प्राप्त हो जावेगी। वैसे गीता पर अनेक टीकाएँ लिखी हुई हैं, पर मैं आपसे कहूँगा कि गीता को समझने के लिये यदि आप रामचरितमानस का आश्रय लें तो आप गीता को बड़ी सरलता से समझ सकते हैं, क्योंकि भगवान् श्रीराम ही तो भगवान् श्रीकृष्ण हैं। तो, पहले अपने जीवन में जो उन्होंने करके दिखाया उसी का गीता के रूप में उपदेश दिया। यदि आप समझना चाहते हैं कि गीता में भगवान् का उपदेश क्या है तो भगवान् राम के रूप में उन्होंने अपने चरित्र में जिन सूत्रों की व्याख्या की है, उन पर आप विचार कीजिये। आपको एक अद्भुत आनन्द आवेगा।

रामराज्य की स्थापना के प्रसंग में महाराज श्री दशरथ की असफलता तथा तत्पश्चात् श्री भरतजी की जो सफलता है इसका रहस्य क्या है ? गोस्वामीजी दो सूत्र देते हैं। महाराज दशरथ को अपनी तीनों रानियों में कैकेयी सबसे प्रिय हैं। कैकेयी के प्रति यदि उनकी अधिक आसक्ति न होती तो रामराज्य की प्राप्ति में बाधा न पड़ती। यह व्यावहारिक पहलू है। आध्यात्मिक अर्थों में विचार करके देखें तो भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हुए जहाँ वेदवादियों की निंदा करते हैं वहाँ पर दो संकेत देते हैं—पहला **'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'**। (२।४५)—वेद त्रिगुण का प्रतिपादन करते हैं; अर्जुन, तू त्रिगुण से ऊपर उठ जा। दूसरा वे कहते हैं कि जो वेदवादी हैं या जो उसमें आसक्त लोग हैं वे **'क्रियाविशेषबहुलाम्'** (२।४३)—यहाँ भी वही बात है। महाराज श्री दशरथ मूर्तिमान वेद हैं, पर उनकी सबसे बड़ी आसक्ति कैकेयी में—क्रिया में है। ज्ञान और उपासना की तुलना में क्रिया में उनकी तीव्र आसक्ति का होना ही समस्या है, और इसका अभिप्राय यह है कि गीता में अर्जुन से जिस त्रिगुण से ऊपर उठने के लिये कहा गया था उसकी ओर रामराज्य भी इंगित करता है। महाराज श्री दशरथ अपने चरित्र में सत्त्वगुण तक तो पहुँच पाते हैं पर वे त्रिगुण से ऊपर नहीं उठ पाते। अतएव भरत रामराज्य के मूल संस्थापक बनते हैं।

रामराज्य का अर्थ धर्मराज्य नहीं। धर्मराज्य तो महाराज दशरथ का भी राज्य है, अज और दिलीप का राज्य है। रामराज्य वस्तुतः

धर्म से ऊपर का राज्य है। धर्म से ऊपर के राज्य के संबंध में रामायण में दो शब्द कहे गये हैं—पहला है धर्मराज्य से ऊपर प्रेमराज्य। श्री भरत मूर्तिमान प्रेम हैं।

भरतहि कहहिं सराहि सराही। राम प्रेम मूरति तनु आही॥
२।१८३।४

तो, दशरथ मूर्तिमान वेद हैं और भरत मूर्तिमान प्रेम। वेद के द्वारा रामराज्य की स्थापना संभव नहीं। उससे व्यक्ति सत्त्वगुण में स्थित हो सकता है पर सत्त्व से ऊपर नहीं उठेगा। सत्त्व से ऊपर उठने के लिये उसे भरत के मूर्तिमान प्रेम रूप का आश्रय लेना होगा। वहाँ पर भरत का चरित्र ही सफल होगा, महाराज श्री दशरथ का नहीं। यह गोस्वामी-जी की स्पष्ट घोषणा है। धर्म से ऊपर के राज्य के संबंध में जो दूसरा शब्द आता है उस संदर्भ में गुरु वसिष्ठ वेद की व्याख्या करते हैं। यहाँ पर मैं आपका ध्यान एक और बात की ओर दिलाना चाहूँगा। वह यह, गुरु वसिष्ठ की जो दृष्टि थी वह वेदमूलक थी और इसीलिये प्रारंभ में गुरु वसिष्ठ एवं भरत में मतभेद हुआ। गुरु वसिष्ठ की मान्यता थी कि यदि चरित्र का कोई सर्वोत्कृष्ट मापदंड हो सकता है तो वह हैं महाराज दशरथ। इसीलिये जब श्री भरत ननिहाल से लौटकर आते हैं तो गुरु वसिष्ठ उनसे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—भरत मेरा तो स्पष्ट मत है कि—

भयउ न अहइ न अब होनिहारा। भूप भरत जस पिता तुम्हारा॥
२।१७२।६

—न संसार में तुम्हारे पिता के समान कोई हुआ है और न आगे चलकर होगा। मै यह मानता हूँ कि महाराज दशरथ ने जिस मर्यादा का निर्माण किया है उसी मर्यादा पर तुम्हें चलना चाहिये। अगर तुम उसका पालन करते हो तो मैं समझूँगा कि तुम सही मार्ग पर हो। वेद परंपरा और मर्यादा के अनुकूल यदि तुम चलते हो तो मैं समझूँगा कि तुम सही हो। लेकिन यदि उस परंपरा को तुम स्वीकार नहीं करते तो इसका तात्पर्य मैं यही लूँगा कि धर्म के विषय में तुम्हारा ज्ञान ठीक नहीं है। गुरु वसिष्ठ की बात को भरत ने स्वीकार नहीं किया। गुरु वसिष्ठ का कहना यह था कि वेद सत्य को सर्वोत्कृष्ट धर्म मानता है और तुम्हारे पिता ने उस सत्य के लिये जितना बड़ा त्याग किया जा सकता है वह अपने

चरित्र के द्वारा प्रत्यक्ष करके दिखाया। सत्य के लिये कोई इतना बड़ा त्याग नहीं कर सकता। महाराज दशरथ ने सत्य के लिये श्रीराम का त्याग कर दिया। वे श्रीराम से इतना प्रेम करते थे कि श्रीराम के प्रेम में उन्होंने प्राणों का परित्याग कर दिया। जिस व्यक्ति ने इतना बड़ा बलिदान किया उससे बढ़कर आदर्श कौन होगा ? अगर ऐसे पिता के वचनों की रक्षा तुम नहीं करते तो इससे बड़ा आश्चर्य और धर्मविरोधी बात क्या हो सकती है ? उन्होंने शास्त्र के शब्दों की दुहाई देते हुए कहा—

अनुचित उचित बिचार तजि जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमर पति ऐन॥

२।१७४

—भरत, जो पुत्र पिता की आज्ञा को बिना उचित और अनुचित का विचार किये मान लेता है वह इस जीवन में सुख प्राप्त करता है और मरने के बाद उसे स्वर्ण मिलता है। वेद का यही सबसे बड़ा प्रलोभन है। किन्तु श्री भरत ने इसे स्वीकार नहीं किया। गुरु वसिष्ठ को प्रारंभ में तो लगा कि भरत अपने माता-पिता का ठीक-ठीक अनुगमन नहीं कर रहे हैं, वे वेद-परंपरा के विपरीत जा रहे हैं और सत्य का तिरस्कार कर रहे हैं। किंतु बाद में जब वे भरतजी के साथ चित्रकूट गये और चित्रकूट में उन्होंने एक नया जीवन-दर्शन, एक नवीन व्याख्या पाई, तब वे श्री भरत से अत्यन्त प्रभावित हुए। चित्रकूट से लौटकर भरतजी ने गुरु वसिष्ठ के चरणों में प्रणाम किया और निवेदन किया कि मैं नंदी ग्राम में रहकर अयोध्या के राज्य को चलाना चाहता हूँ।

यह ध्यान रखियेगा कि भगवान् श्रीराम और श्री भरत ने ही वह दर्शन समाज के सामने रखा जो मानव जीवन को पूर्णता तक पहुँचाता है। श्री भरत का एक नया मार्ग है। राजा सिंहासन पर बैठकर राज्य चलावे यह तो सब लोगों ने सुना था, पर सिंहासन पर पादुका बैठा दी जावे और राजा नगर में न रहकर कहीं दूर से राज्य का संचालन करे यह एक नई परंपरा थी। अतः जब भरतजी ने गुरु वसिष्ठ के चरणों में प्रणाम किया और कहा कि गुरुदेव यदि मेरा कार्य धर्म के विपरीत न हो तो मैं ऐसा करूँ, तो यह सुनते ही गुरु वसिष्ठ गद्गद हो गये। उन्होंने कहा—भरत यह प्रश्न करके अब छलो मत। प्रारंभ में

तो मैं समझता था कि धर्म की व्याख्या शास्त्र से करनी चाहिये । पर शास्त्र की व्याख्या भी तो व्यक्ति बुद्धि से ही करेगा । अब तो भरत, मुझे धर्म की सच्ची टीका मिल गई, धर्म का सच्चा अर्थ मिल गया, धर्म की सच्ची व्याख्या मिल गई । तब गुरु वसिष्ठ ने श्री भरत के लिये वह वाक्य कहा जो रामायण में किसी भी पात्र के लिये कभी नहीं कहा गया । उन्होंने कहा—भरत मेरा तो निश्चित मत है कि—

समुझब कहब करब तुम्ह जोई । धरम सारु जग होइहि सोई ।।
२।३२२।८

--तुम जो समझोगे, कहोगे, करोगे, मैं समझ लूँगा कि वही धर्म का सार है अब धर्म की व्याख्या शास्त्र से मिलाकर नहीं करूँगा, बल्कि तुम्हारे जीवन से करूँगा । यह किसी चापलूस व्यक्ति का वाक्य नहीं है, बल्कि उस व्यक्ति का वाक्य है जो प्रारंभ में भरत के मत से सहमत नहीं था । जिस समय उन्होंने भरत को समझा उन्होंने एक नया शब्द दिया । उन्होंने कहा कि भरत, अब तक मैं और तुम्हारे पिता धर्म तक पहुँच पाये थे पर तुम्हारा चरित्र धर्म से भी आगे है । इसे व्यक्त करने के लिये गुरु वसिष्ठ ने एक नया शब्द गढ़ा—

समुझब कहब करब तुम्ह जोई । धरम सारु जग होइहि सोई ।।

—भरत, हम लोग धर्म को तो जानते थे, पर धर्मसार को नहीं । तुम्हारे चरित्र द्वारा धर्मसार प्रकट हुआ है ।

धर्म और धर्मसार में क्या अंतर है ? एक आम का फल लें । उसमें तीन भाग होते हैं । छिलका, गुठली और रस । तीनों बड़े उपयोगी हैं । छिलका न होता तो आम का रस स्वच्छ कैसे रहता ? गुठली न होती तो नया आम का वृक्ष कैसे निकलता ? पर इसीलिए क्या व्यक्ति इन तीनों को उपयोगी समझकर खा जाये ? अगर कोई छिलका और गुठली समेत पूरा आम खा जाये तो वह पशु ही हो सकता है, मनुष्य नहीं । और अगर आप किसी ऐसे व्यक्ति की कल्पना करें जो रस निकाल कर फेंक दे और छिलका और गुठली खा जाये तो हम उस महापुरुष को कौन सी उपमा या उपाधि से विभूषित करेंगे ? इसी प्रकार, धर्म में भी तीन भाग हैं—छिलका, गुठली और रस । भले ही तीनों उपयोगी हैं आवश्यक हैं, किंतु केवल रस को ग्रहण करना है । ये तीनों क्या हैं ? शब्द तो है

छिलका, फलश्रुति है गुठली और रस है उसका वास्तविक तात्पर्य । मैं इसे थोड़ा और स्पष्ट कर दूँ । छिलके की आड़ में ही रस रहता है । इसी प्रकार जब धर्म की व्याख्या की जावेगी तो शब्द का आश्रय लेना ही पड़ेगा । हम छिलके के आश्रय से रस लेते हैं पर छिलका रस नहीं है । इसी प्रकार शब्द ही धर्म नहीं है । शब्द में धर्म है । अधिकांश लोग शब्द को ही धर्म मानते हैं, शब्द में धर्म नहीं मानते । वास्तव में शब्द के पीछे जो धर्म छिपा हुआ है उसे लेना है, शब्द को नहीं पकड़ना है। थोड़ी और गहराई से देखें तो पता चलेगा अयोध्या में शब्द को पकड़ लेने से ही सारा अनर्थ हुआ । जहाँ पर व्यक्ति ने शब्द को पकड़ा, उसने मानो छिलके को पकड़ लिया । यह ठीक है कि कोई व्यक्ति जब व्याख्यान देगा या धर्म के बारे में कुछ कहेगा तो शब्द के द्वारा ही कहेगा । पर यदि आप उसके शब्द को तो पकड़ लें पर उसके तात्पर्य को न समझें तब तो आपने शब्द का दुरुपयोग ही किया । मैं इसे यों कहना चाहूँगा कि आप शब्द को घर तो बनाइये, पर उसे कारागार मत बनाइये । कारागार और घर दोनों सीमेंट, पत्थर और ईंट से बनते हैं घर पर और कारागार में एक अंतर है । घर में रहने वाला व्यक्ति घर में रहते हुए भी स्वतंत्र है। वह खिड़की रखता है; दरवाजे रखता है उन्हें बन्द करता है, खोलता है । उसे सभी तरह का स्वातंत्र्य है । घर में बाहर और भीतर दोनों ओर चिटकनी रहती है, पर कारागार में केवल बाहर ही चिटकनी रहती है, भीतर नहीं । इसका तात्पर्य यह है कि उसमें रहने वाला कैदी भीतर से चिटकनी लगाने के लिये स्वतंत्र नहीं, न ही वह स्वयं दरवाजे को खोल सकता है । वह तो बाहर से बन्द कर दिया जाता है तथा बाध्य है कि जब निकाला जाये तब निकले और जब न निकाला जाये तो उसमें बन्द रहे । तो, शब्द को ऐसा कारागार मत बना दीजिये कि धर्म कैदी की तरह ताले में बन्द रहे । धर्म तो गृहपति है और शब्द उसका गृह । इस गृह को सुन्दर से सुन्दर बनाइये पर ध्यान रखिये कि इसका गृहपति धर्म है । धर्म कारागार का कैदी नहीं । अधिकांश लोग शब्द को घर नहीं रहने देते, जेलखाना बना देते हैं । शब्द को पकड़कर कहते हैं—ऐसा शब्द लिखा हुआ है; गीता में, रामायण में, वेद में ऐसा लिखा हुआ है । वे यह नहीं देखते कि वह लिखा किस अर्थ में गया है । जब शब्द को व्यक्ति पकड़ लेता है तो उसके परिणाम के संबंध में रामायण के उत्तरकांड में कहा गया है—

श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई । छूट न अधिक अधिक अरुझाई ।।
७।११६।६

—शास्त्रों और पुराणों में मनुष्य को छूटने के जितने उपाय बताये गये, मनुष्य उन उपायों के द्वारा छूटने के बदले और बँधता गया। शब्द को पकड़ लेने के कारण ही बँधता चला गया। एक दृष्टांत आपको मालूम ही है। समुद्र के किनारे जब बंदर निराश हो गये तो सम्पाति के रूप में उन्हें सद्गुरु प्राप्त होता है, जो उनको निराशा को दूर करता है। वानर यह समझ रहे हैं कि सामने तो समुद्र है, अतः सीता हमें प्राप्त नहीं हो सकतीं और हमारी मृत्यु अब निश्चित है। सम्पाति ने उन्हें बताया कि ऐसी बात नहीं; जो समुद्र तुम देख रहे हो, उसके मध्य में सुमेर शैल है, उस पर लंका है और उस लंका में अशोक वाटिका है जिसमें सीताजी बैठी दिखाई दे रही हैं। बन्दरों ने कहा कि हमें तो यह सब नहीं दिखाई दे रहा है। इस पर सम्पाति ने व्यंग्य किया कि अगर खुद न देख सको तो आँख वाले पर तो विश्वास करो। दो ही उपाय हैं जीवन में—या तो आपकी आँख इतनी पैनी हो कि आप सत्य को देख लें, या यदि आँख इतनी पैनी न हो तो कम से कम कान इतने अच्छे हों कि दूसरे महापुरुषों की वाणी पर विश्वास कर लें। तो, सम्पाति ने कहा—**मैं देखउँ तुम नाहीं गीधहि दृष्टि अपार** (४।२८)—हमारे पास जो आँख है, वह तुम्हारे पास नहीं। पर बन्दर तो मानो यह कहना चाहते थे कि महाराज जब आपकी आँख पैनी है तो आप सीताजी का पता भी लगा दीजिये, उनकी खोज-खबर भी ले आइये। लोग ऐसे गुरुओं की खोज में बहुत रहते हैं जो सब कुछ कर दें और स्वयं को करना-धरना कुछ न पड़े। पर सम्पाति चतुर निकले। उन्होंने कहा—**बूढ़ भयउ न त करतेउँ कछुक सहाय तुम्हार ।।** (४।२८)—अब हम बूढ़े हो गये, हमसे कुछ होगा नहीं करना तो तुम्हे ही पड़ेगा। हम बता देते हैं कि भक्ति देवी कहाँ हैं। श्री सीता मूर्तिमती भक्ति हैं जो लंका के देहनगर में मोह के द्वारा बंदिनी बना ली गई हैं। सम्पाति के रूप में आचार्य ने भक्ति की प्राप्ति का उपाय बता दिया। बन्दर तो सुनकर घबरा गये कि समुद्र चार सौ कोस का है। सम्पाति ने कहा कि—

मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा। राम कृपाँ कस भयउ सरीरा ।।
४।२८।२

—मेरी ओर देखो, धैर्य धारण करो, भगवान् राम की कृपा का आश्रय लो और—

जो लाँघइ सत जोजन सागर। करइ सो राम काज मति आगर ॥
४।२८।१

—तुम लोगों में से जो व्यक्ति चार सौ कोस के समुद्र को पार कर सकेगा वही बुद्धिमान व्यक्ति सीताजी के दर्शन करेगा। तुम लोग कायरता छोड़ो—

तासु दूत तुम्ह तजि कदराई। राम हृदयँ धरि करहु उपाई ॥ ४।२।८४

इतना कहकर गीध चला गया। आचार्य तो संदेश देकर, कथा सुना कर चले गये। अब सुनने वालों का अर्थ भी सुन लीजिये। सम्पाति के चले जाने के बाद—

निज निज बल सब काहूँ भाषा। पार जाइ कर संसय राखा ॥
४।२८।६

—सबने अपने-अपने बल का वर्णन तो किया पर उस पार जाने में संशय व्यक्त किया। जाम्बवानजी ने कहा—क्या बताऊँ मैं तो अब बूढ़ा हो गया। उनसे यदि कोई पूछे कि कथा में क्या बुढ़ापे का स्मरण दिलाया गया था, तो वे कहेंगे—हाँ। संपाति ने अपनी कथा में कहा था कि मैं बूढ़ा हो गया, नहीं तो कुछ सहायता करता। बस, जाम्बवान ने उसी शब्द को पकड़ लिया और कहा कि यदि सम्पाति बूढ़े होने के कारण सहायता नहीं कर सकते थे तो हम भी कुछ नहीं कर सकते। कथावाचक जी ने जो कुछ कहा वह बिलकुल ठीक कहा। अन्य बन्दरों ने कहा कि हम भी पार नहीं जा सकते। पूछा गया—क्यों? यो बोले—कथा में निकला है। सम्पाति जी ने कहा है कि तुम लोगों में से जो लाँघेगा वही सीताजी को प्राप्त करेगा। इसका तात्पर्य यह है कि सब नहीं लाँघेंगे, केवल एक ही लाँघेगा और जो लाँघेगा वह हम नहीं हैं, कोई और होगा। इस प्रकार ये लोग भी छुट्टी पा गये। अंगदजी ने कहा कि मैं पार तो चला जाता पर लौट कर आऊँगा कि नहीं इसमें संदेह है। यह संदेश अंगद को कहाँ से मिला? कथा में तो बार-बार विश्वास का ही संकेत था। उन्होंने कहा—सम्पाति ने अभी आपको कथा सुनाई थी कि बिना

विचारे सूर्य की ओर बढ़ने की उन्होंने चेष्टा की तो नीचे गिरना पड़ा। हम भी बिना विचारे बढ़ेंगे तो सम्पाति की तरह नीचे गिरेंगे, इसलिये हम नहीं जा रहे हैं।

इसका अर्थ यह है कि कथा के मूल तात्पर्य को किसी ने नहीं पकड़ा। कथावाचक ने कहा था—

मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा। रामकृपा कस भयउ सरीरा।।
४।२८।२

—तुम लोग राम की कृपा का आश्रय लेकर बढ़ो, निश्चित होकर विश्वास पूर्वक बढ़ो। पर उस कृपा का भरोसा करना छोड़कर प्रत्येक व्यक्ति ने अपने स्वार्थ, अपनी वासना, दुर्बलता आदि के अनुकूल शब्द पकड़ लिया और शब्द का मनमाना अर्थ करते हुए यह समझता रहा कि हमने कथा ठीक सुनी है। हमने शब्द को पकड़ लेने के ऐसे-ऐसे खेल देखे हैं कि उसकी कोई सीमा नहीं।

मैंने जब कथा कहना प्रारंभ ही किया था तो एक भगतजी मिले। वे कथा के बड़े प्रेमी थे। मुझसे कहने लगे—मेरे घर चलकर कथा सुना दीजिये। मैंने पूछा—किस प्रसंग पर कथा कहूँ, तो बोले—रामायण में यह जो दोहा लिखा हुआ है—

अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन।। २।१७४

—उसी पर मैंने उनसे कहा—आप भक्ति या अन्य प्रसंग छोड़कर 'पालहिं पितु बैन' के चक्कर में क्यों पड़ रहे हैं? उन्होंने कहा—बात यह है कि यह कथा मुझे बड़ी पसंद है। बाद में मुझे पता चला कि इसी प्रसंग के पीछे उनका आग्रह क्यों था। ये भक्त बड़े बूढ़े थे बिचारे, पचहत्तर-छिहत्तर बरस के थे। लड़के नौजवान थे, पर लड़कों से नहीं पटती थी। इन भगत के मन में विवाह करने की इच्छा थी। लड़के विवाह का विरोध करने लगे। उन्होंने सोचा कि यदि बढ़िया कथा हो जाये तो लड़के मेरे विवाह का विरोध करना बंद कर दें! तो क्या तुलसीदासजी ने इसीलिये दोहा लिखा है? '**अनुचित उचित बिचार कर जे पालहिं पितु बैन**' —इस कथन का क्या यही उपयोग है? ऊपर से अर्थ तो यही निकलता है, शब्द तो यही कहते हैं कि उचित और अनुचित का विचार छोड़कर

जो पुत्र पिता की बात मानता है वह इस जीवन में सुख-सुयश का भाजन होता है और मरने के बाद स्वर्ग जाता है। पर वाक्य भले ही यह कहे, किंतु आप सोचिये इस कथन का मर्म यही है क्या? जब पुत्र से कहा गया कि पिता के वाक्य में उचित-अनुचित का विचार न करे, तो शास्त्र का इस आदेश में भाव क्या था? यही कि ऐसा कौन अयोग्य पिता होगा जो पुत्र को अनुचित आज्ञा देगा? जब पुलिसवाले को आदेश दिया जाता है कि तुम न्यायाधोश के आदेश पर बिना विचारे गोली चला दो तो यह मानकर कहा जाता है कि न्यायाधीश तो बिना विचारे गोली चलाने की आज्ञा ही नहीं देगा। जब एक व्यक्ति को आदेश दिया गया कि बिना विचारे गोली चलाओ, तो दूसरे व्यक्ति को अधिकार दिया गया कि वह विचारपूर्वक निर्णय करे कि गोली चलाने की आज्ञा देने का उचित अवसर है या नहीं। इसी प्रकार शास्त्र ने जब यह कहा कि पुत्र को उचित-अनुचित का विचार नहीं करना चाहिये तो शास्त्र का उद्देश्य यह था कि पिता को उचित-अनुचित का विचार करके तब आदेश देना चाहिये। पर अगर पिता इतना चतुर निकले कि वह शास्त्र के उद्देश्य को पलटकर केवल अपने पक्ष में मोड़ ले तो इसके द्वारा शास्त्र को धोखा देने की बात तो हो सकती है लेकिन शास्त्र के उद्देश्य की पूर्ति नहीं। अगर इस दोहे को आप इस अर्थ में स्वीकार करें कि पिता चोरी करने का आदेश दे तो भी रामायण के मतानुसार, उसका पालन किया जाना चाहिये, तो आपने शास्त्र को शब्द का कारागार बना दिया। शब्द के पीछे जो भावना है, शब्द रूपी छिलके के पीछे जो रस है, उसे पीजिये। शास्त्र का तात्पर्य यह है कि गुरु वह है जो गुरुत्व में स्थित होकर बोले, पिता वह है जो पितृत्व में स्थित होकर बोले और माता वह है जो मातृत्व में स्थित होकर बोले। जिसने उचित और अनुचित का विचार छोड़ दिया न तो वह गुरुत्व में रह गया, न पितृत्व में। न्यायाधीश की आज्ञा या निर्णय तब तक पालनीय है जब तक वह कानून का बंदी है। आपको भले ही लगता हो कि न्यायाधीश का निर्णय बदला जा सकता है, किंतु न्यायाधीश क्या निर्णय लेने में स्वतंत्र है? उसे भी तो संविधान का बन्धन स्वीकार करना पड़ता है और कानून के अनुकूल निर्णय देना पड़ता है। यदि वह कानून के अनुकूल निर्णय न दे तो आप अगले न्यायालय में चले जाते हैं—यह कहकर कि न्यायाधीश ने जो आज्ञा दी है वह कानून के विरुद्ध है। इसी प्रकार, माता, पिता और

गुरु भी शास्त्र के, संविधान के बंदी हैं। इसका अभिप्राय यह है कि उनको भी नियम-विधान का बन्धन स्वीकार कर आदेश देना चाहिये। यदि पिता यह निर्णय करे कि हम अनुचित आदेश कभी नहीं देंगे और पुत्र यह निर्णय ले कि हम बिना विचार किये पिता की बात मानेंगे तब तो समन्वय ठीक बना रहेगा। दोनों में से एक ने भी अगर अपना मन-माना अर्थ खींचने की चेष्टा की तो गड़बड़ी हो जायगी। पुत्र अगर यह सोचे कि क्या हमारे पास बुद्धि नहीं है, हम अपनी बुद्धि से निर्णय करेंगे और ऐसा सोचकर अपने अहंकार का समर्थन करने लगे और पिता अगर कहने लगे कि शास्त्र ने तो कहा है कि मैं चाहे जो कहूँ, तुम्हें मेरी बात माननी होगी, तो वस्तुतः यह अहंकार और वासना का संवाद होगा, पुत्र और पिता का नहीं। यह धर्म के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति नहीं करेगा। धर्म के द्वारा समाज में जो पतन हुआ वह वस्तुतः इसी कारण से हुआ कि अधिकांश स्वार्थी लोगों ने धर्म की व्याख्या अपनी इच्छा और स्वार्थ के अनुकूल की। उन्होंने शब्द को पकड़कर मनमाना अर्थ लगाते हुए कहा कि शास्त्र ऐसा कहता है।

श्री भरत इस शब्द के छिलके को अलग करना जानते थे। इसीलिये जब वसिष्ठ ने उपर्युक्त बात कही तो भरत ने मुस्कुराकर कहा—गुरुदेव आप ठीक कहते हैं। लेकिन जब बात को मानने का अवसर आया तो भरतजी ने नहीं माना। इसी प्रकार जब आप आम के फल को खाने लगें तो गुठली को अवश्य अलग कर द। शास्त्रों में धर्म के पालन के लिये बहुधा फलों का प्रलोभन दिया गया है—ऐसा करो तो ऐसा होगा, कार्तिक में स्नान करो अमुक फल मिलेगा, अमुक करो तमुक फल प्राप्त होगा। यह सब गुठली के समान हैं। इसको बहुत अधिक महत्त्व न दें तभी ठीक रहेगा। अधिकांश लोग गुठली को ही अधिक महत्त्व दिया करते हैं। मान लीजिये एक माँ ने बालक से कहा कि बेटा. पढ़ोगे तो मिठाई मिलेगी। अब क्या पढ़ाई और मिठाई में कोई संबंध है ? माँ ने यह इसलिये कहा कि मिठाई में यदि बालक की आसक्ति है तो मिठाई के लोभ से पढ़ाई करेगा। यदि वह इस लोभ से पढ़ डाले तो लोभ भी सार्थक हो गया। किंतु इसके विपरीत यदि मिठाई की बात सुनकर बालक पुस्तक खोलकर बैठ जाय और पुस्तक पढ़ने के बदले बार-बार यह देखे कि मिठाई कब आ रही है तब तो मिठाई ने उसकी रही-सही पढ़ाई भी छुड़ा दी। इसी प्रकार फलश्रुति के लोभ से यदि धर्म की ओर

प्रवृत्ति हो जाय तो ठीक है, किंतु फलश्रुति का लालच यदि इतना प्रबल हो जाय कि फल ही फल की ओर ध्यान रहे और जो कुछ करना है वह भी भूल जाये, तब तो इस फलश्रुति—रूपी गुठली ने सारे रस का स्वरूप ही नष्ट कर दिया। इसका अभिप्राय यह है कि फलश्रुति की गुठली और शब्द के छिलके को अलग करके उसके पीछे निहित शब्द का जो तत्त्व है, रस है, सार है, उद्देश्य है उसे ग्रहण करें। वस्तुतः यही धर्म का स्वरूप है। रामचरितमानस में इसी महान् धर्म की व्याख्या भगवान् राम और भरत के चरित्र के द्वारा हुई और तब कहीं रामराज्य बना।

मैंने एक बार पहले भी आपसे कहा था कि देश में सत्य के नाम पर बहुधा अहंकार की पूजा की गई है। जो शब्द मुँह से निकल गया उसे कर के दिखा देंगे! एक जगह पढ़ा था कोटा या बूँदी के राजा ने प्रतिज्ञा कर ली कि जब तक हम बूँदी का किला जीत नहीं लेंगे तब तक पानी नहीं पियेंगे। दूसरे दिन पता चला कि एक दिन में तो किला जीता जा नहीं सकता। तब एक बुद्धिमान मंत्री ने सुझाव दिया कि एक नकली बूँदी का किला बना लीजिये। उसको जीतकर पानी पी लीजिये; असली किला बाद में जीतियेगा। और राजा ने ऐसा करके अपने को प्रसन्न कर लिया। क्या बढ़िया धर्म है! मेरे मुँह से कुछ निकल गया तो पूरा ही होगा। पूरा करने का उपाय यदि सीधा न बना तो कोई बनावटी बूँदी का किला ही सही। क्या यही वह सत्य है जिसकी महिमा शास्त्रों और वेदों में लिखी हुई है? आप जरा देखिये, रामायण में सत्यनिष्ठ कौन है? सत्य की व्याख्या वस्तुतः भरत और भगवान् राम के जीवन में है। राम ने लक्ष्मण से कहा—लक्ष्मण, मैंने निर्णय किया है कि जिस बाण से मैंने बालि का वध किया था, उस मूर्ख सुग्रीव का वध भी कल मैं उसी बाण से करूँगा।

जेहिं सायक मारा मैं बाली। तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली॥

४।१७।५

—अब अगर भगवान् राम इतने सत्यनिष्ठ होते तो दूसरे दिन सुग्रीव को जरूर मारते, क्योंकि घोषणा कर ही चुके थे। मैंने कुछ ऐसे भी व्याख्याकर देखे जिन्हें भगवान् राम के सत्य को बचाने की चिंता थी। और इसलिये वे चौपाई का अर्थ ही तोड़-मरोड़कर बदल देते थे। वे

कहते थे कि भगवान् राम ने यह थोड़े ही कहा था कि मैं मारूँगा, उन्होंने तो यह कहा कि लक्ष्मण, जिस बाण से मैंने बालि को मारा है अगर उसी बाण से मैं सुग्रीव को मार डालूँ तो लोग मुझे मूढ़ कहेंगे, इसलिये मैं नहीं मारूँगा। ऐसी व्याख्या कर वक्ता को संतोष हो जाता था कि भगवान् राम का सत्य बच गया। यह वक्ता बेचारा अपने व्यामोहयुक्त शब्दों को ही सत्य मान बैठा। पर भगवान् राम ने तो सचमुच ही कहा था कि जिस बाण से मैंने बालि का वध किया था, उस मूर्ख सुग्रीव का वध भी कल उसी बाण से करूँगा। किंतु उन्होंने वैसा नहीं किया और सुग्रीव को गले से लगा लिया। क्यों ? इसलिये कि भगवान् राम का सत्य शब्दमूलक नहीं था, भावमूलक था। उदाहरणार्थ, किसी डाक्टर ने कहा कि कल मैं इस फोड़े का आपरेशन करूँगा। मान लीजिये रात को आपका फोड़ा खुद ही फूट गया। आप डाक्टर के पास गये। अब यदि डाक्टर यह कहे कि भाई, फोड़ा तो ठीक हो गया है पर सत्य की रक्षा के लिये मैं आपरेशन तो करूँगा ही, तो उसे आप सत्यनिष्ठ कहेंगे या अविवेकी ? इसका अभिप्राय यह है कि सत्य वस्तुतः स्वस्थता है जिसके लिये डाक्टर ने निर्णय किया था कि मैं शल्यचिकित्सा करूँगा। अब अगर बिना शल्यचिकित्सा के ही फोड़ा अच्छा हो गया तो लक्ष्यनिष्ठ डाक्टर कहेगा कि अब शल्यक्रिया कि कोई आवश्यकता नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि शब्दनिष्ठ होना और बात है तथा शब्द के उद्देश्य को समझना और। भगवान् राम लक्ष्मणजी से कहते हैं कि मूर्ख सुग्रीव ने मुझे भुला दिया है इसलिये कल उसका वध करूँगा। लक्ष्मणजी बड़े प्रसन्न हुए। साथ ही सोचने लगे कि यह मेरी भाषा कबसे बोलने लगे ? उन्होंने भगवान् राम से कहा—महाराज, इसमें तीन संशोधन हैं। पहला बालि का वध आपने किया था तो सुग्रीव का वध मैं करूँगा। दूसरा आपने जो कहा कि आप अपने बाण से मारेंगे वह ठीक नहीं, मैं अपने बाण से उसे मारूँगा। तीसरा आपने कहा कि कल मारेंगे, इतना विलंब करने की क्या आवश्यकता है ? कल पर काम टालना ही नहीं चाहिये। पिताजी ने निर्णय किया था कि कल राज्य देंगे तो वह अब तक नहीं हो पाया। अगर वे तुरन्त राज्य दे देते तो यह झंझट ही न आती। इसलिये कल नहीं, अभी ही जाकर मार देते हैं। लक्ष्मणजी के ऐसा कहने पर प्रभु ने हँसकर उनका हाथ पकड़ लिया। बोले—लक्ष्मण, क्या तुम समझते हो कि मैं मारने की बात कह रहा हूँ ? लक्ष्मण बोले आपके शब्द ही तो

कह रहे हैं। पर प्रभु शब्द के पीछे पागल नहीं हैं। उन्होंने कहा—मेरा उद्देश्य तो समझ लो—

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव।
भय देखइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव॥ ४।१८

—मैंने तो डर दिखाने के लिये मारने की बात कही थी, मारने-वारने की कोई योजना नहीं है। यही उद्देश्यमूलक सत्य है। यह सत्य शब्द में नहीं, भाव में है। भगवान् राम ने सुग्रीव से कहा था—सुग्रीव चिंता मत करो, मैं एक बाण से बालि का वध करूँगा। ठीक है, बालि को उन्होंने एक बाण से मारा, बालि गिर पड़ा, वे जाकर सामने खड़े हो गये। बालि ने पूछा—आपने क्यों मारा? उसका उत्तर भी दे दिया। उसके बाद बालि ने कुछ ऐसी बात कह दी कि उन्होंने उसके सिर पर हाथ रख दिया और बोले—'**अचल करौं तनु राखहु प्राना**' (४।८।२)—बालि, अब मैं तुम्हें अमर कर देना चाहता हूँ, तुम्हारी मृत्यु की कोई आवश्यकता नहीं। तो क्या वे अपनी प्रतिज्ञा भूल गये? सुग्रीव से तो कह रहे थे कि बालि को एक ही बाण से मार डालूँगा। यहाँ पर उन शब्दों को भुलाकर कहते हैं—मैं तुम्हारे प्राणों की रक्षा करूँगा। यहाँ भी रहस्य वही है—श्री-राम अपने अहं की रक्षा को सत्य नहीं मानते, वे उद्देश्य की पूर्ति को सत्य मानते हैं। बालि के विरुद्ध उन्होंने शस्त्र उठाया था उसके अहंकार के कारण। अगर बालि का अहंकार नष्ट हो गया है तो भगवान् राम को इसमें कोई आपत्ति नहीं कि उनका शब्द न बचे और बालि बच जाये। यही धर्मसार है जिसे शब्दों के माध्यम से नहीं, शब्दों से ऊपर उठकर जाना जा सकता है। इसे गुरु वसिष्ठ ने भरत से सीखा।

इसके पहले गुरु वसिष्ठ तथा महाराज दशरथ वेद की उस सीमा तक पहुँचे थे जिसका संकेत गीता में '**त्रैगुण्यबिषयावेदा**' कहकर किया गया है। महाराज श्री दशरथ मूर्तिमान वेद हैं, गुरु वसिष्ठ उस धर्म के सर्वोत्कृष्ट व्याख्याता हैं। महाराज श्री दशरथ रामायण के उच्चतम पात्र हैं पर अपनी दुर्बलताओं से मुक्त नहीं हैं। अगर आप गंभीरता से विचार करेंगे तो पता लगेगा कि गोस्वामीजी दर्शन और चरित्र का निर्वाह एक साथ कर देते हैं। चारित्रिक दृष्टि से देखिये तो चारित्रिक अर्थ में और आध्यात्मिक दृष्टि से देखिये तो आध्यात्मिक अर्थ में। महा-राज दशरथ भगवान् राम को गोद में लेकर क्रीड़ा करा सकते हैं, वे राम

सीता का विवाह देख सकते हैं, पर बस यहीं तक, उसके आगे नहीं। रामराज्य की जो चरम परिणति है उसे वे नहीं देख पाते। गोस्वामीजी ने अयोध्याकांड में महाराज दशरथ और भरत का वर्णन दो योगियों के रूप में किया। एक योगी साधना की चरम स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते नीचे गिर गया और दूसरा योगी सफल हो गया। श्री दशरथ के लिये तुलसीदासजी लिखते हैं—

कवनें अवसर का भयउ गयउँ नारि बिस्वास।
जोग सिद्धि फल समय जिमि जतिहि अविद्या नास॥ २।२९

—जैसे योगसिद्धि की राह में किसी योगी को अविद्या ने नष्ट कर दिया हो, महाराज श्री दशरथ की ऐसी ही दशा हुई। दूसरे योगी श्री भरत हैं। जब वे चित्रकूट में प्रवेश करते हैं तो गोस्वामीजी लिखते हैं—

करत प्रबेस मिटे दुख दावा। जनु जोगी परमारथु पावा॥
२।२३८।३

—तो एक योगी दशरथ चरमावस्था में पहुँचते-पहुँचते पतित हो जाते हैं और दूसरे योगी भरत उस चरम काल में सिद्धि की स्थिति तक पहुँच जाते हैं। क्या कमी है महाराज दशरथ में ? या दूसरे शब्दों में कहें तो क्या कमी है वेदों में जो भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को उनसे ऊपर उठने का आदेश दे रहे हैं ?

जब मैं दशरथजी की आलोचना करता हूँ तो उल्टा अर्थ न ले लीजियेगा। दशरथजी की आलोचना भरत की तुलना में है, हम लोगों की तुलना में नहीं। वेदों की ऊँचाई इतनी अधिक है कि हम और आप उनकी आलोचना की पात्रता नहीं रखते। यह तो अर्जुन या श्री भरत जैसे लोग ही हैं जो वेदों से भी ऊपर उठने की पात्रता रखते हैं। अतः मेरा तात्पर्य वेदों की मर्यादा को न्यून करना नहीं है। वेद व्यक्ति को उस सीमा तक तो पहुँचा ही देते हैं जहाँ वे आदेश या मुक्ति दे देते हैं कि अच्छा भई, अब मेरे आगे भी तुम बढ़ जाओ। महाराज श्री दशरथ भगवान् राम और सीता के विवाह तक तो पहुँचते हैं। पर जिस स्थिति में रावण, कुंभकर्ण, मेघनाद आदि का पूरी तरह निषेध हो जाये, अंधकार का लेश तक न रहे और केवल रामराज्य अपनी पूर्णता में रह जाये, वहाँ तक वेद नहीं पहुँचा सकते। इसीलिए दशरथ भी वहाँ तक नहीं पहुँच पाये।

अब कथा के अंतरंग में आवें। तीनों रानियों को भी जरा पहचान लीजिये कैकेयी हैं क्रियामयी, सुमित्रा हैं उपासनामयी और कौसल्या हैं ज्ञान मयी। कलंक कैकेयी को ही लगा। इसका अभिप्राय यह है कि विचार और भावना में कलंक का भय नहीं है, पर जहाँ क्रिया होगी वहीं कलंक लगेगा। ऐसा हो ही नहीं सकता कि आप कोई क्रिया करें और सोच लें कि आलोचना नहीं होगी। कौसल्या और सुमित्रा के साथ वह समस्या नहीं है जो कैकेयी के साथ है। सारे अनर्थों के मूल में तो मंथरा है जो अयोध्या की देन नहीं है। यह कैकेयी के साथ कैकेय देश से आई हुई है। भगवान् राम से चरित्र में तीन मोड़ देने वाली तीन प्रधान स्त्रियाँ हैं—विश्वामित्र के साथ चले तो सबसे पहले ताड़का सामने आई। भगवान् राम का वन गमन हुआ तो मंथरा कारण बनी और रावण से जब युद्ध हुआ तो शूर्पणखा कारण बनी। इन तीनों को आपने पहचाना ?—ताड़का है क्रोधमयी, मंथरा है लोभमयी और शूर्पणखा है काममयी। काम, क्रोध, लोभ की इन तीन वृत्तियों को आप यदि सही-सही पहचान लें तो आप देखेंगे कि ताड़का पर भगवान् राम ने प्रहार किया, शूर्पणखा पर लक्ष्मणजी ने और मंथरा पर शत्रुघ्नजी ने आघात किया। श्री भरत ने क्या किया इसकी चर्चा अभी हम छोड़ देते हैं।

मंथरा लोभ की वृत्ति है। इसका अर्थ यह है कि जहाँ क्रिया होगी वहाँ लोभ की वृत्ति तो होगी ही। सुमित्रा और कौसल्या के विवाह में कोई शर्त नहीं है पर कैकेयी के विवाह में महाराज कैकय ने यह शर्त कर ली कि मेरी कन्या से जो पुत्र होगा उसी को राज्य मिलेगा। इसका अर्थ यह है कि भावना और विचार शर्त रहित हैं किंतु क्रिया का पिता तो स्पष्ट शर्त रख देता है। महाराज दशरथ यह सोचकर शर्त स्वीकार कर लेते हैं कि अन्य किसी रानी को तो पुत्र हुआ नहीं, इसलिये कोई समस्या नहीं है; कैकेयी से पुत्र होगा और वह राज्य प्राप्त कर लेगा। जब कैकेयी को लेकर महाराज श्री दशरथ आने लगे तब कैकय को लगा कि मेरी पुत्री बड़े सीधे स्वभाव की है, इसकी रक्षा के लिये एक टेढ़े स्वभाव वाली को दे दें। और उन्होंने मंथरा को साथ में दे दिया। मंथरा बड़ी ही खतरनाक थी। लक्ष्मणजी उसको खूब पहचानते थे। जब तक मंथरा लक्ष्मणजी के द्वारा नियंत्रित रही तब तक कोई अनर्थ नहीं हुआ। इसका अर्थ यह है कि समाज में क्रिया के साथ लोभ की वृत्ति रहे तो कोई बात नहीं। जब तक लोभ की वृत्ति क्रिया के पीछे रहेगी तब तक अनर्थ नहीं

होगा, पर जब वह क्रिया के आगे चलेगी तो अनर्थ हो जायेगा। जब तक मथरा दासी बनकर सेवा करेगी तब तक झगड़े की बचत है और जब मंथरा मंत्राणी बन जाये और कैकेयी उसकी शिक्षा के अनुकूल चलने लगें, तभी सारी गड़बड़ी होगी। आज अधिकांश लोगों के जीवन में लोभ आगे और क्रिया पीछे है, जब कि लोभ को क्रिया का अनुगमन करना चाहिये। यह याद रखें कि यदि व्यक्ति लोभ का अनुगमन करेगा तो लोभ को पकड़ ही नहीं सकता। लोभ इतना चतुर है कि वह निरंतर आगे निकल जावेगा। मंथरा इतनी चतुर योजना बनाने वाली थी कि उसने कैकेयी को अपनी इच्छानुकूल चलाया और रामराज्य से श्रीराम को दूर कर दिया। मंथरा ने कैकेयी से कहा—दो वरदान माँगना, एक नहीं। इसका अर्थ यह है कि संसार में जब भी लोभ किसी के हृदय में आवेगा तो वह सदा दो वरदान माँगने के लिये कहेगा, एक नहीं। यदि संसार के लोभी एक ही वरदान माँगा करें तो इतना अनर्थ न हो। महाराज दशरथ ने कैकेयी के चरणों पर सिर रख दिया और कहा कि अगर तुम भरत को राज्य देना चाहती हो तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है, मैं भरत को राज्य दे दूँगा। मेरे लिये तो भरत और राम एक जैसे हैं। पर यह जो तुमने दूसरा वरदान माँगा है कि राम को वनवास मिले, **'बर दूसर असमंजस माँगा'** (२।३१।३)—उससे मेरा हृदय जल रहा है। इस प्रकार लोभी प्रवृत्ति दो वरदान माँगती है। लोभी यदि यह माँगे कि मेरा लाभ हो तो कोई बात नहीं, पर वह तो दो वरदान माँगता है कि हमें लाभ हो और बगल वाले को घाटा जरूर हो। मेरे बेटे को राज्य मिले पर पराये का बेटा जरूर जंगल में कष्ट पावे। जब लोभ की प्रवृत्ति में ये दो बातें रहेंगी तब रामराज्य में अवश्य बाधा पड़ेगी। लोभी अपना पूर्ण सुख इसी में मानता है कि उसके लाभ के साथ दूसरे को हानि हो।

मेरे एक परिचित सज्जन ईंट के व्यापारी थे। मैंने सुना कि उस वर्ष उनको बड़ा लाभ हुआ। पर जब मिले तो विशेष प्रसन्न नहीं थे। मैंने कहा, सुना है इस वर्ष आपको बड़ा लाभ हुआ है। बोले—हाँ, लाभ तो हुआ है पर सोचता हूँ कि पिछले वर्ष भी इतना लाभ होता तो कितना अच्छा होता। मैंने कहा—इस वर्ष तो हुआ। उन्होंने कहा—पता नहीं अगले वर्ष लाभ होगा या नहीं; यह तो ऐसा कच्चा व्यापार है कि पता नहीं, हो या न हो। मैंने फिर कहा—इस वर्ष तो हुआ न ? तो बोले—क्या हुआ, मेरे पड़ोसी को तो मुझसे दूना लाभ हुआ! मैंने कहा अब

आपका लाभ कभी पूरा नहीं हो सकता। जब आपको अपने लाभ के साथ-साथ यह चिंता है कि बगल वाले को घाटा होना ही चाहिये, तब तो आप अपने दुख को इतना बढ़ा चुके हैं कि उसकी कोई दवा नहीं। जहाँ लोभ की प्रवृत्ति व्यक्ति में आती है वहाँ ऐसा ही होता है। जहाँ क्रिया है, आसक्ति है, लोभ की प्रवृत्ति है, जहाँ ये दो वरदान हैं, वहाँ रामराज्य कैसे बनेगा।

अब कैकेयीजी के चरित्र की बात लें। कई लोग कैकेयी के चरित्र की बड़ी प्रशंसा किया करते हैं। एक सज्जन ने यहाँ पर भी मुझसे कहा कि कैकेयीजी न होती तो कुछ भी न होता। इस पर मैंने कहा—यह तो सभी पात्रों के लिये आप कह सकते हैं। रावण न होता तो भगवान् राम कैसे विजयी होते ? यह भी कोई अर्थ हुआ ! कैकेयीजी अंतरङ्ग में क्या इसकी चर्चा छोड़ दें, पर यह तो मैं निस्संकोच कह सकता हूँ कि रामचरित-मानस के मंच पर उन्हें श्रेष्ठ पात्र के रूप में नहीं प्रस्तुत किया गया है। मैं तुलसीदासजी की कैकेयी की बात कह रहा हूँ। कैकेयी के चरित्र को रामराज्य के संदर्भ में रखें और देखें कि उससे रामराज्य में कैसे बाधा पड़ती है। उसमें अविद्या और लोभ की जो प्रवृत्ति है, गोस्वामीजी उसकी ओर संकेत करते हैं, उसकी ऊँचाई की ओर नहीं। आप कैकेयी के चरित्र की ऊँचाई यदि किसी अन्य ग्रंथ के संदर्भ में देखना चाहें तो वैसा कर सकते हैं, किंतु रामचरितमानस की व्याख्या तो स्पष्ट है। हम रङ्गमंच के तथ्य की व्याख्या कर रहे हैं, परदे की आड़ के तथ्य की नहीं। आप जब नाटक देखने बैठेंगे तो पात्र रङ्गमंच पर जैसा कार्य करता है उसी के अनुकूल उसकी समीक्षा होगी, परदे के पीछे उसका जो रूप है उसकी नहीं। रामचरितमानस में यह मनोवैज्ञानिक रूप से बताया गया है कि वे परिस्थितियाँ कौन-सी हैं जिनमें रामराज्य नहीं बनता। दशरथजी की सबसे अधिक प्रीति होनी चाहिये थी कौसल्याजी से या फिर सुमित्राजी से। पर कैकेयीजी परमसुन्दरी हैं और वे उनकी आसक्ति का केन्द्र हैं। वेदवादियों के संदर्भ में इसी समस्या को **'क्रिया विशेषबहुलाम्'** कह कर गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने व्यक्त किया और कहा कि वे क्रिया में ही बहुत अधिक आसक्त रहते हैं। महाराज दशरथ की सबसे बड़ी आसक्ति क्रिया में है। कल रामराज्य बनाने वाले हैं। अगर कहीं आज की रात्रि महाराज दशरथ कौसल्या या सुमित्रा के भवन में चले जाते तो कल रामराज्य हो गया होता, पर जब उनके सामने चुनाव का प्रश्न आया

कि किसके भवन में चलें तो कैकेयी के सुन्दरता के प्रति आसक्ति ने उन्हें वहीं चलने को प्रेरित किया। इसका अभिप्राय यह है कि रामराज्य की स्थापना के लिये उन्होंने विचार और भावना की बजाय क्रिया को केन्द्र बनाया। इसी कारण रामराज्य बन नहीं पाया क्योंकि क्रिया में भेदबुद्धि कभी मिट ही नहीं सकती।

लोभ की प्रवृत्ति—मंथरा—आती है और लोगों से पूछती है कि नगर क्यों सजाया जा रहा है ? लोगों ने बताया कि कल राम का राज्य होने वाला है। बस, इसी से उसका हृदय जल गया। यही लोभी का पहला चित्र है। दूसरे की सफलता देखकर हृदय जलने लगता है तो समझ लीजिये कि मंथरा हृदय में आ गई। यह मत समझिये कि मंथरा मर गई। वह आज भी जीवित है और सर्वत्र व्याप्त है। कुछ लोग आज भी रामराज्य की कल्पना करते हैं। महात्मा गाँधी का संकल्प ही था कि रामराज्य बने। पर रामराज्य क्यों नहीं बन पा रहा है ? मंथरा बनने दे तब न ! यह मंथरा जन-जन में व्याप्त है। जहाँ किसी को सफल होते लोग देखते हैं, उन्नति करते देखते हैं कि वे दुखी हो जाते हैं। मंथरा तुरन्त कैकेयीजी के पास गई। उसे लम्बी साँस लेते और आँसू बहाते देख कैकेयीजी हँसकर बोलीं—**'दीन्ह लखन सिख अस मन मोरे'** (२।१२।७) —लगता है लक्ष्मणजी ने तुम्हें कुछ शिक्षा दी है ! इसका अर्थ है कि लक्ष्मणजी बड़े चौकन्ने रहते थे कि अयोध्या में कभी अनर्थ होगा तो इसी के द्वारा होगा। किंतु वे भी कितने चौकन्ने रहें ? आज के दिन तो वे आनन्द में डूब गये थे। जब से उन्होंने सुना कि कल श्रीराम का राज्य होने वाला है, वे प्रसन्न थे। उनके ध्यान में यह नहीं आया कि एक रात्रि भी मंथरा को अपना कार्य करने के लिये बहुत है। दुर्गुण-दुराचार की क्षुद्र प्रवृत्ति कितनी शक्तिशाली हो सकती है इसका मूर्तिमंत दृष्टांत यहाँ पर मिलता है। मंथरा है तो अकेली, पर इतनी सजग और चौकन्नी है कि सारे नगर को देख आई। कैकेयीजी के यह पूछने पर कि क्या लक्ष्मण-जी ने कुछ शिक्षा दी, उसने लम्बी साँस लेकर कहा ठीक है, मैं तो इसी योग्य हूँ कि सभी लोग मेरी हँसी उड़ावें। तुम भी मेरी हँसी उड़ा रही हो। अच्छा, तुमने कुछ सुना ? कैकेयी ने पूछा—क्या ? वह बोली—कल राम को राज्य मिलने वाला है। कैकेयीजी ने सुना तो गद्‌गद हो गईं। हृदय आनन्द से उमड़ पड़ा। वे बोलीं—मंथरा, क्या यह समाचार सही है ? मैं तो यही कहूँगी कि—

राम तिलकु जौं साँचेहुँ काली । देउँ मागु मनभावत आली ।।
२।१४।४

—यदि सचमुच कल रामराज्य है तो तुम जो माँगो मैं वही पुरस्कार दूँगी ! यह सुनकर मंथरा को तो उदास हो जाना चाहिये था कि जहाँ इतनी ऊँची उदारता है वहाँ हमारी दाल कैसे गलेगी ? किंतु मंथरा घबराई नहीं । उसने सोचा—मकान की ऊँचाई तो देख रही हूँ पर जरा नींव की गहराई तो देखूँ । नींव की दुर्बलता को पकड़कर उसने कैकेयी को परास्त कर दिया । कैकेयी से उसने पूछा—प्रत्येक माँ अपने बेटे की उन्नति से प्रसन्न होती है, तुम दूसरे के बेटे की उन्नति से क्यों प्रसन्न हो रही हो ? कैकेयी ने दो वाक्य कहे और मंथरा आनंदित हो गई कि इनको बदलते देर नहीं लगेगी । पहली बार उन्होंने कहा—

'कौसल्या सम सब महतारी । रामहि सहज सुभायँ पिआरी' ।।
२।१४।५

—राम सारी माताओं को कौसल्या की तरह ही चाहते हैं । कैकेयी ने यदि इतना कहा होता, तो मंथरा निराश हो जाती, पर वे अपना सात्विक अहंकार छोड़ नहीं पाईं, अगले वाक्य में उन्होंने कहा—

मो पर करहिं सनेहु बिसेषी । मैं करि प्रीति परीक्षा देखी ।।
२।१४।६

—राम भले ही सबको बराबर चाहें पर मुझे वे अधिक चाहते हैं । मंथरा के कान खड़े हुए । उसने पूछा—तुमको कैसे पता चला कि राम तुमको अधिक चाहते हैं ? उन्होंने कहा—मैंने परीक्षा लेकर देखा । मंथरा प्रसन्न हो गई, क्योंकि व्यक्ति परीक्षा तो तभी लेता है जब संदेह हो । कभी कैकेयी को राम के प्रेम पर संदेह हुआ होगा तभी तो इन्होंने परीक्षा ली होगी । और यह कोई आवश्यक नहीं कि एक बार जो परीक्षा में पास हो जाये, वह पास ही होता रहे । मंथरा ने सोचा—राम हुए होंगे पास, अब मैं फेल करके दिखाऊँगी । क्रियापरायण व्यक्ति क्रिया में बदले की बात भूल ही नहीं पाता । यह क्रिया का अशुद्ध स्वभाव है । आप मेरा सम्मान कीजिये, मुझसे अच्छा बर्ताव कीजिये तो मैं भी आपका सम्मान करूँगा । आपने जरा भी मेरे साथ प्रतिकूल बर्ताव किया तो उसका बदला लूँगा । क्रिया की प्रवृत्ति बदला लेने की प्रवृत्ति है और यहीं उसका

भावना एवं विचार से अंतर है। कैकेयी का दर्शन यह है कि राम यदि अपनी माता की अपेक्षा मुझे अधिक चाहते हैं तो मैं भी अपने बेटे की अपेक्षा उन्हें अधिक चाहूँगी। किंतु, क्रिया में तो बदला हो सकता है, प्रेम में नहीं। कोई यह निर्णय करे कि तुम ऐसा करो तो हम ऐसा करेंगे, तो यह व्यापार है, प्रेम नहीं। यहाँ कैकेयीजी की पहली दुर्बलता प्रकट हो गई। इसके बाद जब मंथरा ने पूछा तो कैकेयी ने कहा—मैं तो राम से इतना प्रेम करती हूँ कि जब पूजा करती हूँ तो ब्रह्मा से एक ही वरदान माँगती हूँ—

जौं बिधि जनमु देइ करि छोहू। होहुँ राम सिय पूत पतोहू॥
२।१४।७

—अगला जन्म हो तो राम मेरे पुत्र बनें और सीता मेरी पुत्रवधू। लोग समझते हैं कि बड़ी ऊँची भावना है, किंतु भावना की ऊँचाई न समझ पाने वाले ही ऐसा सोचा करते हैं। यह तो कैकेयीजी की दुर्बलता की पराकाष्ठा है। वे कहती हैं कि राम अगले जन्म में मेरे बेटे बनें, जबकि राम तो सदैव ही उन्हें माँ कहकर पुकारते हैं और वे स्वयं कह रही हैं कि राम मुझे अपनी माता से भी अधिक चाहते हैं। फिर कैकेयी की यह चाह क्यों है कि राम अगले जन्म में मेरे बेटे बनें? इसलिये कि कैकेयी सोचती हैं, राम मुझे चाहे जितना चाहें, मैं चाहे जितना राम को मानूँ, पर संसार वाले तो राम को कौसल्या का ही बेटा कहेंगे, मेरा नहीं। इस 'मैं' और 'मेरेपन' वाली दुर्बलता को क्रिया कभी छोड़ नहीं सकती। इसके बिना क्रिया का केन्द्र ही नहीं बनेगा। क्रियापरायण व्यक्तियों का यही स्वभाव होता है। मंथरा कैकेयी की बात से बड़ी संतुष्ट हुई। उसने कहा—देवी, तुमने बिल्कुल ठीक कहा। सचमुच राम तुमसे बड़ा प्रेम करते थे। कैकेयी के कान खड़े हुए। प्रेम करते थे? मंथरा ने कहा—हाँ, पहले करते थे, अब नहीं—'**रहा प्रथम ते अब दिन बीते** (२।१६।६)। उसने कहा—तुम्हीं बताओ कि सूर्य और कमल इन दोनों का प्रेम कैसा? कैकेयी बोलीं—साहित्य में तो सूर्य और कमल की बड़ी प्रशंसा है। मंथरा ने कहा—राम तो हैं सूर्य और तुम हो कमल। आज तक साहित्यिकों ने यही कहा कि कमल और सूर्य एक दूसरे से प्रेम करते हैं, किंतु मैं बताती हूँ, सत्य यह है कि कमल तो सूर्य से प्रेम करता है, पर सूर्य कमल से प्रेम नहीं करता। सूर्य के प्रकाश को देखते ही कमल खिल जाता है। इससे

सिद्ध हुआ कि कमल सच्चा प्रेम करता है जो अपने प्रिय के उदय से प्रसन्न होता है। किंतु सूर्य बड़ा स्वार्थी है। यह कमल को तभी तक खिलाता है जल तक वह जब में रहता है—

भानु कमल कुल पोषनिहारा। बिनु जल जारि करइ सोइ छारा॥
२।१६।७

—सूर्य भी वही है और कमल भी वही। जब तक कमल जल में है, वह खिलेगा। पर कहीं जल सूख जाये तो वही सूर्य जो पहले कमल को खिला दिया करता था, अब उसे जला देता है। तुम हो कमल और राम हैं सूर्य और जब तक महारानी के रूप में तुम राजसत्ता पर हो तब तक राजसत्ता के लिये राम तुमसे प्रेम कर रहे हैं। जहाँ राम के पास राज्य गया, राजसत्ता का जल सूखा, तुम महारानी नहीं रहीं कि देखना, तुमको वे जलाकर खाक करेंगे। तुम्हें कारागार में डाल देंगे। और कैकेयीजी की बात इतनी बढ़िया समझ में आई कि बोलीं—तब मैं भी बदला लेकर दिखाऊँगी। यही प्रवृत्ति आप दुनिया में देखेंगे। सुमित्रा अम्बा का प्रेम नष्ट क्यों नहीं हुआ ? कैकेयीजी ने तो केवल कल्पना में यह सुना कि मेरे बेटे को राज्य नहीं मिलेगा, मुझे कारागार मिलेगा, मुझे सौत की सेवा करनी पड़ेगी और इतना सुनकर ही वे श्रीराम के प्रति विद्रोहिणी बन गईं। अब जरा इधर देखिये। सुमित्रा अम्बा को हनुमानजी के द्वारा समाचार मिला कि लंका के रणांगन में उनका पुत्र लक्ष्मण मेघनाद की शक्ति के कारण मृत्युशय्या पर पड़ा हुआ है। सुमित्रा अम्बा को कितना क्रोध आना चाहिये था कि मैंने राम के साथ अपना बेटा भेजा और उसने मेरे बेटे को अपने स्वार्थ के लिये मरवा दिया ? किन्तु जब सुमित्रा मैया ने सुना कि लक्ष्मण मृत्युशय्या पर पड़े हुए हैं तो उन्होंने शत्रुघ्न की ओर देखा और देखकर कहा कि शत्रुघ्न, इससे बढ़कर सुअवसर क्या होगा कि तुम भी अपने भाई का अनुगमन करो ? सुमित्रा और कैकेयी की भावना में भेद कहाँ है ? बस यही कि सुमित्रा उपासना हैं और कैकेयी क्रिया। क्रिया 'मैं' तथा 'मेरेपन' को नहीं छोड़ पाती। कैकेयी का रामप्रेम संसार भर में प्रसिद्ध था, सुमित्रा अम्बा का रामप्रेम तो अयोध्या में भी प्रसिद्ध नहीं था। वे दोनों मिलते भी थे तो बड़े अनोखे ढंग से। भगवान् राम जब वन जाने लगे तो कौसल्याजी से एक बार मिले और कैकेयी से दो बार, पर सुमित्रा अम्बा से मिले ही नहीं। आपने ध्यान से अगर रामा-

यण पढ़ी होगी तो ठीक है, अन्यथा अच्छी तरह देख लें। सुमित्रा अम्बा भी अनोखी हैं। राम वन जा रहे हैं, सुमित्रा अम्बा ने लक्ष्मण को तो भेज दिया पर स्वयं मिलने नहीं आईं। यह अनोखा संबंध तो इन्हीं दो माँ-बेटे में हो सकता था कि वन जाते समय राम उनसे न मिलें और वे अपने पुत्र को देकर भी स्वयं न मिलने आयें। इसका रहस्य क्या है? यही सच्ची उपासना है, सच्ची नींव है। महत्त्व इसका नहीं कि मकान कितना ऊँचा है, बल्कि यह देखना महत्त्वपूर्ण है कि उसकी नींव कैसी है।

अहंकार की नींव पर कैकेयी के प्रेम का भवन खड़ा था। अहंकार पर आघात लगा कि तुरन्त विद्रोही बनकर वे श्रीराम को देशनिकाला देने के लिये प्रस्तुत हो गईं। सुमित्रा अम्बा में अधिकार का त्याग है। लक्ष्मण उनसे आज्ञा लेने जाते हैं। सुमित्रा अम्बा पूछती हैं कि लक्ष्मण, तुम क्यों आज्ञा लेने आये? वे कहते हैं—माँ, प्रभु ने कहा कि जाकर माँ से आज्ञा माँग लो। माँ ने कहा—लक्ष्मण, तुम्हें अभी तक उपासना का यही रहस्य ज्ञात है कि राम ने माँ से आज्ञा माँगने को कहा और तुम मेरे पास आज्ञा माँगने चले आये? अगर मैं तुमको रोक दूँ तब तुम क्या करोगे? नहीं, नहीं, तुम्हें मेरे पास नहीं आना चाहिये था। जब राम ने कहा था कि माँ से आज्ञा माँग लो तो तुम अपनी सच्ची माँ से आज्ञा माँगकर वहीं से चले जाते और मेरे पास नहीं आते तब मैं समझती कि तुम भक्ति का रहस्य समझ गये हो।

'तात तुम्हारि मातु बैदेही' २।७३।२

—वैदेही के बेटे ने देह को माता मान लिया! इसका अर्थ क्या है? कैकेयी यह मानती हैं कि राम मेरे असली बेटे तब बनेंगे जब मेरे पेट से जन्म लेंगे। वे शरीर को केन्द्र मानती हैं। और सुमित्रा अम्बा अपने शरीर से जन्मे बेटे को आदेश देती हैं कि तुम अपनी माता को वैदेही समझो, देह को केन्द्र मानकर विचार न करो। इसका सीधा-सा तात्पर्य यही है कि विदेह को केन्द्र मानकर जो धर्म जीवन में स्वीकार किया जाता है वही रामराज्य की स्थापना का केन्द्र बनता है। सुमित्रा अम्बा कहती हैं—लक्ष्मण, तुम जाओ राम के चरणों में। इससे उनका तात्पर्य क्या था? सुमित्रा अम्बा यह नहीं चाहतीं कि उनका अपना पुत्र भी उन्हें माता कहकर पुकारे। इसके विपरीत कैकेयी अम्बा चाहती हैं कि राम इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में मेरे बेटे बनें। एक में 'मैं तथा मेरे-

पन' का परित्याग है और दूसरे में 'मैं तथा मेरेपन' की स्वीकृति। परिणाम यह हुआ कि कैकेयी ने तो राम को मनुष्य माना और सुमित्रा अम्बा ने ईश्वर। इसीलिए सुमित्राजी ने लक्ष्मणजी से एक वाक्य कहा **—भूरि भाग भाजनु भयहु** (२।७४)—लक्ष्मण, तुम जैसा पुत्र पाकर मैं धन्य हो गई ! लक्ष्मणजी मुँह ताकने लगे। अभी तो उन्होंने कहा था कि तुम्हारी माता वैदेही हैं और अभी कह रही हैं कि तुम जैसा पुत्र पाकर मैं धन्य हो गई ! सुमित्रा अम्बा कितनी भावुक हैं, इसका आनंद लीजिये। सुमित्रा अम्बा ने कहा—लक्ष्मण यह ठीक है कि दूध गाय का होता है पर यदि भगवान् को अर्पित किया जाये तो बीच में एक बर्तन की भी आवश्यकता होती है। बर्तन के दूध को जब भगवान् पीने की चेष्टा करेंगे तो उस पात्र को भी तो उनका स्पर्श प्राप्त होगा। इसी प्रकार तुम पुत्र तो वस्तुतः सीता के हो और राम की सेवा में अर्पित हो रहे हो, पर पात्र के नाते मुझसे तुम्हारा नाता तो जुड़ा ही हुआ है और अब तुम्हारे नाते राम से मेरा नाता जुड़ गया। वे इतनी भावमयी हैं। लंका-विजय के बाद जब श्रीराम लौटकर आये और लक्ष्मणजी ने सुमित्रा अम्बा के चरणों में प्रणाम किया तो सुमित्राजी ने लक्ष्मण को कसकर हृदय से लगा लिया। लोगों को लगा, चौदह बरस बाद बेटा आया है इसीलिये हृदय से लगा लिया। पर तुलसीदासजी की पैनी आँख ने कहा—नहीं, नहीं, वे बेटे को हृदय से नहीं लगाये हुई हैं—वे तो राम के चरणों से प्रेम करती हैं, लेकिन नाता उल्टा है। राम बेटे हैं, सुमित्रा माता हैं, यदि सुमित्राजी चरण छूना भी चाहें तो श्रीराम छूने नहीं देंगे। माँ चाहती हैं कि राम का चरण छूने को मिले पर लीला में छू नहीं सकतीं। जब लक्ष्मण को सामने देखा तो लगा कि मैं सीधे तो राम के चरणों का स्पर्श नहीं कर पाऊँगी पर यह लक्ष्मण अपने हृदय पर श्रीराम के चरण रखकर सोता रहा होगा। इसीलिये अगर इसको हृदय से लगा लूँ तो राम के चरणों के संस्पर्श का अनुभव मुझे भी प्राप्त हो जायेगा। ऐसी दिव्य भावना करते हुए तुलसीदासजी लिखते हैं—**भेटेउ तनय सुमित्राँ राम चरन रति जानि** (७।६-क) यहाँ पर अहंकार नहीं है, 'मैं और मेरापन' नहीं है यहाँ तो वस्तुतः समर्पण है। रामराज्य की स्थापना सम्पर्णभाव तथा 'मैं और मेरेपन' के परित्याग के द्वारा होती है जहाँ पर अच्छाई का आधार 'मैं और मेरापन' होगा वहाँ रामराज्य की स्थापना में बाधा पड़ेगी। यह 'मैं और मेरापन' कैकेयीजी में विद्यमान है

और उनके प्रति महाराज दशरथ की आसक्ति ही रामराज्य में बाधक बनी। इस बाधा का निराकरण श्री भरतजी के चरित्र में कैसे हुआ, इसकी चर्चा अगले व्याख्या में की जायेगी।

छठा व्याख्यान समाप्त

सातवाँ व्याख्यान

गोस्वामीजी भगवान् राम के मानवीय चरित्र को किस रूप में प्रस्तुत करते हैं और उनका इसके पीछे क्या उद्देश्य है इसकी चर्चा पिछले भाषणों में की जाती रही है। आइये, जहाँ से कथा की शृंखला छूटी थी वहीं से उसे प्रारंभ करें।

अयोध्याकांड के प्रारंभ में महाराज श्री दशरथ रामराज्य की एक योजना बनाते हैं किंतु उनकी वह योजना सफल नहीं होती। जब कोई योजना असफल हो जाती है तो उसमें कहीं न कहीं कमी होती है, कोई दोष होता है। वह कमी चाहे योजना बनानेवाले में हो, चाहे योजना को साकार रूप देने वाले में। महाराज दशरथ जैसे उच्च चरित्र वाले व्यक्ति का अंतिम संकल्प भी, जिसने तपस्या के द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया था, जिसने उसे पुत्ररूप में गोद में खिलाने का सौभाग्य प्राप्त किया था, यदि अधूरा रह गया तो उसका कारण क्या है? ऐसे प्रसंग में गोस्वामीजी संकोच नहीं करते। कई लोग तो महाराज दशरथ की आलोचना के शब्द से ही कुछ घबरा से उठते हैं। कैकेयीजी की आलोचना से भी उनको कष्ट सा होता है। इतना भावुक नहीं बन जाना चाहिये। तथ्य के रूप में जो सत्य प्रस्तुत किये गये हैं, उनसे हम दृष्टि चुराने की चेष्टा करें यह तो ठीक नहीं। गोस्वामीजी जानबूझकर इन पात्रों की उन कमियों का संकेत करते हैं जिनके कारण वे अपने उद्देश्य की पूर्ति में असफल रहे। यह ठीक है कि वे सब बड़े पवित्र चरित्र के लोग थे पर ऐसा नहीं कि उनके चरित्र में कोई दुर्बलता ही न हो। इसी सत्य को दृष्टिगत रखकर मानस के उत्तरकांड में एक बड़ा भयानक दावा किया गया है। उत्तरकांड में मनुष्य के जो मानसिक दुर्गुण हैं उनका वर्णन रोगों के रूप में किया गया है। अंत में यह प्रश्न उठाया गया है

कि शारीरिक रोगों के लिये तो परीक्षा के द्वारा यह जाना जा सकता है कि कौन-सा रोग हुआ है किंतु मानसिक रोगों के लिये किस परीक्षा द्वारा जाना जाये कि यह रोग हुआ है ? और वहाँ एक बड़ी विचित्र बात कह दी गई कि शारीरिक रोग में तो परीक्षा की आवश्यकता है पर जहाँ तक मानसिक रोगों का संबंध है वे रोग या दुर्गुण तो सब में हैं। साथ ही यह भी जोड़ दिया गया—

हृहिं सबकें लखि बिरलेन्ह पाए। ७।१२१।२

—हैं तो सभी के अंतःकरण में, पर बिरले ही व्यक्ति यह सही-सही समझ पाते हैं कि मेरे मन में क्या दोष है। वस्तुतः दुर्गुण और सद्गुण के संस्कार प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान हैं क्योंकि जिस सृष्टि में वह रहता है वह दोष और गुणों का संग्रह ही है। पूर्व जन्मों में प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में ये संस्कार न आये हों यह संभव नहीं। यहाँ पर भी एक अंतर है और वह यहाँ पर दिखाई देता है। जैसे पृथ्वी में अनेकों प्रकार के बीज विद्यमान हैं लेकिन सभी प्रत्यक्षतः अंकुरित होते नहीं दिखाई देते। वर्षा ऋतुओं में अनगिनत घास-फूस के इतने रूप दिखाई देते हैं जो अन्य ऋतुओं में नहीं दिखते। वर्षा ऋतु में इतने प्रकार के कीटाणु दिखाई देते हैं जो अन्य ऋतुओं में नहीं दिखते। इससे क्या यह सिद्ध होता है कि वे वर्षाऋतु में कहीं बाहर से आते हैं ? नहीं, वे वर्षाऋतु के पहले भी विद्यमान थे लेकिन अप्रकट थे। किसी भी वस्तु के प्रकट, अभिव्यक्त या अंकुरित होने के लिये सहयोगी वस्तुओं की अपेक्षा है। पृथ्वी में बीज हैं, वर्षा का सहयोग मिला कि वे बीज पृथ्वी से बाहर प्रकट हो जाते हैं। वर्षा नहीं मिली तो वे होते हुए भी अंकुरित नहीं हो पाते।

इसी प्रकार, मनुष्य के अंतःकरण में जो गुणों के बीज हैं, वे सत्संग और कुसंग के कारण अंकुरित होते हैं। अगर कुसंग के जल की वर्षा हो जाये तो अंतःकरण में छिपे हुए दुर्गुण सामने आ जाते हैं। इसीलिये यह तो बार-बार कहा गया है कि व्यक्ति को कुसंग से बचना चाहिये, इसका तात्पर्य यह है कि अगर वर्षा ही नहीं होगी तो अंकुर भीतर से कैसे फूटेगा ? अतएव यदि हम उन सहयोगियों के, जो हमारे दुर्गुणों को, हमारी दुर्बलताओं को बढ़ा दिया करते हैं, सन्निकट नहीं जावेंगे तो भले ही हमारे जीवन में दुर्गुणों के संस्कार विद्यमान हों, वे उभर नहीं पावेंगे।

इसी प्रकार मानवीय जीवन के सद्‌गुणों के अंकुरित होने के लिये जिस जल की अपेक्षा है, वह है सत्संग का जल। उन व्यक्तियों की बात जाने दीजिये जिनका अंतःकरण 'ऊसर' की तरह हो गया है, वह एक भिन्न श्रेणी है—

ऊषर बरषइ तृन नहिं जामा। जिमि हरिजन हियँ उपज न कामा।।
४।१४।१०

—वे हरिजन हैं, भगवान् के जन हैं। जैसे ऊसर में वर्षा होने पर भी तृण अंकुरित नहीं होता इसी प्रकार उनका अंतःकरण ऐसा हो जाता है कि प्रतिकूल परिस्थितियों में कुसंग के द्वारा उनपर प्रहार किये जाने पर भी उनका अंतःकरण विक्षुब्ध नहीं होता, उसमें दुर्गुण अंकुरित नहीं होते। पर यह तो अपवाद है। हम तो नियम की चर्चा कर रहे थे।

अयोध्याकांड के प्रारंभ में आप इसी सत्य को पावेंगे। कैकेयी और दशरथ ऐसे पात्र हैं जिनके विषय में यह कल्पना नहीं हो सकती कि इनके अंतःकरण में भी कहीं दुर्गुण या बुराइयों के कोई उत्स या बीज विद्यमान होंगे। लेकिन वहाँ पर भी वे अंकुरित होते दिखाई देते हैं और इसीलिये गोस्वामीजी एक विरोधाभासी दृष्टांत चुनते हैं। तुलसीदासजी मानस में जब सत्संग की महिमा का वर्णन करते हैं तो साथ ही कुसंग की महिमा का भी वर्णन करते हैं क्योंकि कुसंग भी सत्संग जितना ही शक्तिशाली है। दोनों के लिये चुनाव उन्होंने ठीक उलटे स्थानों पर किया। सत्संग की महिमा का वर्णन करने के लिये उन्होंने लंका नगर को चुना जबकि कुसंग की भयानकता चित्रित करने के लिये उन्होंने अयोध्या का चुनाव किया। वे लंका के संदर्भ में कह सकते थे कि कुसंग बड़ी भयानक वस्तु है तथा अयोध्या के संदर्भ में सत्संग को बड़ी अच्छी वस्तु बना सकते थे। पर वे दिखाना चाहते थे कि कुसंग अयोध्या को सर्वनाश की दिशा में ले जा सकता है तथा सत्संग के द्वारा लंका जैसे नगर में भी कुछ व्यक्तियों के जीवन में परिवर्तन हो सकता है। कुसंग की भयानकता के लिये उन्होंने कैकेयीजी के प्रसंग को चुना और कैकेयीजी के कुसंग का उपसंहार गोस्वामीजी ने इस प्रकार किया—

को न कुसंगति पाई नसाई। रहइ न नीच मतें चतुराई।।
२।२३।८

यहाँ पर तुलसीदासजी का स्वर चुनौती का है, वे पूछते हैं कि कौन ऐसा व्यक्ति है जो कुसंगति से नष्ट नहीं होगा ? इसका अभिप्राय यह है कि अयोध्या जैसे पवित्र नगर में कैकेयी जैसी उदार चरित्र वाली महिला पर भी, जिनके समीप श्रीराम निरंतर रहा करते हैं, मंथरा ने अपना प्रभाव डाल दिया । यह कुसंग की भयानकता है । और सत्संग की महिमा के लिये गोस्वामीजी ने लंका का प्रसंग चुना । हनुमानजी लंका में प्रविष्ट होने की चेष्टा कर रहे थे । अचानक लंकिनी ने उन्हें रोकने की कोशिश की और हनुमानजी ने उसपर मुक्के का प्रहार किया । लंकिनी मुँह के बल गिर पड़ी । जब उसके मुँह से रक्त निकला तो वह हाथ जोड़कर खड़ी हो गई । उसने हनुमानजी से कहा—मैं आपके सत्संग से धन्य हो गई—

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सत्संग ।। ५।४

—तो लंका जैसा नगर और उसमें लंकिनी जैसी रावण की चेली ! वह भी हनुमानजी का सत्संग पाकर धन्य हो गई, यह सत्संग की महिमा है । इसका अभिप्राय यह है संत और असंत दोनों ही समान रूप से शक्तिशाली हैं । दोनों की क्षमताएँ अद्भुत हैं । दोनों ही अवसर पाकर अपनी विशिष्टता को प्रकट करते हैं । अगर तुलनात्मक रूप से देखें तो गोस्वामीजी ने मंथरा और कैकेयी के प्रसंग में यही संकेत दिया है । मंथरा को कैकेयी चाहती हैं पर मंथरा की मनोवृत्ति क्या है । मैं आशा करूँगा कि आप मंथरा के मनोविज्ञान को, जो कि असंत का मनोविज्ञान है, ध्यानपूर्वक देखेंगे । बहुत से लोगों के मन में यह धारणा है कि मंथरा कैकेयीजी से बड़ा प्रेम करती है, पर यह सत्य नहीं है । असंत किसी से प्रेम नहीं करता । मंथरा भी किसी से प्रेम नहीं करती । मंथरा के अंतः-करण में कैकेयीजी के प्रति कोई राग नहीं है । कैकेयी और मंथरा का संबंध बड़े अनोखे प्रकार का है । मंथरा कैकेयी के प्रति कृतज्ञ क्यों नहीं है ? इसलिये कि कैकेयी ने एक कुरूप दासी को अपने पास रखने की उदारता दिखाई । परमसुंदरी कैकेयी अपने पास एक ऐसी दासी को रखती है जो कतई सुंदर नहीं है । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यदि विचार करें तो यह भी कैकेयी की रजोगुणी प्रवृत्ति का परिचायक है । प्रत्येक रजोगुणी अपने पास किसी हीन को रखना पसंद करता है क्योंकि वह

हीनता ही उसके अहंकार को संतोष देती है। यह तो स्वभाव है। धनी व्यक्ति चाहेगा कि बगल में कोई निर्धन हो। इसी प्रकार यदि सुंदरी कैकेयी एक कुरूपा को पास में रखकर अपनी सुंदरता का गर्व और अधिक करती हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। इसके द्वारा कैकेयी का रजोगुण ही प्रकट होता है।

मंथरा की स्थिति क्या है ? आधे भाग में वह कैकेयी से स्नेह करती दिखाई देती है और आधे भाग में द्वेष। ऐसा क्यों ? कैकेयीजी के अंतः-करण में मंथरा को हीन और तुच्छ सिद्ध करके उसके प्रति दया दिखाने की प्रवृत्ति है। लोग बहुधा यही भूल करते हैं और बाद में शिकायत करते हैं। लोग कहते पाये जाते हैं कि जिनका उपकार किया जाये वे कृतज्ञ नहीं रहते। जो व्यक्ति उपकार को नहीं मानता वह तो बुरा है ही। पर जो शिकायत करते हैं उनका भी तो कोई दोष होता है। उप-कार करनेवाला कृतज्ञता चाहता है, यही प्रकट करता है कि सामने वाले में दुर्बलता है; मानो वह सामने वाले से आशा करता है कि वह अपने को छोटा मानकर झुकता रहे। जब हम अपनी दया के बोझ से किसी को दबाना चाहेंगे तो उस दया को कौन पसंद करेगा ? अतएव जो व्यक्ति दया करते समय स्वयं को दयालु मानकर सामनेवाले को दयनीय सिद्ध करता है, उससे सामने वाला व्यक्ति कभी संतुष्ट नहीं हो सकता। इसी-लिये रामचरितमानस में बड़ी सुन्दर बात कही गई है कि जब व्यक्ति दया करे तो किसी को दयनीय मानकर न करे। श्रीराम अपनी दृष्टि से दया नहीं करते, वे दया करते दिखाई देते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि श्रीराम तो सामने वाले से प्रेम करते हैं, दया नहीं। प्रेम किया जाता है बराबरीवाले से, और दया की जाती है अपनी अपेक्षा जो हीन हैं उनसे। गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में भगवान् राम के स्वभाव का वर्णन करते हुए कहते हैं—**श्री रघुबीर की यह बानि। नीचहू सों करत नेह।** (२१५)—वे नीच व्यक्ति पर भी दया नहीं करते; उससे स्नेह करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि श्रीराम सामने वाले पर यह कभी सिद्ध नहीं करना चाहते कि तुम बड़े तुच्छ व्यक्ति हो और मैं बड़ा श्रेष्ठ हूँ तथा मैं तुम पर दया कर रहा हूँ। वे ऐसा प्रदर्शित नहीं करते कि मैं एक महान् व्यक्ति हूँ और तुम्हारी बुराइयों को मैं क्षमा किये दे रहा हूँ। हम जब किसी को देते हैं तो यह सिद्ध करते हैं कि देखो हम कितने उदार हैं; हम देते हैं, तुम लेते हो; हम श्रेष्ठ हैं, तुम दया के पात्र हो।

भगवान् राम जब किसी को देते हैं तो सामने वाले को बड़ा बनाकर देते हैं। यदि देनेवाले ने पानेवाले को बड़ा नहीं बनाया तो देने की सार्थकता सिद्ध हुई ही नहीं। इसलिये तुलसीदासजी 'कवितावली' में कहते हैं कि माँगना है तो केवल राम से माँगना चाहिये क्योंकि और लोग तो देकर छोटा बनाते हैं जबकि राम देकर बड़ा बना देते हैं—

जग जाचिअ कोउ न जाचिअ जौं जिय जाचिअ जानकी जानहि रे।

इसीलिये कि—

जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ। उत्तर कांड, २८

—दूसरे लोग माँगने का स्वभाव बढ़ाते हैं, चाहते हैं कि यह व्यक्ति रोज हाथ फैलाता रहे। साधारण क्रम यह है कि हम लोग बड़े व्यक्ति से माँगते हैं और छोटे व्यक्ति को देते हैं, पर भगवान् राम के चरित्र में कभी-कभी आपको ठीक इसका उलटा मिलेगा। महाराज मनु जब उनके सामने आये तो भगवान् उनसे क्या कहते हैं—

मागहु बर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि। १।१४८

—तुम्हारे मन में जो माँगने की इच्छा है, माँग लो। तो, मनु से तो कहते हैं—'माँगो', पर जब केवट के पास पहुँचते हैं तो कहते हैं—'दो'। मुझे तुम्हारी नाव चाहिये। शबरी के सामने जाते हैं तो कहते हैं—'मुझे दो, मुझे भूख लगी है, फल चाहिये'। हम बड़ों से माँगते हैं और छोटों को देते हैं। भगवान् राम बड़ों से कहते हैं 'माँगो' और छोटों के सामने हाथ फैला देते हैं, कहते कि 'दो'। इसकी व्याख्या गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में बड़ी अच्छी तरह करते हैं कि श्रीराम छोटे और बड़े दोनों का दोष दूर करते हैं। बड़े में अहंकार होता है और छोटे में दीनता। श्रीराम जब किसी बड़े को देखते हैं तो कहते हैं माँगो, और सिद्ध कर देते हैं कि तुम बड़े-बड़े कुछ नहीं हो, तुम्हें भी आवश्यकता है, मुझसे माँगना है तो माँग लो। इस प्रकार बड़े के मन से बड़प्पन का अहंकार दूर कर देते हैं। और छोटे से कहते हैं—नहीं, नहीं तुम दीन नहीं हो, तुम अपने अंतःकरण में व्यर्थ ही अपने को छोटा मान बैठे हो। इसी को 'विनयपत्रिका' में गोस्वामीजी कहते हैं—**बड़े की बड़ाई छोटे की छोटाई दूरि करै। (१८३)**—आपका क्रम अनोखा है। आप बड़े का बड़प्पन दूर करते हैं

और छोटे की लघुता। परिणाम यह होता है कि दोनों पास आ जाते हैं। आपकी यही चतुराई है ! श्रीराम जब केवट के पास पहुँचते हैं तो यह नहीं कहते कि जो माँगना है माँग लो। इसी बात को केवट आगे चल कर दुहराता है। गंगा पार करने के बाद जब केवट ने प्रणाम किया तो प्रभु संकोच में पड़ गये कि मैंने उसे उतराई नहीं दी। श्री सीताजी प्रभु के संकोच को समझकर मुद्रिका देती हैं। जब भगवान् राम केवट को मुद्रिका देने लगे तब केवट ने बड़ी सुंदर बात कही—**नाथ आजु मैं काह न पावा। (२।१०१।५)** प्रभु कहने लगे मैंने तो कुछ भी नहीं दिया और तुम कहते हो कि मैंने क्या नहीं पा लिया !

जब देनेवाला कहता है कि मैंने बहुत दिया और लेनेवाला कहता है कि क्या दिया, बेकार दिया, कुछ नहीं दिया, तब तो स्वाभाविक रूप से एक में अहंकार और दूसरे में दैन्य बढ़ेगा ही। मानो देकर भी न देने का आनंद नहीं पाया और लेकर भी व्यक्ति को लेने का आनंद नहीं मिला। यहाँ केवट को प्रतीत होता है कि मैंने सब पा लिया, पर प्रभु को प्रतीत होता है कि मैंने कुछ नहीं दिया। प्रभु कहते हैं—केवट, मैंने तो कुछ दिया ही नहीं, फिर तुम कैसे कहते हो कि मैंने सब पा लिया ? केवट कहता है—प्रभो, यही बात है। कोई देना सीखे तो आपसे सीखे। लोग तो देकर भी दरिद्र बना देते हैं, छोटा और हीन सिद्ध कर देते हैं। आप जब गंगा तट पर आकर खड़े हुए तो मैं सोचता था कि आप मुझसे कहेंगे केवट, जो माँगना चाहे माँग ले। पर आपने जब गंगा के किनारे खड़े होकर मुझसे कहा कि मुझे नाव की आवश्यकता है और तुम्हारी सहायता के बिना मैं नदी पार नहीं कर सकता बस, आपके 'केवट नाव ले आओ' इस एक वाक्य ने ही मेरी जन्म-जन्मांतर की दरिद्रता को दूर कर दिया। मैं समझता था कि मैं समाज में सबसे हीन हूँ पर जब आपने नाव माँग ली तो मुझे लगा कि सारे संसार को देनेवाला जब मुझसे ही माँग रहा है तो मुझसे बड़ा कोई नहीं। आपने मुझसे नाव माँगकर मुझे बड़ा बना दिया है, अब देकर छोटा मत बनाइये ! प्रभु ने मुद्रिका उसको नहीं दी। इसका अभिप्राय यह है कि वे सामनेवाले व्यक्ति के अंतःकरण में आत्मविश्वास की सृष्टि करते हैं, हीनता के भाव का निराकरण करते हैं। देने और लेने की सार्थकता तो तब है जब वह देनेवाले के अंतःकरण से अहंकार को मिटा दे तथा लेनेवाले के मन से हीनता को। पर ऐसा हो नहीं पाता। उपकार, दया और दान करनेवाले अधिकांश लोगों की

प्रवृत्ति कैकेयीजी के चरित्र की तरह होती है। कैकेयी मंथरा को सदा अपनी हँसी का एक उपकरण मानती थीं। वे उसकी कुरूपता को व्यंग्य की वस्तु बनाकर हँसी उड़ाती थीं। इसके साथ-साथ उसके प्रति उपकार भी करती थीं। इसका परिणाम क्या होता है?

कैकेयीजी ने मंथरा के लिये जिस भाषा का प्रयोग किया है वह कोई शालीन नहीं है। जब वे मंथरा को लम्बी साँस लेते और आँसू बहाते देखती हैं तो हँसती हैं। उसका रुदन भी उनके लिये आनंद का उपकरण या हँसी का एक साधन है। उसकी कुरूपता पर सामने व्यंग्य करने में वे संकोच नहीं करतीं—

काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि। २।१४

कैकेयी जिस तरह उसके अंगवैकल्य पर प्रहार करती हैं वह सिद्ध करता है कि उनकी दया में मंथरा को दीन और हीन सिद्ध करने की वृत्ति सर्वदा विद्यमान है। उधर मंथरा की स्थिति क्या है? मंथरा किसी के प्रति प्रेम नहीं करती। उसका तो एक ही संकल्प है कि अयोध्या में मैं ऐसी दुर्घटना की सृष्टि कर दूँ कि सब लोग रोवें। वह प्रत्येक को दुख देने के लिये उतावली है। मंथरा को आनंद इसमें है। जो व्यक्ति अपने को हीन समझता है, जो अपने मन में प्रतिहिंसा की भावना पोषित करता है वह अगर स्वयं अपने को उन्नत न बना सके तो दूसरे को पीड़ा पहुँचाकर आनंदित होता है। और यही मंथरा की मनोवृत्ति है। कैकेयी जब मंथरा से वार्तालाप करती हैं तो वे मंथरा की इस वृत्ति को नहीं पहचान पातीं। तुलसीदासजी लिखते हैं—

लखइ न रानि निपट दुखु कैसे। चरइ हरित तिन बलिपसु जैसे ॥ २।२१।२

मंथरा के लिये कैकेयी एक बलिपशु के समान है। जैसे कोई बलि-पशु के प्रति उदारता का परिचय दे तो वह उदारता मिथ्या ही होती है, उसका असल लक्ष्य तो अंत में उसे मारना ही होता है, उसी प्रकार मंथरा भी कैकेयी को संकट में डालना चाहती है। मंथरा को कैकेयी फटकारती हैं कि तुम राम के राज्याभिषेक से दुखी होती हो, राम तो मुझे प्राणों से भी प्रिय हैं, अगर तुमने कभी ऐसी बात फिर से कही तो मैं तुम्हारी जीभ निकलवा दूँगी। कितने ऊँचे आदर्श वाक्य बोल दिये

कैकेयी ने, लेकिन कुछ क्षणों बाद क्या हुआ ? कहाँ मंथरा की जीभ निकलवाने की बात कर रही थीं और कहाँ थोड़ी देर में इतनी बदल गईं कि मंथरा से कहने लगीं—मंथरा, अगर सचमुच कल भरत का राज्य हो गया या मेरा संकल्प पूर्ण हो गया तो—**करहुँ तोहि चक कूतरि आली**—मैंने भूल से तुमको दासी का पद दे दिया, वस्तुतः तुम तो आँखों में रखने के योग्य हो । मैंने तुमको बहुत दिन बाद पहचाना है और अब मुझे विश्वास हो गया है कि यदि मेरा कोई हितैषी है तो—

तोहि सम हित न मोर संसारा । बहे जात कइ भइसि अधारा ।।
२।२२।२

—मैं तो दुख के समुद्र में बहने जा रही थी, पर तुमने मुझे बचा लिया । धन्य हो मंथरा ! यही मंथरा की सफलता है । उसकी विशेषता यही है कि वह कैकेयी के अंतःकरण को भीतर से पहचानती है । कैकेयी की दुर्बलताओं से वह अच्छी तरह परिचित है । कैकेयी ने कितना क्या कह दिया कि राम तो मुझे भरत से अधिक प्रिय हैं, पर मंथरा किसी प्रकार भयभीत नहीं होती । कहने को तो मंथरा कह देती है कि **'कोउ नृप होउ हमहि का हानी'** (२।१५।६) लेकिन सच्चे अर्थों में उसके मन में संकल्प यही है कि मैं रानी भले ही न बन पाऊँ लेकिन कैकेयीजी को थोड़ी देर के लिये दासी बनाये बिना नहीं छोड़ूंगी । और उसने ऐसा करके ही छोड़ा । पहले तो उसने कैकेयी को अपनी इच्छा के अनुकूल सलाह दी, फिर जब कैकेयी वरदान माँगने को चलीं तो कहा—अपने राजसिक वस्त्र और आभूषण उतार दो और मेरे कपड़े पहन लो । बिल्कुल अपना रूप उन्हें दे दिया—**भूमि सयन पटु मोट पुराना** (२।२४।६) । इसका अभिप्राय क्या है ? यही कि असंत सामने वाले व्यक्ति को अपनी तद्रूपता प्रदान करता है, अपने समान ही बना देता है और आश्वासन देता है कि भविष्य में बहुत बड़ा लाभ होनेवाला है, इसलिये यदि थोड़े क्षणों के लिये आप ऐसा करते हैं तो इसमें कोई हानि नहीं है ।

यदि आप इसे आध्यात्मिक संदर्भ में देखें तो उसके तीन संकेत हैं । व्यावहारिक रूप में कैकेयी और मंथरा का संबंध 'दया करने वाले' और 'दया के पात्र' के बीच का संबंध है । वे एक दूसरे के निकट रहते हुए भी एक दूसरे के प्रति प्रेम से रहित हैं । मंथरा के मन में न तो श्रीराम से प्रेम है, न कैकेयी से । श्रीराम से उसका प्रेम क्यों नहीं है, यह बड़े

महत्त्व की बात है भगवान् श्रीराम यदि जनमत की दृष्टि से राज्य स्वीकार करना चाहते तो रामराज्य में कोई बाधा ही नहीं थी। अयोध्या का सारा जनमत उनके राज्य के पक्ष में था। केवल दो ही मत राम-राज्य के विरुद्ध थे—एक मंथरा का और दूसरा कैकेयी का। अगर जन-मत का जमाना होता तो कैकेयी-मंथरा की जमानत जब्त हो जाती। कहाँ दो वोट और कहाँ करोड़ों वोट। अत: श्रीराम के सिंहासन पर आसीन होने में भला कौन-सी बाधा थी? पर नहीं, श्रीराम ने इन दो मतों को बड़ा महत्त्व दिया। इतना अधिक महत्त्व दिया कि इन दो मतों की बात मान राजसिंहासन त्यागकर चले गये। लक्ष्मणजी ने श्रीराम से कहा था कि अयोध्या की सारी प्रजा आपके पक्ष में है, अतएव यदि पिता अन्याय करने पर तुले हुए हैं तो क्या आपको स्वीकार करना चाहिये? आप सिंहासन पर बैठिये, मैं धनुषबाण लेकर देखता हूँ कि कौन विद्रोह करने आता है? पर श्रीराम नहीं माने। इसका तात्पर्य क्या है?

रामराज्य का अर्थ बहुमत का राज्य नहीं। रावण का तो निरंकुश राज्य है और दशरथ का है प्रजाप्रिय राज्य, फिर भी वह राजतंत्र ही है। भगवान् राम बहुमत को नहीं बल्कि सर्वमत को मानते हैं। यही बात रामायण में बार-बार कही गयी है—

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥
१।१३।६

—रामराज्य में सभी के हित को समान महत्त्व दिया गया है। राम-राज्य की जब गोस्वामीजी व्याख्या करते हैं तो बार-बार कहते हैं—

अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥
७।२०।५-६

इसका अभिप्राय यही है कि श्रीराम 'सर्व' में किसी प्रकार का संशोधन स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं। यही कारण है कि वे दो व्यक्तियों के मत को इतना महत्त्व देते हैं। सामनेवाला व्यक्ति तो कहेगा कि दो मतों का क्या महत्त्व है? किंतु भगवान् राम यह मानकर चलते हैं कि दो व्यक्ति भी अगर विरोध करते हैं तो उसके कारण को जानना चाहिये, उनके मनोभाव को समझना चाहिये। यह कहकर उनकी उपेक्षा नहीं कर देनी

चाहिये कि यह तो केवल दो व्यक्तियों का विरोध है। वे एक-एक व्यक्ति के मनोभाव पर विचार करते हैं। अगर कैकेयी रामराज्य नहीं चाहतीं तो क्यों नहीं चाहतीं? और उससे भी बड़ा कष्ट भगवान् श्रीराम के मन में यह सोचकर है कि मंथरा मेरे राज्य का विरोध क्यों करती है? इसका एक उत्तर तो यह दिया जा सकता है कि मंथरा और कैकेयी के चरित्र में दोष है। किन्तु इस पर एक प्रश्न और उठाया जा सकता है कि यह दोष उन्हीं में क्यों है? भगवान् यह मानते हैं कि इनके मन में कोई न कोई आशंका है। आखिर मंथरा रामराज्य का इतना विरोध किसलिये करती है? जैसा कि पहले बताया जा चुका है, लक्ष्मणजी मंथरा की ओर से बड़े सावधान रहते थे। स्वभाव से तेजस्वी होने के नाते वे यदाकदा मंथरा को बड़ा फटकार दिया करते थे। इसीलिये जब कैकेयीजी ने मंथरा को देखा तो पहला प्रश्न यही किया—**दीन्ह लखन सिख अस मन मोरें** (२।१२।७)—लक्ष्मणजी ने तुम्हें कुछ फटकार वगैरह दी है क्या?

मंथरा को ज्ञात है कि लक्ष्मण राम के अत्यंत समीप हैं। उसे लगा कि जब लक्ष्मण अभी से मुझपर इतना शासन करते हैं तो कहीं राम का राज्य हो जावेगा तो मुझे जीवित नहीं रहने देंगे। तब तो वे सर्वेसर्वा हो जावेंगे। बड़ा अनर्थ हो जायेगा। उसको सबसे बड़ी चिंता श्रीराम की अपेक्षा लक्ष्मण के शासन की है। वह कैकेयीजी से कहती भी है—तुम्हें पता नहीं है कि राम राजा होंगे। और बात यहीं समाप्त हो जाती तो भी ठीक थी पर—**'भरतु बंदिगृह सेइहहिं'** (२।१९)—भरत कारागार में डाल दिये जायेंगे। अंतिम बात वह कहती है—एक घटना और होने वाली है—**'लखनु राम के नेब'** राम तो नाममात्र के राजा होंगे, राज्य तो वस्तुत: लक्ष्मण चलावेंगे। शासन लक्ष्मण का होगा। मंथरा के मन में यह भाव है कि लक्ष्मण निरंतर मुझे कठोर दृष्टि से देखते हैं। पर वह यह नहीं देख पाती कि मेरा स्वभाव उच्छृंखल है। कैकेयीजी को मंथरा ने उभाड़ दिया। इन क्रियाशक्ति कैकेयी के अंत:करण में सम्मान पाने की बड़ी इच्छा है। दूसरों की तुलना में स्वयं के प्रति विशिष्टता का बोध कैकेयी में बहुत तीव्र है। संसार के व्यवहार में यदि कोई व्यक्ति आदान-प्रदान की भावना लेकर चले तो ठीक है, पर यदि ईश्वर के प्रति भी हमारे संबंध का आधार वैसा हो जैसा कि कैकेयीजी ने अपने संबंध का आधार बताया तो वह अनुचित है। कैकेयी ने मंथरा को

बताया कि श्रीराम अन्य माताओं की अपेक्षा मुझे अधिक चाहते हैं। यही कैकेयीजी की सबसे बड़ी दुर्बलता है। राम भले ही सारी माताओं को बराबर चाहें पर मुझे तो अधिक चाहें। जब भी व्यक्ति यह चाहेगा कि ईश्वर मुझसे सबसे अधिक प्रेम करे, मुझे सबसे अधिक ऐश्वर्य दे, मुझे सर्वदा सफलता दे, तो ईश्वर से व्यवहार तो दो दिन भी नहीं चलेगा। एक दिन अगर पता चला कि पड़ोसी को अधिक लाभ हुआ है तो कहने लगेगा—ऐसे देवता के पूजन से क्या लाभ, जिसने पड़ोसी को अधिक लाभ दे दिया ? चलो, इसको हम छोड़ देते हैं। तो, ईश्वर से संबंध का आधार अहंकार नहीं, अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं; उसका आधार तो समर्पण है। इस समर्पण का अभाव कैकेयीजी के चरित्र में विद्यमान है। उसकी समग्रता सुमित्रा अम्बा के चरित्र में दिखाई देती है जिसका संकेत आपके सामने दिया जा चुका है। कैकेयी के 'मैं और मेरेपन' वाले अहंकार की दुर्बलता को मंथरा भली प्रकार जानती है। मंथरा ने इसी को उभाड़ा। उसने कह दिया कि बस, तुम समझ लो, राम के विचार अब बदल गये हैं। राम अब अपनी माता कौसल्या को अधिक आदर देते हैं। वे राजा होने के पश्चात् भरत को कारागार में डालेंगे, लक्ष्मण को युवराज पद दिया जावेगा और तुम्हें सौत की सेवा करनी पड़ेगी।

किसी की सेवा करनी पड़ेगी यह बात तो कैकेयी को कल्पना में भी असह्य है। उनका तीव्र, तेजस्वी और रजोगुणी स्वभाव इसे सह नहीं सकता। इस प्रकार कैकेयी के अंतःकरण में भविष्य का भयानक चित्र खींचा गया। भूत और वर्तमान का दुख तो साकार होता है, किंतु भविष्य का दुख शुद्ध कल्पित होता है। यही बड़ी समस्या है। भूत और वर्तमान की समस्या का समाधान कठिन नहीं, पर भविष्य कितना विकट रहेगा यह तो इस पर निर्भर करता है कि कौन व्यक्ति भविष्य का कितना भयानक चित्र बना सकता है। कैकेयी को भूत और वर्तमान की कोई समस्या नहीं है। चतुर मंथरा ने तो उसे कहा कि तुम वर्तमान में ही रह गई हो और भूतकाल की ओर दृष्टि किये हुई हो पर क्या कभी भविष्य की ओर भी देखा है ? मंथरा कैकेयी की आँखों में बैठ गई। कैकेयी मंथरा की आँखों से देखने लगीं। मंथरा लोभ की वृत्ति है और लोभ की वृत्ति का संबंध भविष्य से ही हुआ करता है। कितने लोभी हैं, सभी भविष्यवादी होते हैं। उनकी बड़ी लंबी योजना होती है। भूत और वर्तमान की कुछ सीमा भी होती है पर भविष्य की क्या सीमा बाँधी जा

सकती है कि कौन कितने दिन जीवित रहेगा, उसके कितने नाती-पोते होंगे, कितना खर्च होगा ? भविष्य तो एक ऐसी कल्पित वस्तु है जिसके आधार पर व्यक्ति अपनी आकांक्षाओं का असीम विस्तार कर सकता है। उसी भविष्य का एक कल्पित चित्र मंथरा ने कैकेयी के सामने प्रस्तुत कर दिया। परिणाम यह निकला कि वे श्रीराम के प्रति विद्रोहिणी बन गईं। उन्होंने कहा—अगर ऐसी बात है तो—

जस कौसिलाँ मोर भल ताका। तस फलु उन्हहि देउँ करि साका॥
२।३२।८

—अगर कौसल्या इस प्रकार से षड्यंत्र कर रही हैं तो मैं भी बदला लेकर दिखा दूँगी कि मुझे समझने में कौसल्या ने कितनी भूल कर दी। चतुर मंथरा ने एक बात और जोड़ दी। उसने कहा कि तुम तो बड़ी भोली-भाली हो। कोई अगर कह दे कि और लोग तो बड़े छलिये हैं पर आप बड़े भोले-भाले हैं तो यह प्रशंसा लोगों को बड़ी पसंद आती है। मंथरा ने कहा—

चतुर गँभीर राम महतारी। बीचु पाइ निज बात सँवारी॥
२।१७।१

—कौसल्या बड़ी षड्यंत्रकारिणी हैं !

गोस्वामीजी एक व्यंग्य करते हैं। दशरथजी रामराज्य बनाना तो चाहते हैं पर रामराज्य की उनकी कल्पना यह है कि कल सोने के सिंहासन पर राम को बिठा देंगे, राजतिलक कर देंगे और रामराज्य हो जायेगा। पर इसी का नाम रामराज्य है क्या ? यह तो परंपरा से चला आया राजतत्र है। यह दशरथ, अज और दिलीप का राज्य हो सकता है कि पिता तिलक कर दे और बेटा राजसिंहासन पर बैठ जाये। पर रामराज्य तो अंतःकरण का समग्र परिवर्तन है। जब तक समाज पूरी तरह नहीं बदल जाता तब तक बाहर रामराज्य पूरा तरह साकार नहीं हो सकता।

महाराज श्री दशरथ रामराज्य बनाने जा रहे थे पर उन्होंने पहले अपना घर नहीं देखा, अपना हृदय नहीं टटोला। क्या केवल इसीलिये कि अयोध्या एक पवित्र नगर है वहाँ रामराज्य बनना चाहिये ? इस ऊपर की पवित्रता की आड़ में दुर्बलताएँ कहाँ छिपी हैं, इसको देखना

चाहिये। लंका में काम, क्रोध, लोभ का राज्य प्रकट रूप से है। अयोध्या में ऊपर से तो दिखाई देता है कि पवित्रता का राज्य है पर वहाँ भी संस्कारों के रूप में वही दुर्बलताएँ विद्यमान हैं जो लंका में हैं। लंका में वे उच्छृङ्खल रूप में हैं, व्यापक रूप में हैं और अयोध्या में संक्षिप्त, सूत्र या बीज के रूप में विद्यमान हैं। गोस्वामीजी ने एक व्यंग्य भरा चित्र प्रस्तुत किया। कैकेयीजी के अंतःकरण में मंथरा ने लोभ उत्पन्न कर दिया और लोभ से भरी कैकेयी जाकर कोप भवन में बैठ गई। जब लोभ मनुष्य में आता है तो वह कोप भवन में ही बैठता है, क्योंकि जहाँ लोभ की पूर्ति में बाधा की आशंका हो, व्यक्ति को क्रोध आये बिना नहीं रहता। इसलिये जब लोभ से अंतःकरण आक्रांत हो गया तो वे कोप-भवन में पहुँच गई। तीन प्रसिद्ध विकार हैं—**तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ (३।३८-ख)**—उनमें लोभ और क्रोध तो आ गया। बचा था काम। अब महाराज दशरथ वह और लेकर आ रहे हैं। राम-राज्य के निर्माता के चरित्र की दुर्बलता को पहली बार गोस्वामीजी ने अपनी आलोचना का विषय बनाया। सायंकाल का समय है। महाराज श्री दशरथ कैकेयी के भवन की ओर जा रहे हैं। कैकेयी के प्रति उनकी आसक्ति प्रसिद्ध है। प्रिया को रानी बनाना बुरा नहीं पर प्रिया को अपनी आसक्ति का केन्द्र बना लेना बहुत बुरा है। यही दशरथजी के पतन का कारण है। भगवान् श्रीकृष्ण वेदों की आलोचना करते हुए कहते हैं—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ २।४२
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ २।४३
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ २।४४

—"हे पार्थ, वेदों के वाक्यों में भूले हुए और यह कहनेवाले मूढ़ लोग कि इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, बढ़ा-चढ़ाकर कहा करते हैं कि 'अनेक प्रकार के कर्मों से ही जन्मरूप फल मिलता है और भोग तथा ऐश्वर्य प्राप्त होता है।' स्वर्ग के पीछे पड़े हुए ऐसे क्रियापरायण और क्रियासक्त लोगों का मन उपर्युक्त वचनों की ओर ही खिंचा रहता है और इसलिये वे भोग और ऐश्वर्य में ही डूबे रहते हैं। इस कारण उनकी व्यवसायात्मक

अर्थात् कार्य-अकार्य का निश्चय करनेवाली बुद्धि कभी भी समाधिस्थ अर्थात् एक स्थान में स्थिर नहीं रह सकती।" यही बात महाराज दशरथ पर भी लागू होती है। कि—

ज्ञानशक्तिश्च कौसल्या सुमित्रोपासनात्मिका।
क्रियाशक्तिश्च कैकेयी वेदो दशरथो नृपः॥

—महाराज श्री दशरथ क्रियाशक्ति कैकेयी पर इतने आसक्त हैं, उनकी सुंदरता को इतने अधिक राग की दृष्टि से देखते हैं कि—

साँझ समय सानंद नृपु गयउ कैकयी गेहँ।
गवनु निठुरता निकट किय जनु धरि देह सनेहँ॥ २।२४

दासी से महाराज ने पूछा—महारानी कहाँ हैं? पता चला कि कोपभवन में हैं। उन्हें सोचना चाहिये था कि एक महान् संकल्प की पूर्ति का मैं प्रयास कर रहा हूँ, आज मुझे कोपभवन में जाना चाहिये या नहीं। पर ऐसा विचार उनके मन में उठता तक नहीं। वे कोपभवन की ओर जाते हैं पर पैर थरथरा रहे हैं माथे पर पसीने की बूँदे निकल आईं, फिर भी नहीं रुकते। गोस्वामीजी दशरथजी के चरित्र की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

सुरपति बसइ बाहँबल जाकें। नरपति सकल रहहिं रुख ताकें॥
सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई। देखहु काम प्रताप बड़ाई॥
२।२४।२-३

—लोभ और क्रोध तो वहाँ था ही, काम बचा हुआ था, उसे दशरथजी अपने हृदय में लेकर चले गये। जब काम, क्रोध, लोभ तीनों मिल जायें तो 'उपजइ सन्यपात दुखदाई' (७।१२०।३१)। जाँ ये तीनों होंगे वहाँ रामराज्य कैसे बनेगा? भले ही अयोध्या में लंका के समान उच्छृङ्खल काम न हो—लंका में स्व और पर पत्नी का भेद नहीं था—पर स्वपत्नी के प्रति जो काम है उसकी कोई सीमा तो होनी चाहिये। दशमुख के जीवन में ये दोष विकट रूप में हैं पर दशरथजी में भी तो ये दुर्बलताएँ विद्यमान हैं। जब कैकेयीजी से महाराज दशरथ वार्तालाप करते हैं तो वह एक कामी का भाषण है, एक विचारयुक्त राजा का नहीं। कोपभवन में जाकर कैकेयी को प्रसन्न करने के लिये जो कुछ उन्होंने कहा, लगता है, मुँह के

प्रत्येक शब्द से उनके अंत:करण की वासना, उनके भीतर का काम बोल रहा है। यह पहला ही प्रसंग है जहाँ गोस्वामीजी दशरथ के चरित्र की आलोचना करते हैं, अन्यथा वे दशरथ के चरित्र की हमेशा प्रशंसा करते आये हैं। इसे आध्यात्मिक अर्थों में देखें तो वेद का सबसे बड़ा दोष उसकी सकामता है। जहाँ पर वेदों में फलश्रुति का वर्णन है वहाँ स्वर्ग की कामना से यज्ञ आदि करने का उपदेश देकर विविध प्रकार की आशक्ति और कामनाओं के केन्द्र बना दिये गये हैं। यही बातें यहाँ पर भी दिखाई देती हैं। परिणाम क्या होता है ? जब वे कैकेयी को प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं तो तुरंत पूछते हैं—

कहुँ केहि रंकहि करौं नरेसू। कहु केहि नृपहि निकासौं देसू॥
सकउँ तोर अरि अमरउ मारी। २।२५।२-३

—कहो, किस राजा का राज्य छीन लूँ ? बताओ किस दरिद्र को राजा बना दूँ ? और अगर तुम्हारा शत्रु अमर हो, कोई देवता हो तो उसे भी मैं मार डालूँ ? पर क्या वे सचमुच मार सकते हैं ? यह तो केवल काम की भाषा है, प्रसन्न करने के लिये कहे गए वचन हैं। इस समय तो कैकेयी का क्रोध शांत करना है। वे यहाँ तक कह गये '**काह कीट बपुरे नर नारी (२।२५।३)**,—मनुष्य तो कीड़े-भुनगे की तरह हैं। अयोध्या का राजा जो सभा में प्रजा को अपना प्राण कहकर घोषित करे और एकांत में उसे कीड़े-भुनगे की तरह समझे तो ऐसी कथनी-करनी का जहाँ अंतर है वहाँ रामराज्य कैसे बनेगा ? चरित्र में राम और काम एक साथ कैसे रहेंगे ?—

जहाँ राम तहँ काम नहिं जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँ न रहि सकहिं रवि रजनी इक ठाम॥

वे कैकेयी से कहने लगे —जानती हो, कल राम को राज्य मिलने वाला है, और यह जो राज्य दे रहा हूँ, यह तुम्हारी प्रसन्नता के लिये ! साधारणतया कैकेयी कई बार महाराज दशरथ से कहा करती थीं कि राज्य राम को मिलना चाहिये इसीलिये दशरथजी ने ऐसा कहा। गोस्वामी-जी कहते हैं—

तुलसी नृपति भवतव्यता बस काम कौतुक लेखई। २।२४।छं०

—कल जो व्यक्ति रामराज्य बनाने वाला है, क्या वह इसी काम की नींव पर रामराज्य की शिला रखेगा ? ऐसी स्थिति में बना रामराज्य क्या वास्तविक रामराज्य हो सकता है ? विचारणीय है कि रामराज्य कैकेयी की प्रसन्नता के लिये है अथवा राम की योग्यता का परिणाम है ? रामराज्य समाज की आवश्यकता है अथवा केवल महाराज श्री दशरथ के मन में आई एक औदार्य की प्रवृत्ति के प्रदर्शन का परिचायक है ? और इसका परिणाम यह हुआ कि कैकेयी धर्म का अपलाप कर बैठती हैं । कह सकते हैं कि वे धर्म के साथ छल कर बैठती हैं । उन्होंने महाराज दशरथ के सामने सत्य की महिमा का बखान किया और कहा कि सत्य कितना महान् है । सत्य की महिमा का पालन करते हुए दशरथजी भी कह गये—तुम तो जानते ही हो कि—

रघुकुल रीति सदा चलि आई । प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई ॥
२।२७।४

—मैं रघुवंशी हूँ, और रघुवंश की मर्यादा है कि प्राण भले ही चले जायें पर सत्य का त्याग नहीं किया जाता । वे आत्मप्रशंसा में संलग्न हो गये । आत्मप्रशंसा करते हुए जब दशरथजी सत्य की सराहना करने लगे तो सत्य उनके लिये क्या बन गया, और सत्य को समझने में कितनी त्रुटि हुई इसका परिचय गोस्वामीजी ने वहाँ दिया है । बल्कि कहना चाहिये कि अयोध्याकांड इसी सत्य का परिचय देने के लिये है कि सही धर्म को न समझ पाने का परिणाम क्या होता है । कभी-कभी धर्म ही घातक बन जाता है । पुराणों में कहा गया है कि धर्म के चार चरण हैं—सत्य, तप, दया और दान । कैकेयी ने चारों चरणों का बटवारा कर दिया । कैकेयी और महाराज दशरथ के सारे वार्तालाप में धर्म की दुहाई ही तो दी जाती रही है कैकेयी महाराज दशरथ से कहती हैं कि विचार करके देखिये—सत्य कितना बड़ा धर्म है, क्या आप सत्य को छोड़ देंगे ? इसका अभिप्राय क्या है ? कैकेयी ने सत्य की महिमा का वर्णन करके धर्म का एक चरण पूरा कर दिया । धर्म का दूसरा चरण है तप । तो तपस्या करने के लिये राम को वन भेज दिया । धर्म के अन्य चरण हैं दया और दान, जो उन्होंने अपने और भरत के लिये रख लिये । मुझ पर दया कीजिये और भरत को राज्य का दान दीजिये । धर्म के चारों चरण—सत्य, तप, दया और दान—पूरे हो गये ! यही धर्म तो समाज

में चलता है कि सत्य और तप तो दूसरों के लिये और दया व दान अपने लिये। अगर धर्म के चारों चरण इसी तरह पूरे हों जैसा कि कैकेयी ने किया तो क्या होगा ? सांकेतिक वर्णन है—महाराज दशरथ ने जब कैकेयी से वरदान सुना तो व्याकुल हो गये। उन्होंने कहा—तुमने यह जो दूसरा वरदान माँगा, यह बड़ा विकट है। कैकेयी, मुझे तो आश्चर्य होता है कि तुमने राम को वन भेजने की बात कैसे कही ? तुम तो सर्वदा कहा करती थीं कि राम बड़े सज्जन और बड़े उदार स्वभाव के हैं—

सब कोउ कहइ रामु सुठि साधू।
तुहूँ सराहसि करसि सनेहू। अब सुनि मोहि भयउ संदेहू॥
२।३१।६-७

—तुमने तो सदैव यही कहा कि राम बड़े साधु हैं, बड़े सरल हैं, पर आज तुम्हे क्या हो गया है कि तुम राम को वनवास देना चाहती हो ? आप जानते हैं कि कैकेयी ने क्या कहा। कैकेयी ने यह नहीं कहा कि राम बुरे हैं, उन्होंने तो यही कहा कि महाराज, मैं अवश्य जानती हूँ कि राम साधु हैं। "तब फिर तुम राम को वन क्यों भेजना चाहती हो ? " कैकेयी ने उलटकर कहा, "राम साधु हैं इसीलिये तो मैं उन्हें वन भेजना चाहती हूँ। यह आपकी भूल थी जो साधु को राजा बनाने चले थे। आप ही बताइये कि तपस्या श्रेष्ठ है या भोग ? तपस्या श्रेष्ठ है या सत्ता ?" इसका उत्तर तो यही होगा कि तपस्या श्रेष्ठ है। कैकेयी ने कहा —"मैं राम को तपस्या करने के लिये ही तो कह रही हूँ, यह तो नहीं कह रही कि कारागार में डाल दीजिये या प्राणदंड दे दीजिये। मैं तो कहती हूँ कि राम वन जाकर तपस्या करें, इससे बढ़कर बात क्या होगी ?" यह धर्म का विकृत उपयोग है। यही कैकेयी का धर्म के साथ छल है। तपस्या श्रेष्ठ है अगर दूसरे का लड़का करे तो, और सत्ता श्रेष्ठ है अगर हमारे लड़के को मिले तो ! बस, यही समाज का दर्शन है। भला कहीं ऐसे दर्शन से रामराज्य बनता है ? जब व्यक्ति यह मापदंड अपनावेगा कि जितना धर्म है वह दूसरे के लिये सुरक्षित रहे और हमें केवल भोग की सामग्री मिलती रहे, तो यह धर्म का दुरुपयोग ही कहलावेगा। इसीलिये सभी अयोध्या उपयुक्त भूमि नहीं बन पाई है जहाँ रामराज्य बन सके।

महाराज दशरथ के चरित्र की दुर्बलता, कैकेयी के चरित्र के दोष और मंथरा का मनोभाव—ये सब मिलकर एक ऐसे वातावरण की सृष्टि

कर देते हैं जिनमें रामराज्य के स्थापित होने की कल्पना नहीं की जा सकती ।

अब यह देखना है कि रामराज्य के निर्माता भगवान् राम आखिर रामराज्य का निर्माण करते कैसे हैं? एक युद्ध भगवान् श्रीराम द्वारा लंका में लड़ा गया और दूसरा युद्ध श्री भरत द्वारा अयोध्या में। जब दोनों युद्ध समाप्त हो गये तब रामराज्य का निर्माण हुआ। भगवान् राम का युद्ध भरत के युद्ध की अपेक्षा बाह्य है और भरत का युद्ध श्रीराम की तुलना में आंतरिक है। जब तक अयोध्या में मंथरा की और लंका में शूर्पणखा की विचारधारा है तब तक रामराज्य नहीं बनेगा। इन दो विचारधाराओं की पराजय आवश्यक है। यह त्रेता युग का सत्य था और आज के युग का भी सत्य है। और आगे का भी यही सत्य रहेगा कि जब भी रामराज्य बनेगा, वह मंथरा और शूर्पणखा की विचारधारा के मिटने के बाद ही स्थापित होगा। मंथरा की विचारधारा लोभ की विचारधारा है जो अपने स्वार्थ के लिये, अपने पुत्र को सत्ता देने के लिये प्रेरित करती है तथा दूसरे के पुत्र को एवं प्रजा को कष्ट देने में हिचक का अनुभव नहीं करती। शूर्पणखा वासनामयी है। वहाँ भी मनोवृत्ति वही है। शूर्पणखा श्रीराम की सुंदरता को देखकर मुग्ध हो जाती है। वह श्रीराम पर अधिकार पाना चाहती है जब वह श्रीराम के निकट जाकर खड़ी होती है और उनकी सुंदरता की सराहना करती है तो भगवान् श्रीराम शूर्पणखा की बात सुनकर मुस्कुराते हैं और साथ उसकी बातों का उत्तर देते हुए एक कार्य करते हैं—

सीतहि चितइ कही प्रभु बाता। अहइ कुआर मोर लघु भ्राता ॥
३।१६।११

—प्रभु सीताजी की ओर देखते हैं। सीताजी को देखने में बहुत कुछ संकेत था। शूर्पणखा के लिये यह संकेत था कि तुमने जो कुछ कहा वह कहने के पहले इनकी ओर देखा या नहीं? शूर्पणखा ने श्रीराम से कहा था—तुम्हारे समान कोई सुंदर पुरुष नहीं और मेरे समान कोई सुंदरी नहीं; लगता है कि ब्रह्मा ने हम दोनों का निर्माण एक दूसरे के लिये ही किया है। श्रीराम तब सीता की ओर देखते हैं। इसकी अंतिम परिणति शूर्पणखा के इस विचार में होती है कि जब तक सीता हैं तब तक मेरे स्वार्थ की सिद्धि नहीं होगी; मैं सीता को खा लूँ, उसे नष्ट कर दूँ, तभी

मेरा स्वार्थ पूरा होगा। और इसी प्रयास में अंत में लक्ष्मणजी द्वारा शूर्पणखा को दंड दिया जाता है। पर इसके बाद भी जब शूर्पणखा असफल हो जाती है तो रावण के पास जाती है और उसे प्रेरित करती है। रावण के चरित्र की दुर्बलता से शूर्पणखा अच्छी तरह परिचित है। लोग कहते हैं कि रावण ने जो युद्ध किया था वह अपनी बहन के स्वाभिमान की रक्षा के लिये किया था। ऐसा कहने वाले लोग शायद रावण के चरित्र का सही रूप नहीं जानते। क्या आप समझते हैं कि इतनी बड़ी लड़ाई रावण ने शूर्पणखा के लिये लड़ी थी? शूर्पणखा भी जानती थी कि यह मेरे लिये लड़ाई लड़ने वाला नहीं है, और यदि आपने पढ़ा होगा तो आप अच्छी तरह जानते होंगे कि शूर्पणखा के पति का वध स्वयं रावण ने किया था। वाह! क्या कहने हैं रावण के अपनी बहन से प्रेम के, जो उसके लिये राम से लड़ाई लड़ी और उसके सौभाग्य को छीनने में वह एक क्षण भी नहीं हिचका। रावण के व्यक्तित्व का केन्द्र उसका अपना अहं है। उसके अहं के प्रतिकूल जहाँ भी कुछ हो, उसे मिटाने में वह संकोच नहीं करता। उससे बढ़कर उसकी यदि कोई दुर्बलता है तो वह है वासना शूर्पणखा अपने भाई की इस दुर्बलता को अच्छी तरह जानती है। इसीलिये वह सीताजी की बात कहती है। दोनों बड़े विलक्षण स्वभाव के हैं। रावण यह दिखाने की चेष्टा करता है कि मैं शूर्पणखा के स्वाभिमान के लिये लड़ रहा हूँ, और शूर्पणखा यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न करती है कि राम से मेरा झगड़ा तुम को लेकर ही हुआ। **सुनि तव भगिनि करहिं परिहासा** (३।२१।१०) मुझसे उन दोनों राजकुमारों ने पूछा कि तुम कौन हो मैंने कहा—मैं राक्षसराज रावण की बहन हूँ। तब वे तुम्हारी हँसी उड़ाने लगे; मुझसे नहीं सहा गया तो मैंने कठोर उत्तर दे दिया। इसी कारण उन्होंने मेरे नाक-कान काट लिये। रावण और शूर्पणखा दोनों सच्चाई छिपाकर ऊँचे आदर्श की आड़ में अपनी वासना की पूर्ति में संलग्न हैं। शूर्पणखा कहती है कि मेरी सारी दुर्दशा तुम्हारे कारण हुई। वह रावण को बताती है—ये जो दोनों राजकुमार हैं उनके साथ एक स्त्री भी है। राम के सामने शूर्पणखा ने कहा था कि मेरे समान कोई सुंदरी नहीं है, पर वह रावण से कहती है—उस राजकुमार के साथ ऐसी सुंदरी है जैसी सुंदरता संसार में कहीं देखी नहीं गई —**'रति सत कोटि तासु बलिहारी'** (२।२१।६)। शूर्पणखा चाहती थी कि रावण का चरित्रगत वासनामय स्वभाव उकसाया जाय जिससे वह

मेरी नाक के लिये नहीं तो सीता को पाने के लिये युद्ध करे, संघर्ष करे। और इसमें सफल हो गई। रावण ने सीता का हरण कर लिया।

कामी अपने भोग के लिये दूसरे का सुख छीनना चाहता है। लोभी अपने स्वार्थ और ऐश्वर्य के लिये दूसरों को दरिद्र बनाना चाहता है। जब ये दोनों विचारधाराएँ समाप्त होती हैं तब कहीं रामराज्य बनता है। इन दो लड़ाइयों को लड़ने के लिये भगवान् राम तथा भरतजी ने बँटवारा कर लिया। एक बात की ओर ध्यान दीजिये—कैकेयी मंथरा से प्रभावित हुई और लोभ से ग्रस्त हो गई। अगर श्रीराम यह कहते कि स्वार्थ और लोभ के कारण कैकेयी की बुद्धि समाप्त हो गई है, मैं अन्याय नहीं सहूँगा और लोभ के विरुद्ध लड़ूँगा, तो भी लड़ाई हो सकती थी। पर यह भी सोचिये कि अगर भगवान् राम ने ऐसा कहकर कैकेयी के विरुद्ध लड़ाई की होती तो यह लोभ के विरुद्ध लोभ की ही लड़ाई होती, और वह रामराज्य न होता। ऐसी लड़ाई तो समाज में सर्वदा चला ही करती है—बटवारे के लिये लड़ाई समाज की शाश्वत लड़ाई है। अगर श्रीराम कहते कि मेरे साथ अन्याय हुआ है तथा राज्य मुझे मिलना चाहिये तो न्याय-अन्याय वहाँ केवल शब्द होते, वास्तविक तात्पर्य यही निकलता कि उन्हें सत्ता से मोह है।

लोभ की तरह काम के विरुद्ध भी भगवान् राम लड़ते हैं। शूर्पणखा स्वयं विवाह का प्रस्ताव लेकर आई थी। पर श्रीराम वैराग्य से युक्त हैं, वे अपने को प्राप्त सौंदर्य-समृद्धि का त्याग करते हैं, और भरत उस राज्य का त्याग करते हैं। जो कैकेयी उन्हें देना चाहती हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि लोभ के विरुद्ध त्याग का युद्ध होता है तथा काम के विरुद्ध वैराग्य का। इन दोनों युद्धों को मिलाकर जो विजय प्राप्त होती है वह विजय बुराई के विरुद्ध अच्छाई की विजय है। यदि बुराई के विरुद्ध बुराई की विजय हो जाये तो उसका कोई अर्थ नहीं। तुलसीदासजी ने कैकेयी को कभी श्रेष्ठ स्थान नहीं दिया। लोग रामायण में जब पढ़ते हैं कि भगवान् राम कैकेयी की बार-बार प्रशंसा करते हैं तो वे भगवान् के इस प्रमाण-पत्र को कैकेयी के पक्ष में ग्रहण कर लेते हैं। राम द्वारा कैकेयी की प्रशंसा राम की उदारता की परिचायक है, कैकेयी की महिमा की नहीं। यह अंतर ध्यान में रखा जाना चाहिये। कोई व्यक्ति किसी की प्रशंसा करने लगे तो यह सामने वाले व्यक्ति का गुण है, या प्रशंसा करने वाले का परिचायक है इसे समझने का प्रयास करना चाहिये।

भगवान् राम यदि कैकेयी के कार्य में उच्चता देखते हैं तो यह उनकी उदारता है। गोस्वामीजी इसीलिए लिखते हैं कि जब तक कैकेयी जीवित रहीं, श्रीराम सदा उनको आदर देते रहे और भरत ने उनसे कभी वार्तालाप नहीं किया, इसका तात्पर्य क्या यह माना जाय कि भगवान् राम के प्रमाण-पत्र को भरत ने कभी विश्वास की दृष्टि से नहीं देखा? भगवान् राम ने कैकेयी को जो प्रमाण-पत्र दिया वह सच्चे हृदय से दिया। असल में भगवान् राम का राज्य वैचारिक या हृदय की क्रांति का प्रतीक है।

भगवान् राम का स्वभाव कैसा है? महाराज दशरथ ने गुरु वसिष्ठ से कहा—जाकर आप श्रीराम को सूचना दे दीजिए कि कल सिंहासन पर उन्हें बैठना होगा। गुरु वसिष्ठ श्रीराम को सूचना देते हैं। एक शब्द बड़ा प्रचलित हो गया है कि भगवान् राम मर्यादा पुरुषोत्तम थे और भगवान् कृष्ण लीला पुरुषोत्तम। मैं इस शब्द को नहीं मानता। भगवान् राम मर्यादा पुरुषोत्तम और लीला पुरुषोत्तम दोनों हैं तथा भगवान् कृष्ण भी लीला पुरुषोत्तम होने के साथ ही मर्यादा पुरुषोत्तम भी हैं। दोनों में पूर्णता विद्यमान है—मर्यादा भी है और लीला भी। ये दोनों ही जीवन के अंग हैं जिनकी पूर्णता आपको दोनों चरित्रों में मिलेगी। लोग श्रीराम को मर्यादा पुरुषोत्तम इस अर्थ में समझते हैं कि उनके समय में जो मर्यादाएँ प्रचलित थीं उनका उन्होंने अपने जीवन में पालन किया। इसे मैं नहीं मानूँगा। मैं तो इस अर्थ में उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम मानूँगा कि उन्होंने नई मर्यादाओं का निर्माण किया। यदि आप यह समझकर उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम मानते हों कि उन्होंने पुरानी मर्यादाओं का पालन किया तो आप श्रीराम को नहीं पहचानते। उन्होंने कौन-सी पुरानी मर्यादा मानी? उस समय तो जितनी प्रचलित मर्यादाएँ थीं, भगवान् राम ने उनके प्रतिकूल कार्य किया। उनके चरित्र की विशेषता यह थी कि वे मर्यादाओं में परिवर्तन ऐसी पद्धति से करते थे कि पुरातन मर्यादावादी को यह नहीं लगता था कि मर्यादा टूट गई। उनके चरित्र में यह अद्भुत कौशल विद्यमान है। पुरातन और नवीन को वे इस तरह मिलाते हैं कि यह पता नहीं चलता कि पुरातन कब नवीन हो गया। उनके चरित्र के द्वारा पुरातन नवीन में बदल जाता है।

अयोध्या की परम्परा थी कि ज्येष्ठ पुत्र को राज्य मिलना चाहिए। यह रघुवंश की तथा राजतंत्र की परम्परा रही। अब यदि भगवान् राम उस अर्थ में मर्यादा पुरुषोत्तम हों तब तो यह जानकर कि उनका राज्या-

भिषेक हो रहा है, उन्हें प्रसन्न होना चाहिए था कि मर्यादा का पालन हो रहा है। पर ऐसा नहीं होता। जब गुरु वसिष्ठ ने उनसे कहा कि कल तुम्हें राज्य मिलने वाला है तो वे उदास हो गये। यहाँ श्रीराम के चरित्र की विशेषता दिखाई देती है। कई लोग पुरातन का इतनी तीव्रता के साथ खंडन करते हैं कि पुरातन और नवीन एक दूसरे से लड़ने को तैयार हो जाते हैं। श्रीराम की विशेषता यह है कि वे पुरातन को बदलकर नवीन को लाना तो चाहते हैं किंतु पुरातन के सम्मान में कोई कमी नहीं होने देना चाहते। भगवान् राम गुरु वसिष्ठ से कह सकते थे कि मैं राज्य नहीं लूँगा, लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। गुरु वसिष्ठ जब सूचना देकर जाने लगते हैं तो भगवान् राम प्रणाम करके चुप हो जाते हैं, गंभीर हो जाते है और वहाँ से चले जाते हैं। इसके बाद रामराज्य का चिंतन उनके हृदय में प्रकट होता है। वे उदास होकर सोचते हैं—सूर्यवंश में अनेकों सुन्दर नियम हैं पर यदि कोई नियम निंदनीय है तो यही कि—

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥

२।६।५–७

तो, जब तक यह विचारधारा नहीं आती कि हमें जो प्राप्त हो रहा है वह हमारा अधिकार नहीं है और यदि अधिकार है तो गलत अधिकार है, तब तक रामराज्य नहीं बन सकता। भगवान् राम सोचते हैं कि भले ही सूर्यवंश की यह परम्परा है कि ज्येष्ठ व्यक्ति को राज्य दिया जाता है, पर यह परम्परा अनुचित है। प्रभु सोचते हैं कि इस सूर्यवंश में इतनी अनुचित परम्परा को स्थान कैसे मिल गया ? वे तर्क करते हैं कि जिस सूर्य ने आज तक प्रकाश देने में बड़े-छोटे का कोई भेद नहीं किया, उसी सूर्यवंश में छोटे भाई को राज्य न दे बड़े को देना मानो सूर्य के आदर्श को ही नष्ट कर देना हुआ। वे विचार करते हैं कि या तो राज्य सबको मिलना चाहिए था या फिर राज्य का सच्चा अधिकारी छोटा भाई ही है। अगर सूर्य की परम्परा का पालन किया जाये तो राज्य भरत को मिलना चाहिये, न कि मुझे। भगवान् राम की यही भावना रामराज्य का मूल आधार है। प्रभु का भाव कितना सुन्दर है। उन्हें अपने विचार में कोई अनौचित्य नहीं लगता। यदि कोई उनसे पूछे कि महाराज, छोटा

राजा हो जाये और बड़ा भाई राजसिंहासन पर न बैठे तो कैसा लगेगा ? तो वे कहेंगे—'यही तो आनंद है । मैं सबसे बड़ा भाई हूँ ही और भरत राज्य पाकर बड़ा हो जायेगा, इस प्रकार दोनों बड़े हो जायेंगे । यदि मैं सिंहासन पर बैठ जाऊँ तो मैं और बड़ा हो गया तथा भरत और छोटा हो गया । यह किस काम की बात हुई ? व्यवहार तो ऐसा करना चाहिये कि दोनों भाई बड़े हो जायें ।' प्रभु को लगता है कि यदि आज राज्य मुझे मिल जाये तो मैं अपना परिचय दूँगा कि अयोध्या का राजा हूँ, पर यदि भरत को राज्य मिल जाये और मुझसे कोई पूछे कि तुम कौन हो तो कहूँगा कि अयोध्या के राजा का बड़ा भाई हूँ । अब राजा होने में बड़प्पन है या राजा का बड़ा भाई होने में ? यदि भरत राजा हो जाता है तो मेरी पदोन्नति हो जावेगी । मुझे परिचय का बड़ा सुन्दर माध्यम मिल जायेगा ! वे ऐसा सोचते अवश्य हैं पर गुरु वसिष्ठ और दशरथ के विरुद्ध विद्रोह नहीं करते । वे विद्रोह के द्वारा अपनी बात नहीं मनवाते । अपनी बात को रखने के लिये वे एक उचित पृष्ठभूमि ढूँढ़ते हैं । इस संदर्भ में मैं आपको एक बात बताऊँ । जब भगवान् राम चित्रकूट में थे और जब वहाँ भरतजी सारी माताओं को और समाज को लेकर गये, तब प्रभु ने तीनों माताओं से अलग-अलग व्यवहार किया । तीनों माताएँ सामने थीं । कैकेयी अम्बा को बड़ा संकोच हो रहा था । श्रीराम सबसे पहले कैकेयी अम्बा के पास गये । लोगों को आशा थी कि शायद प्रणाम करेंगे पर प्रणाम नहीं किया । पहले जाकर कैकेयी अम्बा को कसकर हृदय से लगा लिया और बहुत देर तक हृदय से लगे रहे । इसके बाद फिर उनके चरणों में प्रणाम किया । फिर वहाँ से हटे और सुमित्रा अम्बा को प्रणाम किया और उनकी गोद में बैठ गये । फिर जाकर कौसल्या अम्बा के चरणों में प्रणाम किया । वहाँ वे स्वयं होकर गोद में नहीं बैठे, कौसल्याजी ने स्वयं पकड़कर उन्हे गोद में बिठाया तब बैठे । गोस्वामीजी ने तीनों के व्यावहारिक भेद का वर्णन किया है—

प्रथम राम भेंटी कैकेई । सरल सुभायँ भगति मति भेई ।।
पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी । काल करम बिधि सिर धरि खोरी ।।
२।२४३।७-८

—यह तो कैकेयी के प्रति व्यवहार है । सुमित्राजी के लिये—

गहि पद लगे सुमित्रा अंका । जनु भेंटी संपति अति रंका ।। २।२४४।३

—और कौसल्याजी के चरणों में—

पुनि जननी चरननि दोउ भ्राता। परे पेम ब्याकुल सब गाता ॥
अति अनुराग अंब उर लाए। नयन सनेह सलिल अन्हवाए ॥
२।२४४।४-५

यह तीनों माताओं से तीन तरह का व्यवहार है। मर्यादा पुरुषोत्तम ने यह क्या किया ? पहले बड़ी माता कौसल्याजी को प्रणाम करना चाहिये था। तब वे कैकेयी अम्बा के पास क्यों गये ? भगवान् राम कहते हैं कि क्षत्रियों में व्यक्ति अवस्था से बड़ा नहीं होता है, जो राजा होता है वह बड़ा है। भरत राजा हैं इस नाते कैकेयीजी राजमाता हैं। मैं राजा नहीं हूँ इसलिए राजमाता को ही पहले प्रणाम करना चाहिए। प्रणाम करने से पहले भगवान् राम कैकेयीजी के हृदय से काफी देर तक लगे रहे। क्या तात्पर्य हैं ? मानो प्रभु ने कहा—'माँ अन्य माताओं को तो केवल सिर टेककर प्रणाम करूँगा। तुम्हें भी प्रणाम करूँगा, पर बाद में। पहले मैं तुम्हारे हृदय से लगूँगा।' क्यों ? श्रीराम ने मानो मन में कहा—'अयोध्या में करोड़ों व्यक्ति हैं किंतु मेरे हृदय की बात कोई नहीं सुन सका। एक तुम ही थी जो मेरी बात सुन सकीं। मैंने अकेले में सोचा था कि राज्य छोटे को मिलना चाहिए, बड़े को नहीं, पर एक व्यक्ति भी मेरे हृदय की भाषा को नहीं समझ पाया, केवल तुम्हीं ने समझा। इसलिए मैं तुम्हारे हृदय को पहले प्रणाम करता हूँ, चरणों में प्रणाम बाद में करूँगा। माँ तुम्हारा हृदय कितना उदात्त है ! तुम कैसे मेरी भाषा को समझ गईं ? मेरे विचार को तुमने मूर्त रूप दे दिया। तुम्हें छोड़कर मेरे हृदय को इतना समझने वाला भला और कौन है ?' भले ही कैकेयीजी ने स्वार्थ के कारण, मंथरा की प्रेरणा से, भविष्य की भीषण कल्पना से श्रीराम के लिए वनवास माँगा था, किन्तु श्रीराम ने तो उसको इस रूप में लिया।

अब पूर्व प्रसंग की ओर आइये। प्रातःकाल होता है। महाराज दशरथ किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये हैं। वे एक ऐसे पात्र के रूप में आते हैं जो निर्णय नहीं कर पाते कि उनको क्या करना चाहिये। इतने में सुमंत्र जी आते हैं। कैकेयी ने सुमंत्रजी से कहा कि जाकर श्रीराम को बुला लाओ। सुमंत्रजी श्रीराम को बुलाकर ले आये। बड़ी भूमिका के साथ कैकेयी ने कहा कि राम, मैंने दो वरदान माँगे हैं, क्या तुम उन्हें पूरा कर

पाओगे ? जिस समय दोनों वरदानों की बात भगवान् राम ने सुनी, उन्होंने कहा माँ ऐसा भी कोई मूर्ख होता है जो कल्पवृक्ष को छोड़कर एरंड वृक्ष का तथा अमृत को छोड़कर विष का सेवन करे ?

सेवहिं अरँडु कलपतरु त्यागी । परिहरि अमृत लेहिं बिषु मागी ।।
तेउ न पाइ अस समउ चुकाहीं । देखु बिचारि मातु मन माहीं ।।
२।४१।३-४

—'माँ' यदि ऐसा कोई मूर्ख हुआ भी तो मुझे विश्वास है उसके सामने यदि ऐसा सुंदर प्रस्ताव आवे तो वह जरूर स्वीकार कर लेगा ।' अब आप श्रीराम की इन बातों की सच्चाई पर मत जाइये; यह तो उनके स्वभाव की बात है । ऐसा केवल श्रीराम को ही लगता है, दूसरों को नहीं । श्रीराम ने दो उपमाएँ दीं । उन्होंने कहा—माँ, तुमने जो वरदान माँगे हैं उनमें एक है कल्पतरु और दूसरा है अमृत । किंवदन्ती है कि कल्पतरु के नीचे पहुँचकर जो कल्पना की जाय वह पूरी हो जाती है । भगवान् राम कहते हैं—अयोध्या में मेरी कल्पतरु तुम हो । कल ही मैंने सोचा था कि छोटे को राज्य मिलना चाहिये और आज तुमने कह दिया कि भरत को राज्य मिलेगा ! तुमने मेरी कामना पूरी कर दी । पर माँ, तुम तो मेरे लिए कल्पतरु से भी बढ़कर हो । कल्पतरु उतना ही देता है जितना उससे माँगा जाता है, पर तुम्हारी विशेषता यह है कि मैंने जो चाहा था तुमने मुझे उससे भी अधिक दे दिया । मैंने चाहा था कि छोटे को राज्य मिले, वह तो दिया ही पर तुमने साथ ही मुझे सत्संग के लिए वन भेजकर जो नया व्रत दिया, इसके लिए मैं तुम्हारा चिर ऋणी रहूँगा । तुम्हारे कारण मुझे कितना बड़ा सौभाग्य मिल रहा है—

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर ।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर ।। २।४१

भगवान् राम ने हम लोगों को एक रसायन दिया । जीवन में प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थितियों को कौन झेल लेता है ? वह जो बढ़िया कथावाचक होता है । कथावाचक का क्या तात्पर्य ? जो घटनाओं की व्याख्या करता है । कथा में घटनाओं की व्याख्या करना अलग बात है, पर जीवन की घटनाओं की कथा कह पाना और उसमें रस की सृष्टि कर सकना यह तो भगवान् राम जैसे कथावाचक के लिए ही संभव है ।

कैकेयीजी ने चाहे जिस अर्थ में भगवान् राम को वन देने की चेष्टा की हो, पर भगवान् राम उसमें लाभ की ही कल्पना करते हैं और कहते हैं —माँ, मैं तो ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं कल घाटे में था और आज तुमने वरदान क्या माँगा, मुझे चौगुना लाभ मिल गया। एक ओर तो वन में मुनियों से मिलने का अवसर मिलेगा और दूसरी ओर—

भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू ।।
जौं न जाऊँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा ।।
२।४१।१-२

—'माँ, तुमने मेरे लिये सब कुछ कर दिया, इससे बढ़कर कोई बात नहीं हो सकती।' भगवान् राम का स्वभाव ही यह है कि उनके अंतःकरण में जो विचार उठते हैं उन्हें वे दबाते नहीं बल्कि प्रकट कर देते हैं। यही वह भूमिका है, यही वह धर्म है जिसका निर्वाह भगवान् राम और भरत करते हैं। समाज को जिस धर्म की आवश्यकता थी वह यही था, और यही रामराज्य का मूल प्राण है, उसका केन्द्र है। इस धर्म को सच्चे अर्थों में भगवान् राम और भरत ने ही प्रतिष्ठापित किया। इसी को गीता में 'स्वधर्म' कहा गया है और यही रामचरितमानस में 'निजधर्म' के नाम से पुकारा गया है। अब निजधर्म की दो व्याख्या हो गई। भगवान् राम तो यह कह कर वन चले गये कि धर्मानुकूल सत्य के लिए पिताजी ने मेरा त्याग किया है, अतएव इससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं हो सकता कि मैं राज्य छोड़कर वन जाऊँ। यह एक व्याख्या हो गई और दूसरी व्याख्या क्या है ? जब श्री भरत को राज्य दिया जा रहा है तो श्रीभरत उसे स्वीकार करें या नहीं ? मैंने आपसे संकेत किया था कि गुरु वसिष्ठ भरत से यही कहते हैं कि महाराज श्रीदशरथ ने जो राज्य तुम्हें देने की घोषणा की, जिस सत्य के लिए उन्होंने प्राणों का परित्याग किया, जिस सत्य की रक्षा के लिए श्रीराम वन गये, क्या तुम्हारा कर्तव्य नहीं है कि तुम भी उस सत्य का पालन करो ? तुम्हारा धर्म है कि तुम सदा के लिए राज्य सम्हालना न चाहो तो चौदह वर्ष के लिए उसे ले लो और जब श्रीराम लौटकर आवें तब उन्हें राज्य दे देना। पर भरत गुरु वसिष्ठ की बात नहीं स्वीकार करते। न तो भगवान् राम ने प्रचलित धर्म को स्वीकार किया और न श्री भरत ने। देखिये भगवान् राम का कौशल्य क्या है ? दशरथजी किंकर्तव्यविमूढ़ हैं। धर्म के विषय में गीता में (४।१६)

कहा गया है—**किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः**—बड़े-बड़े विद्वान् भी इस विषय में भ्रांत हो जाते हैं कि क्या उचित है और क्या अनुचित, क्या कर्म है और क्या अकर्म, क्या करना चाहिये और क्या नहीं। महाराज दशरथ की स्थिति भी ठीक ऐसी ही है।

रामायण में एक विचित्र संकेत आता है। महाराज दशरथ की मृत्यु हुई थी श्रवणकुमार के माता-पिता के शाप के कारण। आपने उस कथा को शायद दूसरे संदर्भ में पढ़ा हो, पर श्रवणकुमार के माता-पिता से हुई वही भूल महाराज श्री दशरथ से हुई। श्रवणकुमार के बारे में कहा जाता है कि वह इतना बड़ा मातृ-पितृ-भक्त था कि वह दानों को कंधों पर ढोकर तीर्थों की यात्रा करा रहा था। श्रवणकुमार के माता-पिता की मृत्यु हो गई और उनकी तीर्थ-यात्रा पूरी नहीं हो पाई। वे अपने लक्ष्य को पूरा नहीं कर सके। श्रवणकुमार एक पवित्र कार्य करने जा रहा था। वह भी मार्ग में मृत्यु को प्राप्त हो गया तथा अपने कार्य को पूरा नहीं कर सका। महाराज दशरथ की भी मृत्यु शापवश हुई। जीवन में अपने अंतिम लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाये। क्या कमी थी इन सब लोगों में जो ये लक्ष्य तक नहीं पहुँच सके? पहले 'श्रवणकुमार' नाम को देखिये। लगता है, बेचारा अन्त तक श्रवणकुमार ही रह गया, मननकुमार नहीं बन पाया। हमारे शास्त्र कहते हैं—पहले श्रवण करो, फिर मनन करो, फिर निदिध्यासन करो। वह बेचारा श्रवण के बाद ही निदिध्यासन की और पहुँचने की चेष्टा करने लगा, उसने मनन नहीं किया। श्रवणकुमार के माता-पिता श्रद्धा और विश्वास के प्रतीक हैं, पर इनमें कौन श्रद्धा है और कौन विश्वास? रामायण में श्रद्धा-विश्वास के दो प्रतीक हैं—भगवान् शंकर और पार्वती। **भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ याभ्यां बिना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्।** पार्वतीजी मूर्तिमती श्रद्धा हैं और भगवान् शकर मूर्तिमान विश्वास। इधर दूसरे श्रद्धा-विश्वास के रूप ये हैं जो कि दोनों अंधे हैं। अंधश्रद्धा और अंधविश्वास! वास्तविक विश्वास तो अंधा नहीं होता। वास्तविक विश्वास के दो नहीं तीन नेत्र होते हैं। वास्तविक श्रद्धा के पास दो दिव्य चक्षु हैं। पर ये अंधे व्यक्ति हैं—धर्म का तत्त्व न जानने वाले! इन्होने धर्म को तो जाना पर उसका तत्त्व नहीं जाना, धर्मसार नहीं जाना। यदि श्रवणकुमार के माता-पिता ने धर्म के सार को जाना होता तो वे कभी भी अपने बेटे से तीर्थ-यात्रा का प्रस्ताव न करते। व्यक्ति के सामर्थ्य, संस्कार और योग्यता के अनु-

कूल धर्म की व्याख्या होनी चाहिये। वे तो अंधे थे। क्या उनके लिए तीर्थ-यात्रा ही धर्म रह गया था? यही अविवेकपूर्ण निर्णय है। व्यक्ति तो अंधा है और संकल्प ले तीर्थ-दर्शन का। एकान्त में ध्यान नहीं कर सकते थे, उनके नाम का जप नहीं कर सकते थे? उन्होंने धर्म का रूप भी ऐसा चुना जो उनके किसी काम का न था। तीर्थ में जान पर व्यक्ति तीर्थों को देखेगा। पर वे ता देख नहीं सकते थे। फिर तीर्थ-यात्रा भी की तो दूसरे के कंधों पर लदकर। स्वयं में न देखने की सामर्थ्य, न चलने की। तो इस प्रकार कंधे पर लदकर जो तीर्थ-यात्रा की जा रही है वह वस्तुतः श्रवणमूलक धर्म ही है, विचारमूलक धर्म नहीं। व्यक्ति को चाहिये कि वह अपने लिये उचित धर्म का चुनाव करे, पर लोग हमेशा उल्टा ही चुनते हैं।

एक धनी सज्जन सदा कहा करते—'क्या करूँ, मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता, अन्यथा हम समाज की सेवा करते।' एक बेचारे स्वस्थ सज्जन थे, वे हमेशा शिकायत करते—'क्या बताऊँ, मेरे पास पैसा नहीं है, नहीं तो मैं समाज की सेवा करता।' मानो दोनों का निर्णय यह था कि जो हमारे पास है उससे सेवा नहीं हो सकती, जो हमारे पास नहीं है उसी से सेवा करेंगे! धनी धन से सेवा नहीं करना चाहता; स्वस्थ शरीर वाला शरीर से सेवा नहीं करना चाहता। इसका अर्थ यही है कि धर्म के तत्त्वों से दोनों दूर हैं। अगर श्रवणकुमार के माता-पिता सच्चे धर्म का तत्त्व जानते होते तो वे बालक के कंधे पर बैठकर सारे संसार के तीर्थों को घूमने का विचार न करते। इसके बदले वे निर्णय कर लेते कि भगवान् की कथा सुनने के बाद अब हम उनका ध्यान करेंगे, चिंतन करेंगे। वे तो बालक के कंधे पर बैठकर तीर्थ-दर्शन के लिये निकलते हैं ताकि लोग कहें तो कि कितने बड़े तीर्थ-यात्री जा रहे हैं। जिनका ध्यान न जा रहा हो वह भी अंधे तीर्थ-यात्रियों को देखकर उनकी धार्मिकता की दाद दे! ऐसा धर्म अन्त में लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाता। फिर, श्रवण-कुमार भी श्रवणकुमार ही थे! वे माता-पिता को समझा सकते थे, उनसे अनुरोध कर सकते थे, उन्हें धर्म का सच्चा ज्ञान दे सकते थे। पर श्रवण-कुमार को यह चिंता हो गई कि कहीं मेरी मातृ-पितृ-भक्ति झूठी न मान ली जाये; अगर मैं इन्हें लेकर न चलूँ और इनसे कहूँ कि यहीं बैठकर भजन कीजिये तो ये ऐसा न कहने लगें कि बेटा आलसी है, धर्मविहीन

है। दोनों ऐसे मिथ्या धर्म में आसक्त थे। जिसका मूल सच्चा विवेक या सच्ची श्रद्धा नहीं बल्कि रजोगुण और अहंकार है।

दशरथजी का दोष क्या है ? सभी जगह श्रवण में ही संकेत मिलेगा। एक का तो नाम ही श्रवणकुमार है जो श्रवण तो करता है पर विचार नहीं करता। दूसरे, अंधे माता-पिता हैं जिनके पास कान तो हैं पर दृष्टि नहीं। दशरथजी के पास दृष्टि भी थी और कान भी थे। लेकिन उन्हें अपने कानों पर इतना विश्वास है कि सत्य को जानने के लिए वे देखने की आवश्यकता ही नहीं अनुभव करते। जिस समय श्रवणकुमार बर्तन को जल में डाल रहे थे और उसकी ध्वनि हुई उस समय महाराज दशरथ कानों से सुनने के साथ-साथ यदि आँख से भी देख लेते तो शायद यह दुर्घटना न होती। हमें ईश्वर ने नेत्र और श्रवण दोनों दिये हैं। किसी एक में अधिक आसक्त मत हो जाइये। दोनों में संतुलन समन्वय स्थापित कीजिये। महाराज दशरथ को अपनी श्रवणशक्ति पर इतना अहंकार था कि समझ लिया मृग बोल रहा है और फिर सोच लिया कि मेरे पास तो शब्दवेधी बाण है। शब्दवेधी बाण चलाया तो मृग के स्थान पर श्रवण-कुमार को लग गया श्रवण के वध के बाद दशरथजी ने पाया कि अपनी श्रवणशक्ति के अहंकार में उन्होंने एक व्यक्ति का वध कर दिया। दश-रथजी श्रवण के माता-पिता के लिए जल लेकर गये। उन्होंने अनजाने में श्रवणकुमार को मारा था किंतु श्रवण के तीर्थ-यात्री माता-पिता को मरते समय भी भगवान् की याद नहीं आई। उन्हें तो दशरथजी पर क्रोध आया और उन्होंने श्राप दे दिया कि जैसे हम मरे वैसे ही तुम भी मरोगे। यह रजोगुणमूलक धर्म हुआ। किसी में श्रवण का अभाव है तो किसी में दृष्टि का, और किसी में श्रवण और दृष्टि दोनों होते हुए भी किसी का उपयोग नहीं। अंत में दशरथजी की मृत्यु भी शब्दवेधी बाण से होती है। शब्द ही तो उनकी मृत्यु का कारण बनता है। उन्होंने कैकेयीजी को जो वरदान दिया था उसी ने तो उन पर प्रहार किया। शब्द को ही पकड़-कर कैकेयी ने कहा था—आपने मुझे दो वरदान देने की बात कही थी और मैं आज उन दो वरदानों को माँगती हूँ, एक वरदान यह दीजिये कि मेरे पुत्र भरत को राज्य मिले और दूसरा वरदान यह कि राम को वनवास मिले। बेचारे दशरथ किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। सोच न सके कि धर्म क्या है। सबने कहा कि दशरथजी बड़े धर्मात्मा थे। गुरु वसिष्ठ ने भी ऐसा कहा। रामचन्द्र ने भी अपने पिता की महानता का प्रमाण-पत्र

दे दिया। किंतु जब श्री भरतजी ननिहाल से लौट कर आये तो उन्होंने कहा—'मेरे पिताजी अवश्य जीवनभर महान् रहे पर अंत में उनकी महानता सही-सलामत थी या नहीं इस पर मुझे संदेह है।' उन्होंने कहा—

मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही। २।१६१।३

—'मृत्यु के समय ब्रह्मा ने हमारे पिताजी की बुद्धि का विनाश कर दिया था, नहीं तो वे इतना अविवेकपूर्ण निर्णय न लेते। यदि वे सही धर्म को समझ पाये होते तो इतनी बड़ी भूल न हुई होती।' गुरु वसिष्ठ जी कहते हैं कि तुम्हारे पिता ने सत्य के लिये इतना बड़ा त्याग किया, पर उस संबंध में भरत की राय क्या है? गुरु वसिष्ठ भरत से अपने निष्ठावान पिता के वचनों की रक्षा कर राज्य लेने का आग्रह करते हैं। यदि भरत गुरु वसिष्ठ की बात मानकर सिंहासन पर बैठ जाते तो वसिष्ठजी की समझ से सत्य की रक्षा हो जाती। पर भरत इस पर क्या कहते हैं।

उनका यह कथन है कि गुरुदेव, यदि मैं सिंहासन पर बैठ जाऊँगा तो आप ही सोचिये, सत्य की विजय होगी या असत्य की? पिताजी तो सत्य का राज्य चाहते थे किंतु असत्यवादी मंथरा ने षड्यन्त्र करके श्रीराम को राज्य से च्युत कर दिया मैं राज्य स्वीकार कर लूँ तो आप ही बताइये, मंथरा का संकल्प पूर्ण होगा या पिताजी का? भरतजी का धर्म-विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म है। वे पूछते हैं—जो दिखाई दे रहा है वह सत्य है या जो उसकी आड़ में है वह सत्य है? शब्द सत्य है अथवा शब्द के पीछे का भाव सत्य है? श्री भरत ने कहा—गुरुदेव, आपसे बढ़कर कोई नहीं जान सकता कि पिताजी की अंतिम इच्छा क्या थी। पिताजी तो श्रीराम को राज्य देना चाहते थे पर मंथरा और कैकेयी ने उनके विरुद्ध षड्यंत्र किया। आप कहते हैं कि भरत, राज्य ले लो, पिताजी की इच्छा पूर्ण हो जायेगी। पर क्या यह ठीक है? मेरी समझ से सत्य की रक्षा तो तब होगी जब पिताजी का अधूरा संकल्प पूरा किया जायेगा। पिता से जो बलात् कहलवाया गया उसे पूरा करने से धर्म की रक्षा नहीं होगी। इसका अभिप्राय यह है कि धर्म को अधर्म के हाथ का शस्त्र नहीं बनने दिया जाना चाहिये। यह समस्या समाज में कई बार आती है अधर्म की चतुराई यह है कि वह स्वयं अपने बल से तो लाभ पाता ही है, साथ ही धार्मिकों की धर्मनिष्ठा से भी लाभ उठा लेता है। जैसे प्रसंग आता है कि रावण यज्ञ कर रहा है। वह सोचता है कि पाप से

तो हम राम को हराने की चेष्टा करेंगे ही, साथ ही यज्ञ से भी शक्ति प्राप्त कर हम राम को हराने का प्रयास करेंगे ; राम तो यज्ञरक्षक हैं, वे यज्ञ को नष्ट नहीं करेंगे। इस प्रकार अधार्मिक सर्वदा धर्म का लाभ लेने की चेष्टा करता है। भगवान् राम का धर्मज्ञान शुद्ध है। जैसे ही उन्होंने सुना कि रावण यज्ञ कर रहा है, उन्होंने अपनी सेना को आदेश दिया कि जाकर रावण का यज्ञ नष्ट कर दो। उनकी मान्यता है कि जो अधर्म धर्म के बल पर पनपे, अर्थात् जो धर्म अधर्म को पनपाये वह धर्म नहीं है, उसका नाश किया जाना चाहिये। यही बात भगवान् कृष्ण ने भी अपनाई। उन्होंने अपने सामने सर्वदा सत्य की इसी कसौटी को रखा, यह नहीं देखा कि सामने धर्म दिखता है या अधर्म।

महाभारतकाल में सूर्य का बेटा कर्ण है और इन्द्र का बेटा अर्जुन। रामायणकाल में सूर्य का पुत्र सुग्रीव है और इन्द्र का पुत्र वालि। रामायण काल में भगवान् ने सूर्य के पुत्र सुग्रीव की रक्षा की—उससे मित्रता की और इन्द्र के पुत्र का वध किया। महाभारत काल में उन्होंने इन्द्र के पुत्र अर्जुन की रक्षा की और सूर्य के पुत्र कर्ण का नाश कराया। एक सज्जन कहने लगे कि यह समता है—हिसाब-किताब बराबर ! हमने कहा, यह भी कोई समता हुई कि एक बार एक का पक्ष लीजिये तो दूसरी बार दूसरे का। इसका तात्पर्य यह कि श्रीकृष्ण यह नहीं देखते कि कौन इन्द्र का बेटा है और कौन सूर्य का। भगवान् राम यह नहीं देखते कि कौन किस देवता का पुत्र है। वे यह देखते हैं कि कौन किस लक्ष्य की पूर्ति में लगा हुआ है। सुग्रीव सूर्य का बेटा है और सूर्य-वंशोद्भव राम की सहायता करता है। प्रकाश-प्रकाश के पक्ष में है। कर्ण सूर्य का बेटा है पर सेवा कर रहा है धृतराष्ट्र के बेटे की। सूर्य का बेटा जब अंधे के बेटे की सेवा करे तब तो भगवान् उसका विनाश करायेंगे ही। ऐसे प्रकाश की रक्षा आवश्यक नहीं जो अधर्म का सहायक बने।

इसे प्रस्तुत संदर्भ में देखें, असत्यवादी मंथरा सत्य का लाभ ले रही है। महाराज दशरथ सत्यवादी हैं इसलिये वह सत्य के नाम पर उनसे वह करा लेना चाहती है जो ये नहीं करना चाहते। मानो सत्य असत्य के हाथ का शस्त्र बन जाता है। इसीलिये भरतजी गुरु वसिष्ठ से कहते हैं—'पिताजी सत्य का ठीक निर्णय नहीं कर पाये। उन्होंने सारी प्रजा के सामने घोषणा की थी कि वे राम को राज्य देंगे। गुरुदेव, उन्होंने आपके

द्वारा श्री राम तक सूचना भी भेजी थी कि कल तुम्हें राज्य मिलेगा। सारी प्रजा और आपको दिया गया वचन, वचन न हुआ और कैकेयी को दिया गया वचन, वचन हो गया ? तभी तो मैं कहता हूँ कि **'मरण काल बिधि मति हरि लीन्ही'**। कैकेयी ने जब मेरे लिये राज्य का वरदान माँगा तो पिताजी को चाहिये था कि वे कह देते—राज्य देने का वचन तो मैंने राम को दे दिया है, अब जो कुछ बचा है, उसमें से माँग लो। पर पिताजी तो सत्य का निर्णय ही नहीं कर पाये थे।

जहाँ भरत का तर्क है कि उनके पिता धर्म का ठीक निर्णय नहीं कर पाये, वहीं भगवान् राम का कथन है कि पिताजी ने धर्म का बिल्कुल ठीक निर्णय किया। आगे चलकर चित्रकूट में जब विवाद उठा तो श्रीराम ने कहा—'पिताजी ने वही व्यवहार किया जो उपयुक्त था तथा कैकेयी अम्बा ने भी ठीक किया। जैसे कोई व्यक्ति किसी का ऋणी हो, वैसे ही मेरे पिता भी माँ कैकेयी के ऋणी थे। उन्होंने कैकेयी अम्बा को दो वरदान देने की बात कही थी और बिना यह ऋण चुकाये ही वे मुझे राज्य देने लगे थे। तो माँ को यह कहने का पूरा अधिकार था कि पहले ऋण चुकाइये, बाद में मनमानी कीजिये। अतः पिता और माता दोनों ने ठीक ही किया।' अब प्रश्न यह है कि भरतजी सही कहते हैं या भगवान् राम ? एक सज्जन ने मुझसे पूछा—दोनों में सही कौन हैं ? तब मैंने कहा कि दोनों ने जो कहा वह अपने लिये सही है। धर्म की कोई निश्चित व्याख्या तो है नहीं। उसकी एक मोटी कसौटी यह है कि जिसमें स्वार्थ का त्याग करना पड़े वह धर्म है। भगवान् राम वह व्याख्या करते हैं जिससे उनको त्याग करना पड़े और भरत वह व्याख्या करते हैं जिससे उनको त्याग स्वीकार करना पड़े। धर्म की सच्ची व्याख्या वही है जो हमें आत्म-त्याग की प्रेरणा देती है, जो स्वार्थ का समर्थन नहीं करती। आप धर्म की चाहे जो व्याख्या कीजिये पर इस कसौटी को ध्यान में रखिये तो कभी धोखा नहीं होगा। यही रामराज्य की आधारशिला थी। जब इस दर्शन के आधार पर कार्य किया गया तभी रामराज्य बन पाया।

सातवाँ व्याख्यान समाप्त

आठवाँ व्याख्यान

भारतीय विद्याभवन की ओर से आयोजित यह ज्ञानयज्ञ आज समापन की ओर है। मैं स्वयं को बड़ा आनंदित अनुभव कर रहा हूँ कि नागपुर आकर मैं लाभ में रहा; घाटे में नहीं! पहले जब नागपुर की चर्चा चलती थी और लोग पूछते थे कि क्या आप नागपुर नहीं गये हैं और जब मैं कहता था—नहीं, तो उन्हें आश्चर्य होता था। वैसे मेरा नियम है, केवल पत्र के माध्यम से मैं आमंत्रण स्वीकार नहीं करता जब तक कि आयोजक के विषय में मुझे ज्ञान न हो। वैसे तो आयोजन आजकल चारों ओर बहुत होते हैं पर मैं चाहता हूँ कि वह एक गरिमा और मर्यादा के अनुकूल हो। पिछले वर्ष पूज्य स्वामी आत्मानंदजी महाराज के रायपुर आश्रम में जाने का अवसर प्राप्त हुआ था। मैं अपने आपको बड़ा सौभाग्यशाली मानता हूँ कि मुझे न केवल जनता और विद्वानों का बल्कि संतों का भी आशीर्वाद प्राप्त रहा है। पूज्य स्वामी आत्मानंदजी एक महान् संत हैं, वे दूसरों को सम्मान देते हैं। मानस की परंपरा है कि संत का स्वभाव ऐसा ही होता है—**सबहि मानप्रद आपु अमानी** (७।३७।४)। वहाँ पर शेवड़ेजी से भी भेंट हुई। उन्होंने उसी समय तिथि निश्चित कर ली। विघ्न तो पड़ा, क्योंकि जिस दिन मैं चला, डाक्टरों की सम्मति थी कि यात्रा नहीं करनी चाहिये। पर मैंने कहा कि नागपुर से प्रथम परिचय में ही यदि ऐसी घटना हो जायेगी तो लोग बड़े निराश होंगे। अतः अस्वस्थ होते हुए भी जाना चाहिये। यहाँ आकर, आप लोगों के बीच पहुँचकर, रामचरितमानस की कथा कहकर बहुत सुख मिला, क्योंकि आपने जितने स्नेह से उसे सुना, जिस रूप में उसे ग्रहण किया, वही मेरे लिए सबसे बड़ा लाभ है। आपका उत्साह भी दिन प्रतिदिन बढ़ता गया। तो, मैं सभी का आभारी हूँ—विशेष रूप से स्वामीजी का जिन्होंने न केवल यहाँ के आयोजन के लिए मुझे आदेश दिया अपितु स्वयं आठ

दिन रुक कर श्रोता के रूप में वक्ता के लिए एक प्रेरणा प्रदान की। भारतीय विद्या भवन के तत्त्वावधान में जिसका उद्देश्य ही भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार है, तथा गीता मंदिर के इस पावन प्रांगण में जिसका गीता के प्रचार-प्रसार के निमित्त किया गया है, श्रीरामचरितमानस की कथा कहकर मैं विशेष सुख का अनुभव कर रहा हूँ। अस्तु, मैं आप सभी के प्रति नमन करता हुआ आज की चर्चा प्रारंभ करता हूँ।

कथा के प्रारंभिक दिन मैंने कहा था कि गोस्वामीजी ने इस बात पर बड़ा बल दिया है कि उनके राम मनुष्य नहीं, ईश्वर हैं, और सचमुच उन्होंने श्रीराम को ईश्वर के रूप में रखकर हमारे अत्यंत निकट पहुँचा दिया। मनुष्य के रूप में तो श्रीराम हमसे बहुत दूर हो जाते। हमारे और उनके बीच में लाखों वर्ष के काल की दूरी होती। भूगोल की दूरी होती। हम यहाँ बैठे-बैठे अयोध्या में रहने वाले श्रीराम को अपने पास कैसे ला पाते? और आज हमसे या हमारे जीवन से श्रीराम का क्या संबंध होता? पर गोस्वामीजी कहते हैं कि श्रीराम ईश्वर हैं, इसलिए वे प्रत्येक काल में हैं, प्रत्येक देश में उनका साक्षात्कार हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति श्रीराम को पा सकता है। वे बार-बार अवतरित होते हैं। त्रेतायुग केवल काल का परिचायक नाम मात्र नहीं है, वह तो प्रत्येक व्यक्ति की मन:स्थिति में आ सकता है। अगर हमारे अंत:करण में त्रेता की स्थिति आ जाये तो आज भी श्रीराम हमारे जीवन में—चाहे अंत:करण में, चाहे बाहर—दोनों तरह से अवतरित हो सकते हैं, ऐसी गोस्वामीजी की मान्यता है।

इसीलिये गोस्वामीजी ने श्रीरामचरितमानस का वर्णन केवल भूतकालीन इतिहास के रूप में नहीं किया अपितु एक ऐसे शाश्वत इतिहास के रूप में किया जो केवल भूतकाल में नहीं, वर्तमान में भी विद्यमान है। इसी रूप में आपके सामने रामचरितमानस की चर्चा की गई है। जैसा कि मैंने आपसे कहा था, भगवान् राम की बड़ी सफलता यह नहीं थी कि उन्होंने रावण को परास्त कर दिया। यह कार्य तो भगवान् राम से पहले अनेक पात्र कर चुके थे। मात्र रावण को हराने के लिए श्रीराम के आने की आवश्यकता नहीं थी। रावण तो बालि के द्वारा भी हराया जा चुका था, सहस्रार्जुन भी उसे परास्त कर चुका था और पाताललोक में तो खेलखेल में ही बालकों ने उसे हरा दिया था। रावण को इन परा-

जयों की स्मृति बहुधा रामायण के पात्रों ने भी दिलाई। अंगद रावण को याद दिला देते हैं—

एक कहत मोहि सकुच अति रहा बालि की कांख।
इन्ह महुँ रावन तैं कवन सत्य बदहि तजि माख॥ ६।२४

—'जिन रावणों के विषय में मैंने सुना है उनमें से तुम कौन रावण हो यह बताओ।' तो, जो रावण भगवान् राम से पहले न जाने कितने लोगों से पराजित हो चुका हो, उसे पराजित करके श्रीराम ने कोई बहुत बड़ा कार्य किया ऐसा जो लोग समझते हैं और इसे महत्त्व देते हैं, उन्होंने भगवान् राम के चरित्र को सही संदर्भ में नहीं समझा। गोस्वामीजी के अनुसार भगवान् राम का रावण के विरुद्ध जो संघर्ष है और उनसे पहले जिन लोगों का रावण के विरुद्ध संघर्ष हुआ था, इन दोनों संघर्षों में एक ही अंतर है, और यह अंतर ही भगवान् के अवतार लेने का मूल सूत्र है। भगवान् राम के अवतार का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी ने एक दोहा लिखा—

बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार॥ १।१६२

—'ब्राह्मण, धेनु, देवता और संतों के हित के लिए भगवान् ने अवतार लिया।' इसको पढ़कर लगता है कि तब तो उन्होने रावण का अहित करने के लिए ही अवतार लिया होगा। क्योंकि रावण इन चारों का विरोधी था। पर यह सत्य नहीं है। यह ठीक है कि भगवान् राम विप्र, धेनु, सुर, संत के हितैषी हैं; पर रावण के प्रति उनकी क्या भावना है? जब वे अंगद को राजदूत के रूप में रावण के दरबार में भेजते हैं तो अंगद को एक सूत्र देते हैं। अंगद ने पूछा—रावण से वार्तालाप करते हुए मुझे क्या ध्यान रखना चाहिये? भगवान् राम ने कहा—

काजु हमार तासु हित होई। ६।१६।८

—'जिसमें रावण का हित हो और लोक-कल्याण का मेरा उद्देश्य भी पूर्ण हो जावे, वही देखकर तुम रावण से वार्तालाप करना।' इसका तात्पर्य यह है कि राम न केवल विप्र, धेनु, सुर और संत के हितैषी हैं अपितु इन चारों का विरोधी जो रावण है उसके भी हितैषी हैं। वे उसका

भी अहित नहीं चाहते । उनके हित की कोई सीमा-रेखा नहीं, वे तो सभी का हित चाहते हैं । इस अर्थ में उनका रावण के विरुद्ध कोई व्यक्तिगत युद्ध नहीं है । रावण के द्वारा समाज में जो विचारधारा प्रचारित और प्रसारित हुई है, उसके विरुद्ध उनका संघर्ष है । इस पृष्ठभूमि में आइये हम देखें कि भगवान् राम और रावण का युद्ध कितने दिनों तक चला । कुछ लोग कहते हैं कि उनका युद्ध इकतीस दिन तक चला । रामचरित-मानस में गोस्वामीजी दिन नहीं गिनाये हैं । लेकिन आप गंभीरता से अगर मानस को पढ़ें तो लगेगा कि भगवान् राम और रावण का युद्ध तो प्रतिक्षण चलता है । यह युद्ध केवल रणक्षेत्र में नहीं लड़ा गया । यदि आप आदि से अंत तक सूक्ष्म विवेचन करके देखें तो आपको स्पष्ट दिखेगा कि चाहे विचारधारा की लड़ाई हो चाहे व्यवहार की, भगवान् राम केवल रावणत्व के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं । रावणत्व की पराजय का अंतिम संकेत बड़े महत्त्व का है । आपने अवश्य इस पर ध्यान दिया होगा ।

भगवान् राम पहले तो चेष्टा करते हैं कि रावण अपनी बुराइयों का त्याग कर दे और इसीलिए वे संधि का प्रस्ताव भेजते हैं । भगवान् राम के इस प्रस्ताव में रावण को उनकी दुर्बलता दिखाई देती है क्योंकि उसकी मान्यता यह है कि संधि की याचना निर्बल करता है, सबल नहीं । भग-वान राम की राजनीति को रावण कभी समझ नहीं पाया । उसको सर्वदा संदेह था कि राम को राजनीति आती भी है या नहीं । बालि के वध के प्रसंग में भी बालि ने भगवान् राम पर यही आरोप लगाया था । जब भगवान् राम ने अंगद को राजदूत बना कर रावण के दरबार में भेजा तो रावण को यह सोचकर हँसी आ गई कि क्या राजनीति का क-ख-ग भी राम को नहीं आता ? राजदूत अत्यंत विश्वस्त होना चाहिये । जिस व्यक्ति के पिता का श्रीराम ने अपने हाथ से वध किया और जिसकी सचमुच उनके द्वारा व्यक्तिगत रूप से हानि हुई (क्योंकि बालि का राज्य अंगद को मिलना चाहिये था) ऐसे व्यक्ति को उन्होंने राजदूत बनाकर भेजा ! कितना आश्चर्य लगता है । रावण को लगा कि इन्हें राजनीति नहीं आती, अन्यथा एक ऐसे व्यक्ति पर जिसकी वे हानि कर चुके हैं, इतना विश्वास न करते ।

बालि पर जब भगवान् राम ने प्रहार किया तो बालि को लगा कि श्रीराम को राजनीति नहीं आती । उसकी मान्यता यह थी कि रावण सरीखे शक्तिशाली शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिये यदि मित्र की

आवश्यकता थी तो मुझे मित्र बनाया जाना चाहिये था न कि सुग्रीव को। बालि और रावण दोनों के तर्क एक दृष्टि से ठीक दिखाई देते हैं। बालि का तर्क यह है कि जो सुग्रीव इतना दुर्बल है, जो मेरे भय के कारण संसार में भागता रहा है, ऐसा कायर व्यक्ति तुम्हारी क्या सहायता करेगा ? हाँ, अगर तुम मुझसे मित्रता करते तो कोई बात भी होती। मैं तो वैसे भी रावण का विजेता हूँ। या तो रावण मेरे भय के मारे सीताजी को लौटा देता या मैं बलपूर्वक रावण को जीतकर सीताजी को लाकर तुम्हें दे देता। एक बलवान को छोड़कर निर्बल से मित्रता करने वाला व्यक्ति निश्चय ही राजनीति का ज्ञान नहीं रखता।

बालि और रावण जिस राजनीति से परिचित थे तथा जिसे उन्होंने जीवन में स्वीकार किया था, भगवान् राम की राजनीति वैसी नहीं थी। राम की राजनीति का उद्देश्य कोई व्यक्तिगत सत्ता की उपलब्धि या उसका संरक्षण नहीं था। उनका तो एक दर्शन था जो उनके प्रत्येक राजनीति व्यवहार से प्रकट होता है। भगवान् श्रीराम संधि का प्रस्ताव भेजते हैं और वह भी अंगद के द्वारा। यह भी श्रीराम की अपनी राजनीति है। इससे उनके हृदय का प्रगाढ़ विश्वास ही प्रकट होता है। इसमें रावण को राजनैतिक चुनौती भी है। भगवान् राम को पूरा विश्वास था कि उन्होंने बालि का वध करते हुए किसी व्यक्तिगत विद्वेष या बदला लेने की वृत्ति का आश्रय नहीं लिया था अपितु लोक-कल्याण और बालि के कल्याण के लिए ही उस पर प्रहार किया था। भगवान् राम अपने इस विश्वास को ही अंगद को राजदूत बनाकर अभिव्यक्त करते हैं। उनकी राजनीति का रूप सर्वदा यही रहा। अतएव यदि आप तुलनात्मक दृष्टि से देखेंगे तो आपको स्पष्ट दिखाई देगा कि रावण और भगवान् राम के दर्शनों में एक बहुत बड़ा भेद है।

रावण के यहाँ इतना कड़ा प्रबंध है कि हनुमानजी एक छोटा-सा मच्छर बनकर लंका में घुसना चाहते हैं, फिर भी पकड़ लिये जाते हैं। इधर भगवान् राम के यहाँ प्रबंध इतना दुर्बल है कि रावण के दो गुप्तचर उनकी सेना में कई दिन रहे पर कोई बंदर पकड़ नहीं पाया। अब रावण अधिक सजग और बुद्धिमान है या श्रीराम ? रावण के गुप्तचर सुक और सारण तीन दिनों तक भगवान् राम की सेवा में रहे मगर कोई बंदर उन्हें पहचान नहीं पाया। उधर जब हनुमानजी लंका में घुसते हैं तो क्षण भर में लंकिनी उनसे डपटकर पूछती है—**सो कह चलेसि मोहि**

निंदरी । (५।३।२) रावण की यह सजगता और भगवान् राम के यहाँ का यह ढीलापन क्या प्रकट करता है ? इसका उत्तर तब प्राप्त होता है जब विभीषण शरण में आये। सुग्रीव ने प्रभु को सूचना दी—**आवा मिलन दसानन भाई ।** (५।४२।४) प्रभु ने भोलेपन से मुस्कुराकर कहा '**कह प्रभु सखा बूझिए काहा ।**' (५।४२।५)—अगर कोई आया है तो पूछने की क्या बात है, ले आओ। राजनीतिज्ञ प्रधानमंत्री ने कहा कि महाराज, राजनीति में कहीं ऐसे कहा जाता है ?—'**कहइ कपीस सुनहु नरनाहा ।**'—बंदरों के राजा ने कहा कि हे मनुष्यों के राजा, सुनिये। तुलसीदासजी ने एक साहित्यिक शब्द का प्रयोग किया। मानो सुग्रीव श्रीराम से यह कहना चाहते हों—हम दोनों राजा हैं अतः हम दोनों के बीच तो राजनीतिक भाषा में ही बात होनी चाहिये। ऐसा कहने से काम नहीं चलेगा कि कोई आया है तो पूछने की क्या बात है। प्रभु ने पूछा—अच्छा, तुम्हारी क्या सम्मति है ? सुग्रीव बोले—'**भेद हमार लेन सठ आवा ।**' यह तो रावण का भेदिया है। सुग्रीव का तर्क यह है कि क्या रावण इतना बड़ा मूर्ख होगा जो अपने भाई को इस प्रकार अपना विरोधी समझने के बाद भी राज्य से निकलने दे ? रावण को चाहिये था कि उसे कारागार में डाल दे। अवश्य उसने इसे भेदिया बनाकर भेजा है जिससे यह लंका को सारे भेद भेज दे। इसीलिये इसे तो कारागार में बंदी बनाकर रखना ही उचित होगा—'**राखिअ बाँधि मोहि अस भावा ।**' प्रभु ने मुस्कुराकर कहा—मित्र, यदि वह भेद लेने आया है तो भी कोई चिन्ता नहीं। इसका अर्थ क्या है ? भगवान् राम तो चाहते ही हैं कि कोई भेद लेने आवे। भेद से वे लोग डरते हैं जिनके चरित्र में कोई दुर्बलता, कोई त्रुटि होती है। वे यह सोचकर डरते हैं कि हमारे बारे में कोई जान न ले। प्रभु कहते हैं—मित्र, मुझे भेद छिपाना होता तो अवतार ही क्यों लेता ? अवतार लेकर मैं इसीलिये आया हूँ कि लोग भेद लेने आवें तो !

रामायण में आता है, जब सुग्रीव ने विभीषण पर उपर्युक्त आरोप लगाया तो भगवान् राम बहुत हँसे। हँसकर उन्होंने हनुमानजी की ओर देखा—

बिहँसि कहत हनुमान सों · · · (गीतावली, सुं. कां., ३३)

हनुमानजी की ओर हँसकर देखने में एक रहस्य है। विभीषण को

यहाँ आने का निमंत्रण तो हनुमानजी ने ही दिया था और हनुमानजी चुप बैठे हुए हैं। उनके अंतर्द्वन्द्व को प्रभु समझ रहे हैं कि सुग्रीव की बात का खंडन हनुमान कैसे करें। हँसकर उनकी ओर देखते हैं मानो कहते हैं कि कम से कम अब तो समर्थन करो। हनुमानजी की ओर देखकर प्रभु जो हँसते हैं उनमें एक व्यंग्य भी है।

सुग्रीव विभीषण पर आरोप लगाते हैं कि यह भेष बदलकर भेद लेने के लिये आया हुआ है। प्रभु ने हनुमानजी की ओर हँसकर देखा। मतलब यह था कि हनुमान, तुम भी तो पहले दिन भेष बदलकर भेद लगाने के लिये ही मेरे पास आये थे ! और जब तुम इतने बढ़िया सेवक निकले तो मुझे विश्वास है कि यह भी भेद लेने आया होगा तो तुम्हारी ही तरह दूसरा सेवक सिद्ध होगा ! तात्पर्य यह है कि श्रीराम चाहते हैं कि लोग भेद लेने आवें। इसीलिये गुप्तचरों की उन्हें चिंता नहीं है। उनकी विजय तो हृदय की विजय है। भगवान् राम जानते हैं कि एक बार जो मेरे निकट आ जायगा, जो मेरा भेद जान जायगा वह कभी भी मेरा परित्याग नहीं कर सकेगा। यही उनकी विशेषता है। जब वे विभीषण को गले से लगाने लगे—

दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदयँ लगावा ॥
५।४५।२

—तो सुग्रीव की ओर देखा। सुग्रीव कुछ निराश थे यह सोचकर कि मैंने तो इन्हें दूसरा व्यवहार करने के लिये कहा था और ये इसे बड़ा सम्मान दे रहे हैं। प्रभु ने विभीषण को हृदय से लगाने के बाद सुग्रीव के कान में कहा—'मित्र, मैंने तो तुम्हारी आज्ञा का ही पालन किया। अगर तुमने कहा होता कि यह भेदिया है, इसे मारकर निकाल दो तो मैं संकट में पड़ जाता। पर जब तुमने कहा कि यह भेदिया है इसलिये—**राखिअ बाँधि मोहि अस भावा**—इसे बाँधकर रख लीजिये, तो अब तुम्हीं बताओ इसे बाँधकर रखने के लिये मैं कौन-सी रस्सी लाता ? मैंने सोचा कि इसे भुजा के बंधन में ही बाँध कर रख लूँ और हृदय के कारागार में कैदी बनाकर डाल दूँ। विश्वास रखो, अब यह छूटकर कहीं नहीं जायगा !' वस्तुतः श्रीराम की विजय तो हृदय की विजय है। वे अपने प्रेम पर, अपने हृदय पर विश्वास रखते हैं और उसी के कारागार में व्यक्ति को बाँधकर डाल देते हैं। वे अपनी ईश्वरता का प्रयोग

कहीं नहीं करते। अन्यथा जब शुक-सारण उनकी सेना के भीतर घुस जाते हैं तो वे अपनी ईश्वरता के बल पर बता देते कि देखो, दो गुप्तचर घुस आये हैं, उन्हें पकड़कर ले आओ। पर वे ऐसा नहीं करते, वे तो यही आशा करते हैं कि वे गुप्तचर मेरे पास आकर बदल जावेंगे, और होता भी यही है।

भगवान् राम और रावण के दर्शन में अन्तर क्या था ? रावण के यहाँ प्रबंध बड़ा सुंदर था। हनुमानजी पकड़ लिये गये, मगर जिसने पकड़ा उसी ने हनुमानजी को भीतर पैठने का आदेश दे दिया। लंकिनी ने हनुमानजी को रोका। हनुमानजी ने आश्चर्य से लंकिनी की ओर देखा, मानो पूछते हों कि क्या बात है ? उसने कहा—मैं तुम्हें खाना चाहती हूँ। हनुमानजी ने पूछा—क्या तुम भूखी हो ? लंकिनी बोली—क्या तुम समझते हो कि लंका में अकाल है ? मैं तो एक सैद्धांतिक दर्शन के नाते भोजन करती हूँ। कुछ लोग अपने हर कार्य को दार्शनिक बना लेते हैं। चाहे कोई कार्य दुर्बलतामूलक ही क्यों न हो वे उसकी बड़ी ऊँची व्याख्या करते हैं। हनुमानजी से रावण ने पूछा—फल क्यों खाये ? उन्होंने कहा—**'खायउँ फल प्रभु लागी भूखा'**—भूख लगी इसलिये खाया। इधर लंकिनी से जब हनुमानजी ने पूछा—क्यों खाना चाहती हो ? तो उसने कहा, 'नहीं, मैं भूख के कारण नहीं खाती।' 'तब ?'—**'मोर अहार जहाँ लगि चोरा'** (५।३।३)—'मैंने चोरी मिटाने का व्रत लिया है; जो चोर होता है उसे मैं खाती हूँ। तुम चोर हो इसलिये मैं तुम्हें खाऊँगी।' हनुमानजी ने सुना और मुक्का मारकर उसे गिरा दिया। वैसे, सुरसा ने भी खाने को कहा था पर उसे मुक्का नहीं मारा। तब लंकिनी को मारकर क्यों गिरा दिया ? यदि उसने भूख के कारण खाने की बात कही होती तो हनुमानजी उसे मुक्का नहीं मारते। वस्तुतः लंकिनी का दंभ पीटने योग्य है। यदि लंकिनी का व्रत चोरों का खाना ही होता तो सबसे पहले वह रावण को खाती जो सीताजी को चुराकर लाया है। हनुमानजी कहाँ चोरी का पता लगाने आये और कहाँ वह उन्हें ही खाने की सोच रही है, और जो वस्तुतः चोर है उसकी सेवा कर रही है। हनुमानजी ने कहा—'तुम्हें तो यही पता नहीं कि कौन चोर है और कौन साहूकार। तुम्हारी दृष्टि में सिंहासन पर बैठा रहने से रावण पवित्र है और मैं छोटा बनकर जा रहा हूँ इसलिये चोर

हो गया !' हनुमानजी ने प्रहार किया और लंकिनी का मस्तिष्क बदल गया। लंकिनी कहने लगी—

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥ ५।४

इसका तात्पर्य यह है कि सत्संग का प्रहार लंकिनी पर पड़ा। सत्संग केवल हमारी मान्यताओं का समर्थन नहीं करता, बल्कि वह हमारे मस्तिष्क और विचारों पर प्रहार भी करता है। हनुमानजी के मुक्के ने लंकिनी के मस्तिष्क को बदल दिया। सच्चा सत्संग वही है जो, हमारे विचार या सोचने की पद्धति में परिवर्तन लाये। लंकिनी यह मानती थी कि लंका का स्वामी रावण है और यहाँ जो भी घुसने की चेष्टा करेगा वह चोर है। पर हनुमानजी की बात समझकर उसका भ्रम उड़ गया। लंकिनी जब मुक्के के प्रहार से गिरी तो मुँह से रक्त निकला—यह सत्संग का दूसरा प्रभाव है। असली सत्संग होने पर रक्त अवश्य निकला है, पर यह रक्त नहीं ! आपने बड़े-बड़े महात्माओं के लिये सुना होगा कि वे विरक्त हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार शरीर में रक्त होता है उसी तरह मन में भी, जिसे 'राग' कहा जाता है। तो, सत्संग करते हुए देखना चाहिये कि मन में जो राग का रक्त है वह कुछ कम हुआ या नहीं, विषयों और संसार की वस्तुओं के प्रति राग कम हुआ या नहीं ? यदि राग कुछ कम हुआ तो समझ लीजिये कि सत्संग का दूसरा फल आपको मिल गया। तो, हनुमान के मुक्का-रूपी सत्संग से लंकिनी विरक्त हुई और फिर सम्हलकर खड़ी हो गई। वैसे बिना सम्हले खड़े होने पर गिरने का डर बार-बार बना रहता है—

पुनि संभारि उठी सो लंका। जोरि पानि कर बिनय ससंका ॥
५।३।५

—लंकिनी ने हाथ जोड़कर हनुमानजी से कहा—

जब रावनहि ब्रह्म बर दीन्हा ५।३।६

—आपने मुझे पुरानी बात याद दिला दी। मैं तो ब्रह्मा की सेविका थी। ब्रह्मा ने मुझसे कहा था कि पहले तुम पर देवताओं का अधिकार होगा, फिर यक्षों का, और फिर राक्षसों का। गोस्वामीजी की भाषा बड़ी प्रतीकात्मक है। 'विनय-पत्रिका' में वे कहते हैं कि लंका प्रवृत्ति-दुर्ग है—

कुणप–अभिमान सागर भयंकर घोर, बिपुल अवगाह, दुस्तर अपारं।
नक्र–रागादि–संकुल मनोरथ सकल, संग-संकल्प वीची–विकारं ॥
॥ ५८ ॥

वहीं कहते हैं—**सुप्रवृत्ति लंका–दुर्ग, रचित मन दनुज मय–रूप धारी।**

गोस्वामीजी से किसी ने पूछा—रावण कभी रहा होगा और राम ने उसका वध किया होगा। तो आज हम राम की जय क्यों बोलें, उनकी भक्ति क्यों करें? गोस्वामीजी ने कहा—इसलिए कि आज भी तुम्हारे मन में लंका विद्यमान है, आज भी रावण बना हुआ है, आज भी उसके विनाश के लिए श्रीराम की उतनी हो आवश्यकता है जितनी त्रेतायुग में थी। वे कहते हैं—जो मनुष्य की प्रवृत्ति है वही लंका-दुर्ग है। इस प्रवृत्ति रूपी लंका-दुर्ग का निर्माता कौन है? रामायण में लिखा है—मय दानव। गोस्वामीजी कहते हैं—जो मन है वही मय दानव है। आपके और हमारे मन में नई-नई सुनहली लंकाएँ नित्य बना करती हैं। सुनहली प्रवृत्ति की इन लंकाओं का निर्माता मन है। इस प्रवृत्ति पर अधिकार कभी देवता का रहता है तो कभी यक्ष का, और कभी राक्षस का। यदि सत्कर्म की प्रवृत्ति हो तो समझ लीजिये देवताओं का राज्य है। जब धन कमाने की प्रवृत्ति का उदय हो तो समझिये कि यक्षों का राज्य है। और जब दूसरों को कष्ट पहुँचाने की प्रवृत्ति का उदय हो तो समझें कि राक्षसों का राज्य आ गया। लंका की प्रवृत्ति जैसा संग पाती है वैसा अपने को प्रस्तुत करती है। लंकिनी लंका की, मूल प्रवृत्ति की स्वामिनी है। हनुमानजी से लंकिनी ने कहा कि आपके सत्संग से मुझे पुरानी, बीती बात याद आ गई। ब्रह्मा ने जब मेरा भविष्य बताया तो मैं घबरा गई और सोचने लगी कि क्या मुझ पर कभी राक्षसों का भी अधिकार होगा? यदि ऐसे व्यक्ति को जिसके मन में बुराई का उदय नहीं हुआ है, कभी यह ज्ञात हो जाये कि वह कितना बुरा हो सकता है, या कि कितनी बुरी प्रवृत्ति उसके अंतःकरण में जन्म ले सकती है तो शायद वह व्याकुल हो जायेगा। तो लंकिनी ने हनुमानजी से कहा—ब्रह्मा ने मुझे बताया कि राक्षसों का अधिकार तुम पर होगा तो, पर वह सदा नहीं रहेगा। तब मैंने ब्रह्मा से पूछा कि मैं कैसे समझूँगी कि अब रावण का विनाश होने वाला है? इस पर उन्होंने एक चिह्न बताया और कहा—

चलत बिरंचि कहा मोहि चीन्हा ।।
बिकल होसि तैं कपि कें मारे । तब जानेसु निसिचर संघारे ।।
५।३।६-७

—जब तुम पर बंदर का प्रहार होगा और तुम व्याकुल होगी तो समझ लेना कि निशाचरों का विनाश निकट आ गया है । इसका अभिप्राय क्या है ? गोस्वामीजी की बातें बड़ी दार्शनिक हैं । वे हनुमानजी के बारे में 'विनयपत्रिका' में (५८) कहते हैं कि हनुमानजी घनीभूत वैराग्य हैं —

प्रबल वैराग्य दारुण प्रभंजन-तनय ।

—तात्पर्य यह कि वैराग्य का प्रहार होने पर जब तुम शिथिल हो जाओ और शिथिल होने से राग का रक्त तुममें जब कम हो जाये तब समझ लेना कि रावण के रूप में मोह का विनाश आ गया है । यहाँ परंपरा है और साधना का क्रम भी यही है । अंतिम बात लंकिनी बड़े महत्त्व की कहती है—

तात मोर अति पुन्य बहूता । **५।३।८**

कोई पिटे तो क्या यह कहेगा कि मेरा बहुत पुण्य है जो मैं पिटा ? वह तो कहेगा कि मुझ पर बड़ा भारी अन्याय हुआ । किंतु लंकिनी को प्रतीत हुआ कि जिस घटना ने मुझे सत्य का साक्षात्कार कराया और मेरी भ्रांति को मिटाया वह पुण्यकारक ही है । अब आप देखेंगे कि जिस लंकिनी ने हनुमानजी को रोका था वही उनसे कहने लगी—

प्रबिसि नगर कीजै सब काजा । हृदयँ राखि कोसलपुर राजा ।।
५।४।१

—मैं समझ गई कि असली राजा तो वस्तुतः कोसलपुर-राजा ही हैं और नकली राजा का विनाश करना ही आपका उद्देश्य है । इसके बिना रामराज्य निर्मित ही नहीं होगा । परिणाम क्या होता है ? रावण का प्रभुत्व बाह्य प्रबंध पर है । पर बाह्य व्यवस्था चाहे जितनी सुदृढ़ हो अंत में वह टूटती ही है । प्रतिकूल समय आने पर एक बंदर के प्रहार से भी टूट जाती है । कभी तो सुदृढ़ व्यवस्था बड़े-बड़े लोगों से नहीं टूटती और कभी जब प्रतिकूल काल आता है, एक साधारण मुक्के के प्रहार से भारी

व्यवस्था कहाँ ढह जाती है, इसका पता नहीं चलता। एक ओर यह चित्र है, और दूसरी ओर ?

भगवान् राम की सेना में जो दो गुप्तचर प्रविष्ट हो गये थे वे पहले तो नहीं पकड़े गये। मगर जब उन्होंने भगवान् राम का स्वभाव देखा कि विभीषण के प्रति वे कितने उदार हैं और बंदरों के प्रति इनका कितना स्नेह है तो वे दोनों परस्पर वार्तालाप करने लगे। वे तुलना करते हुए कहने लगे कि हमारा स्वामी रावण कितना अन्यायी है और श्रीराम कितने सरल स्वभाव के हैं। तब आसपास के बंदरों को कुछ खटका-सा लगा कि ये तो रावण के दूत लगते हैं और अपने स्वामी के रूप में रावण का उल्लेख कर रहे हैं। बस, उन्हें पकड़ लिया गया। पकड़कर के राक्षस सुग्रीव के पास लाये गये। उस समय श्रीराम समुद्र के किनारे अनशन कर रहे थे। सुग्रीव ने सोचा कि श्रीराम के आने के पहले इन्हें मार भगाओ, अन्यथा पता नहीं, इनको भी कहीं का राज्य न दे बैठें। सुग्रीव ने आदेश दिया—**अंग भंग करि पठवहु निसिचर** (५।५१।३)—इन राक्षसों का अङ्ग-भङ्ग करके इनको लंका भेज दो, इनको यहाँ मत रखो क्योंकि रखना खतरनाक है। जब उन दोनों की नाक काटी जाने लगी तो उन्होंने एक बड़ी सुंदर बात कह दी—'जब तक हम लोग सही अर्थों में रावण के गुप्तचर थे तब तक तो आप पकड़ नहीं पाये और जब भगवान् राम के स्वभाव से हम लोगों का हृदय बदल गया तो आप लोग हमें दंड देते हैं यह तो ठीक नहीं है।' सुग्रीव ने कहा—'राजनीति में ये शाब्दिक बातें नहीं चलतीं। इन्हें जरूर दंड दिया जाये।' **दीन पुकारत तदपि न त्यागे** (५।५१।५)—तब उन लोगों ने कहा—**जो हमार हर नासा काना। तेहि कौसलाधीस कै आना** (५।५१।६)—'अगर आप लोगों ने हमारी नाक-कान पर प्रहार किया तो समझ लीजिये वह कोसलाधीश के व्रत पर, उनके स्वभाव पर ही प्रहार होगा। यह प्रहार उनके दर्शन के प्रतिकूल होगा।' फिर भी सुग्रीव मानने को तैयार नहीं हुए। लक्ष्मणजी दूर से दृश्य देख रहे थे। उन्होंने तुरंत बंदरों को आदेश दिया कि इन दोनों को मेरे सामने ले आओ। सुग्रीव ने सोचा कि मैंने तो नाक-कान काटने को ही कहा था, पर लक्ष्मणजी इतने कठोर हैं कि वे मृत्युदंड ही देंगे। लक्ष्मणजी ने मृत्युदंड देने की बात तो दूर, हँसकर कहा कि इन दोनों को मुक्त कर दो। साथ ही साथ उन्होंने सुग्रीव से कहा—प्रभु ने तो रावण के पास दूत भेजे पर मैं भी दूत भेजना चाहता था। उन्होंने

राक्षसों से कहा—आज तुम हमारे दूत बनकर रावण के पास जाओ। रावण के दूत यदि लक्ष्मण के दूत बन जाये तो यह एक बड़ी विजय है। यहाँ लंका की विजय नहीं, शस्त्रों की विजय नहीं, यह श्रीराम के स्वभाव की विजय है। लक्ष्मण का पत्र लेकर दोनों रावण के दरबार में जाते हैं। मैं तो कहूँगा कि श्रीराम का जितना काम लंका में हनुमानजी ने किया था उससे कहीं अधिक काम इन दोनों गुप्तचरों ने किया। हनुमानजी ने लंका में आतंक पैदा किया था। आतंक पराजय का पहला चिह्न है। शुक-सारण तो बहुत आगे बढ़ गये। रावण ने जब पूछा कि उस तपस्वी की सेना का सबसे बलवान योद्धा कौन है तो उन्होंने कहा कि सबसे बलवान का तो पता नहीं पर हाँ, सबसे निर्बल का पता है। वह कौन है ? तो बोले—

जेहिं पुर दहेउ हतेउ सुत तोरा। सकल कपिन्ह महँ तेहि बलु थोरा॥
५।५३।६

—जिसने तुम्हारा नगर जलाया वही सबसे कमजोर बंदर है। अब उस आतंक की आप कल्पना तो कीजिये कि जिसको राक्षस लोग सबसे शक्तिशाली समझ बैठे थे, गुप्तचर सूचना देते हैं कि वह सबसे निर्बल है। परिणाम क्या हुआ ? शुक-सारण श्रीराम के सच्चे दूत बन जाते हैं और यही श्रीराम की विजय है। श्रीराम जो युद्ध जीतते हैं वह अपने हृदय और प्रीति के द्वारा जीतते हैं। शस्त्र तो उस युद्ध का सबसे साधारण पक्ष है जिसे उन्होंने कभी महत्त्व नहीं दिया। भगवान् राम अनशन के बाद जब समुद्र के पास आये और हनुमानजी ने प्रभु को रावण के गुप्तचरों का सारा समाचार सुनाया तो प्रभु ने हँसकर लक्ष्मण को हृदय से लगा लिया। मानो कहा कि लक्ष्मण, आज तुम्हारी चोरी पकड़ी गई। वैसे तो तुम सदा कठोरता का स्वाँग करते हो, पर आज सिद्ध हो गया कि मेरे न रहने पर तुम वही करते हो जो मैं करता हूँ। तुमको मेरे ही आदर्शों की चिंता है। तुम अपने मत को किसी भी दृष्टि से प्रतिपादित करना नहीं चाहते। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान् राम जो संघर्ष कर रहे हैं वह शस्त्र के द्वारा रावण नामक व्यक्ति को परास्त करने का संघर्ष नहीं है। यह संघर्ष तो रावण की विचारधारा और श्रीराम की प्रीति एवं विचारों का संघर्ष है।

अंगद को राजदूत बनाने का तात्पर्य यह है कि श्रीराम के मन में विद्वेष

का सर्वथा अभाव है। यदि उन्होंने सच्चे और निश्छल हृदय से बालि के विरुद्ध शस्त्र उठाया है तो वे जानते हैं कि अंगद भी उनका विरोध नहीं करेगा। साथ-साथ यह रावण को चुनौती भी थी कि 'रावण, तुम अपने को बड़ा राजनीतिज्ञ समझते हो और मेरे दल से किसी न किसी को फोड़ना चाहते हो। देखो, तुम्हारा भाई मेरे पास चला आया और लो, मैं तुम्हारे पास अपने सबसे दुर्बल व्यक्ति को भेज रहा हूँ। इसे फोड़ सको तो फोड़ लो।' रावण ने यह समझकर कि राम को राजनीति नहीं आती, ऐसा प्रयास किया भी। उसने अंगद से पूछा—'तुम्हारा नाम क्या है?' —'अंगद।' 'किसके पुत्र हो?'—'बालि के।' रावण ने पूछा—'कहो, मेरा मित्र बालि प्रसन्न तो है?' रावण जानता है कि बालि की मृत्यु हो चुकी है पर अंगद की प्रतिहिंसात्मक भावना को उभाड़ने से लिए पूछता है कि हमारे मित्र कुशल से तो हैं। अंगद ने जो उत्तर दिया उससे रावण तिलमिला गया। अंगद ने कहा—'उनकी कुशलता का समाचार तुम्हें बहुत जल्दी मिलने वाला है। मैं भला क्या दे पाऊँगा? दस दिन बाद तो तुम स्वयं बालि के पास पहुँच जाओगे। उनसे भेंट कर कुशल-क्षेम पूछ लेना'—

दिन दस गएँ बालि पहिं जाई। बूझेहु कुसल सखा उर लाई।।

६।२०।८

—रावण ने क्रुद्ध होकर कहा—'क्या तेरा स्वाभिमान इतना नष्ट हो गया है कि पिता का वध करनेवाले की सेवा में रह कर तू अपने 'मैं' को इतना खो बैठा?' अंगद बोले—'रावण, मुझे उकसाने के लिए किसी व्यंग्यबाण की आवश्यकता नहीं है। अगर मैं राम को उस दृष्टि से देखता जिस दृष्टि से तुम देख रहे हो तो मैं यहाँ आकर तुमसे आवेश या प्रेरणा प्राप्त न करता, मैं स्वयं पिता की मृत्यु के बाद राम को चुनौती देता। मैं स्वयं लड़ता। पर मैंने अपने पिता और श्रीराम के वार्तालाप को सुना है, श्री-राम को समझा है। मैं श्रीराम को व्यक्ति नहीं मानता। अंगद रावण से कहते हैं—

सुनु सठ भेद होइ मन ताकें। श्रीरघुबीर हृदय नहिं जाकें।।

६।२०।१०

—'मैं जानना हूँ, श्रीराम प्रत्येक प्राणी की अंतरात्मा हैं, वे साक्षात्

ईश्वर हैं। और जो उनके इस रूप से परिचित नहीं है उसके मन में भेद उत्पन्न हो सकता है। मैं जानता हूँ कि वे मेरे पिता के भी उतने ही हितैषी थे जितने की सुग्रीव के। उनके अतःकरण में हितवृत्ति को छोड़ और कुछ नहीं है। मेरे पिता पर प्रहार के बाद भी प्रभु ने अमर बनने के लिये, अचल बनने के लिये उनसे अनुरोध किया। तुम क्या समझते हो कि मैं तुम्हारे उत्तेजित करने से श्रीराम के स्वरूप को भूल जाऊँगा ?' रावण की पराजय यही थी कि वह अंगद को बदल नहीं पाता, क्योंकि अंगद ने श्रीराम को पहचान लिया है इसका सीधा-सा तात्पर्य यह है कि कोई व्यक्ति यदि किसी व्यक्ति के पिता पर प्रहार करके उसका हाथ काट दे तो शायद आहत व्यक्ति का पुत्र उससे बदला लेना चाहेगा, पर यदि कोई अपने पिता को एक डाक्टर के पास ले जाये और डाक्टर उसका हाथ काट दे तो ऐसे हाथ काटने के बदले में फीस अलग से चुकानी पड़ती है। इसका अभिप्राय यह है कि डाक्टर के विषय में हमें ज्ञात है कि वह हितबुद्धि से शस्त्र का प्रयोग करता है। इसी प्रकार अंगद को पूरा विश्वास है कि श्रीराम जब शस्त्र उठाते हैं तो एक शल्य चिकित्सक की भाँति हितबुद्धि से, किसी व्यक्ति के प्रति विद्वेष से नहीं।

इस तरह भगवान् श्रीराम की लड़ाई रावण की मान्यता, उसकी विचारधारा के विरुद्ध लड़ाई है। इसका एक प्रतीकात्मक दार्शनिक विवेचन हमें रामायण में प्राप्त होता है। जब भगवान् श्रीराम रावण से संधि करने में असफल हो जाते हैं और रावण उन्हें दुर्बल मानता है तो बाध्य होकर उन्हें युद्ध करना पड़ता है और रणभूमि में रावण पर शस्त्र चलाना पड़ता है। वे रावण के सिर और भुजाओं को काट देते हैं पर रावण की मृत्यु नहीं होती। यह तो रामचरितमानस का बहुत ही गंभीर प्रसंग है। यह शाश्वत दर्शन है जो आज भी हमारे जीवन में उतना ही उपयोगी है जितना वह पहले था। भगवान् राम चकित हैं कि रावण क्यों नहीं मर रहा है लंका के युद्ध का सारा समाचार त्रिजटा सीताजी को सुनाती रहती है। सारे बड़े योद्धाओं की मृत्यु हो चुकी है। जिस दिन रावण से भगवान् राम का युद्ध हुआ, रात के समय त्रिजटा सीताजी के पास गई।

सीताजी ने उससे पूछा—युद्ध का क्या समाचार है ? तब त्रिजटा ने सीताजी से कहा—देव, राघवेंद्र रावण को मारते हैं पर उसकी मृत्यु नहीं होती। सीताजी रोने लगीं और व्याकुल होकर बोलीं—

रघुपति सर सिर कटेहुँ न मरई । बिधि बिपरीत चरित सब करई ।।
६।६८।५

—'बड़े आश्चर्य की बात है कि रावण श्रीराम का बाण लगने पर भी नहीं मर रहा है लगता है, मेरा भाग्य ही बड़ा प्रतिकूल है जो असंभव भी आज संभव दिखाई दे रहा है !' ऐसा क्यों हो रहा है ? इसका बड़ा विचित्र उत्तर है वहाँ पर। लोग ऐसे प्रसंग को जितने ध्यान से पढ़ना चाहिये नहीं पढ़ते । त्रिजटा ने कहा—'रावण की मृत्यु इसलिये नहीं हो रही है कि उसके मूल में आप हैं ।' सीताजी पूछती हैं—कैसे ? तो त्रिजटा उत्तर देती है—'जब तक भगवान् राम रावण के हृदय पर प्रहार नहीं करेंगे उसकी मृत्यु नहीं होगी ।' यही जीवन का सत्य है । रावण के सिर और उसकी भुजा पर प्रहार करने से उसको मृत्यु नहीं होगी । उसके सिर और भुजा के साथ-साथ उसके हृदय पर भी प्रहार करने से ही रावण की मृत्यु होगी । रावण मूर्तिमान मोह है, वह दुर्गुणों का एक प्रतीक है । मोह का विनाश कैसे होगा ? सिर या भुजा या अन्य कोई अंग काटने से नहीं । सिर बुद्धि और विवेक का प्रतीक है और हाथ कर्म का । समाज से अगर बुराई या दुर्गुण को विनष्ट करना हो तो उसका उपाय क्या है ? एक मान्यता यह है कि मनुष्य अगर सही-सही बात समझ ले तो विवेक द्वारा रावण की मृत्यु हो सकती है । पर रामचरितमानस की मान्यता ऐसी नहीं है । विवेक के बाणों के द्वारा रावण के सिर कटते तो हैं पर फिर से निकल आते हैं । कथा में चाहे कितने ही बाण चलें और चाहे कितनी ही बात समझ में आ जाये पर बाहर निकलते ही रावण के नये सिर निकल आते हैं । ये विचित्र सिर हैं । इतनी जल्दी कट-कटकर पैदा होते रहते हैं । लोग आश्चर्य करते हैं कि कितनी भारी संख्या में लोग कथा सुनते हैं । उनकी मुद्रा और तन्मयता से लगता है कि सब समझ रहे हैं । तो फिर क्या बात है ? विनयपत्रिका' में (११६) तुलसीदासजी कहते हैं—

सुनिय, गुनिय, समुझिय, समुझाइय, [redacted] हृदय नहिं आवै ।

—कहा जाता है, सुना जाता है और समझ भी लिया जाता है पर समस्या क्या है ? वही जो त्रिजटा ने सीताजी से कहा था कि देवी, जब तक हृदय पर प्रहार नहीं होगा, रावण पूरी तरह नहीं मिटेगा । बस

महत्त्वपूर्ण केन्द्र यही है यहो तो गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में कहते हैं कि इस माया का रहस्य समझ में नहीं आता।

रावण के सिर और भुजाएं कटी हुई हैं। लंका के समूचे रणांगण में उनका ढेर लग गया है। गोस्वामीजी एक उपमा देते हैं—'**मानहुँ अमित केतु अरु राहू।**' (६।९१।१४)—गोस्वामीजी ने इस संदर्भ में राहु और केतु का स्मरण किया। राहु का जीवन हमारे अंतर्द्वन्द्व का सबसे सच्चा चित्र है। देवता भी अमर होना चाहते हैं और दैत्य भी। अमृत भी निकला, पर वितरण भगवान् को करना है। भगवान् ने कहा—अमृत हमें दे दो, हम बाँट देते हैं। दैत्यों ने कहा—तुम पर विश्वास नहीं है। भगवान् मोहिनी का वेश बनाकर आ गये। दैत्य बोले—अमृत तो मधुर है ही, पर तुम्हारे हाथ से वितरण होगा तो मधुरता और बढ़ जायेगी। भगवान् के वास्तविक रूप पर दैत्यों का विश्वास नहीं हुआ पर मायावी रूप पर वे भरोसा कर लेते हैं। वे अमृत मोहिनी को दे देते हैं। भगवान् जब वितरण करने चले तो एक ओर देवता बैठे और दूसरी ओर दैत्य। देवता और दैत्यों के साथ तीसरा और निकल आया। वह कौन है? राहु। यह देवता है या दैत्य? था तो दैत्य, लेकिन अन्य दैत्य भगवान् को नहीं पहचान पाये जबकि यह राहु पहचान गया कि मोहिनी के रूप में भगवान् ही हैं। बड़ी पैनी दृष्टि थी उसकी। अब उसके सामने दो विकल्प थे। यदि वह जाति का प्रेमी होता तो सारे दैत्यों को सावधान कर देता कि मोहिनी के रूप से तुम छले जा रहे हो। अगर भगवान् को पहचानकर भक्त हो जाता तो भगवान् से ही धीरे से कहता कि मैं आपको पहचान गया, आप अमृत मुझे भी दीजिए। लेकिन यहाँ तो विचित्र बात होती है। राहु में ज्ञान तो है पर विश्वास नहीं; भगवान् को पहचानने की क्षमता तो है पर पहचान जाने के बाद भी उसने निर्णय किया कि यदि हम अपनी जाति को सावधान करेंगे तो कहीं उनके चक्कर में हमारा भी अमृत न छिन जाये। और हम भगवान् से कहें कि हमें भी अमृत दो तो नहीं देंगे क्योंकि हमारे विरोधी हैं। उसके मन में यह संस्कार है कि भगवान् दैत्यों के विरोधी हैं। अतः अमृत पाने के लिए उसने निर्णय किया कि हम तो देवताओं की पाँत में बिल्कुल देवता जैसे बनकर बैठेंगे। उसने देवता का रूप बना लिया और सोचने लगा कि कहाँ बैठूं। सोचा कि अगर बिल्कुल प्रारंभ में बैठ जाऊँ तो सबसे पहला जो पात्र होता है, उस पर परोसने वाले का विशेष ध्यान जाता है कि यह कौन है; तो डर लगा

कि कहीं पहचान न लिया जाऊँ। और यदि बिल्कुल अंत में बैठूँ तो शायद तब तक अमृत ही न बचे और मिले ही न। ऐसा सोच वह बीचोंबीच बैठ गया। कहा जाता है कि जहाँ पर सूर्य और चंद्रमा बैठे थे उनके मध्य में जाकर बैठ गया। बड़ा सार्थक वर्णन है। भगवान् जब मोहिनी के रूप में अमृत वितरण करते हुए आये तो राहु ने पात्र बढ़ाया और भगवान् ने अमृत बिन्दु दे दिया, वह उसने पी लिया। सूर्य और चंद्रमा पहचान गये और उन्होंने भगवान् को संकेत किया—यह क्या कर रहे हैं आप? किसको अमृत दे रहे हैं? तब कहा जाता है कि भगवान् विष्णु ने चक्र निकालकर राहु का सिर काट दिया। क्या सूर्य-चंद्रमा के बताने के पहले भगवान् नहीं पहचान पाये थे? और यदि पहचान गये थे तो अमृत क्यों दे दिया? और जब अमृत दे ही दिया तो फिर सिर काटने की क्या आवश्यकता थी?

इसका सार्थक दार्शनिक तात्पर्य यह है कि भगवान् तो सूर्य-चंद्रमा के पहले ही राहु को पहचान गये थे। पर उन्होंने अमृत यह सोचकर दे दिया कि जिसने भी मुझे पहचान लिया वह अमरत्व का अधिकारी तो हो ही गया। इतना तो उसको मिलना ही चाहिये। तब सिर क्यों काट दिया? इसलिए कि अमृत पाने के बाद अगर इसके जीवन में भक्ति होती तब तो एक रूप में जीवित होता, पर चक्र के दो टुकड़े हुए—द्वैत। द्वैत माने जिसका सिर अलग चले और धड़ अलग। समझे कुछ और करे कुछ। यही राहु-वृत्ति है। यही राहु का दर्शन और जीवन है। उसका धड़—केतु—प्रकाशित होकर अलग भागता है जिसे देखकर लोग कहते हैं पुच्छलतारा निकल आया। कहते हैं, जब भी यह निकलता है, संसार में कोई संकट आता है। सुंदर व्यंग्य है कि ऐसे लोग अमर होकर जब प्रकाशित हों तो संसार के लिए संकट ही लाते हैं। इनका प्रकाश सूर्य-चंद्रमा के समान कोई नियमित तो है नहीं, ये केवल आतंक की सृष्टि करने के लिए चमकते हैं।

दूसरे भाग—सिर—ने राहु के रूप में नियम ले लिया कि हम चमक तो नहीं सकेंगे पर चमकने वाले को अवश्य अँधेरे में डालेंगे। तो, जो राहु-केतु की भाँति देवासुर प्रवृत्ति के व्यक्ति होते हैं उनका ऐसा ही चित्र है। इसका अभिप्राय यह है कि उनका जीवन बँटा हुआ होता है। रावण का भी जीवन ऐसा ही है—सिर अलग पड़ा हुआ है और धड़ अलग। रावण भी तो इसी प्रकार की प्रवृत्ति का व्यक्ति था। पहले ही उसने

पहचान लिया कि ये ईश्वर हैं लेकिन बोल उठा—होइहि भजनु न तामस देहा (३।२२।५)—होंगे भगवान्, पर भई, इस शरीर से तो भजन-वजन होने वाला नहीं। उसके समझने और करने में भेद है। एक ओर उसका मस्तक है और दूसरी ओर भुजा। उसकी भुजाओं पर भगवान् राम बीस बाणों का प्रहार करते हैं और उसके सिर पर दस बाणों का। पर बीस बाण मारने पर भी भुजाएँ क्या कटती हैं? आप किसी से अच्छे कर्म करने को कहिये; लगता है, रावण की भुजा कट गई। किसी असत् विचार पर प्रहार करें; लगता है, असत् विचार मिट गये। किंतु कितनी देर के लिये? कुछ ही क्षण बाद उनमें फिर से जीवन-संचार हो जाता है।

त्रिजटा कहती है कि जब तक श्रीराम हृदय पर प्रहार नहीं करेंगे तब तक रावण की मृत्यु नहीं होगी। तो श्रीराम उसके हृदय पर प्रहार क्यों नहीं कर देते? उनके पास क्या केवल तीस ही बाण हैं? इकतीसवाँ बाण भी तो होगा। त्रिजटा कहती है—देवी, समस्या यह है कि श्रीराम रावण पर प्रहार करते हुए डरते हैं कि रावण के साथ-साथ कहीं संसार न मिट जाये! यही जीवन का सत्य है। प्रत्येक दुर्गुण के मिटाने के साथ यह समस्या है कि दुनिया न मिट जाये। जैसे, काम को लीजिए। उसे मिटा दीजिए। सबसे बड़ी बुराई मिट गई। पर काम मिट गया तो सृष्टि का विस्तार भी नहीं होगा और सृष्टि का विनाश हो जावेगा। हर जगह वही समस्या है। रावण की मृत्यु तो हो पर संसार की मृत्यु न हो। दुर्गुण की मृत्यु तो हो पर सृष्टि की मृत्यु न हो। फिर, प्रत्येक दुर्गुण के साथ एक समस्या और जुड़ी हुई है। वह यह कि दुर्गुण भी तो मूलतः सद्गुण है। इसका विश्लेषण मैं पहले इस रूप में आपके सामने कर चुका हूँ कि रावण में भी प्रकाश है। करना ऐसा है कि रावण की मृत्यु तो हो जाये पर उसके साथ विश्व की मृत्यु न हो पावे। त्रिजटा सीताजी से कहती है कि रावण निरंतर हृदय में आपका चिंतन करता रहता है। इस संदर्भ में हम कह चुके हैं कि रावण शक्ति का पुजारी है, और जितने भौतिक-वादी होते हैं उनकी समस्या यही होती है कि शक्ति को तो मानते हैं पर ईश्वर को स्वीकार नहीं करते। रावण निरंतर शक्ति का चिंतन करता है और शक्ति के द्वारा उसने अनंत क्षमताएँ प्राप्त की हैं। भौतिक विज्ञान भी पदार्थों से शक्ति को प्रकट करता है। आज उसका चमत्कार जग-जाहिर है। पर एक सीमा पर भौतिक विज्ञान रुक जाता है, और रावण यहीं रुक गया। त्रिजटा कहती है कि रावण निरंतर आपका ध्यान करता

है, पर रावण कभी यह नहीं सोचता कि आप किसका ध्यान कर रही हैं। इसका अर्थ क्या हुआ ? यही कि हम एक प्रश्न पर आकर खड़े हो जाते हैं कि शक्ति किसकी है ? जो उसे प्रकट करता है उसकी, अथवा शक्ति का स्वामी कोई और है ? अगर रावण सीताजी का ध्यान करने के साथ-साथ यह ही विचार करता है कि सीताजी किसका ध्यान करती हैं तो शायद रावण भक्त हो जाता। त्रिजटा कहती है, श्रीराम की समस्या यह है कि—

एहि के हृदयँ बस जानकी जानकी उर मम बास है।
मम उदर भुअन अनेक लागत बान सब कर नास है॥ ६।९८-छं०

—'रावण सीताजी का चिंतन करता है, सीताजी मेरा ध्यान करती हैं, मेरे हृदय में सारा संसार है; अगर मैं रावण पर प्रहार करूँगा तो संसार ही मिट जायेगा। अब मैं क्या करूँ ?' इस पर सीता ने त्रिजटा से कहा —तब तो इसका अर्थ यह हुआ कि रावण की मृत्यु कभी होगी ही नहीं। त्रिजटा ने कहा—होगी। कब ? जब—**काटत सिर होइहि बिकल छुटि जाइहि तव ध्यान।** (६।९९)—रावण के ध्यान का संबंध आपसे विच्छिन्न हो जावेगा तब। बड़े पते की बात है। जब एक बार किसी ने शक्ति प्रकट कर ली है तो जब तक शक्ति की क्षमता उसे उपलब्ध है, उसका विनाश कैसे होगा ? जब तक शक्ति की प्रक्रिया से उसको विच्छिन्न नहीं किया जायेगा तब तक किसी प्रकार उसका विनाश नहीं होगा। त्रिजटा ने कहा—'श्रीराम उस क्षण की प्रतीक्षा कर रहे हैं जब रावण बौखला-कर आपके चिंतन से अपने को विलग कर ले और उसी समय वे रावण की छाती पर बाण का प्रहार करेंगे और रावण की मृत्यु हो जायेगी। आप चिंता न कीजिये।' और इस प्रकार भगवान् श्रीराम ने रावण का वध किया। इसका अर्थ यह है कि तीस बाणों के साथ-साथ कर्म में परि-परिवर्तन आना चाहिये। साथ ही विचार भी परिवर्तित होने चाहिये पर कर्म और विचार इन दोनों का मूल केन्द्र है हृदय। जब तक मनुष्य का हृदय नहीं बदल जाता तब तक कितनो भी बुद्धिमत्ता की बात वह कह ले, सुन ले, समझ ले और चाहे कुछ अच्छे कर्मों का दिखावा भी कर ले, पर पूरी तरह से रावणत्व का विनाश नहीं होता।

रावणत्व के विनाश के लिए यही अपेक्षा है कि जिन्हें हम दुर्गुण कहते हैं उन्हें उनके शक्ति-पक्ष से अलग कर दें। रामायण में इसका संकेत आता

है। शंकरजी ने काम को जला दिया। शंकरजी के सामने काम आया, उन्होंने तीसरी आँख खोल दी—

तब सिवँ तीसर नयन उघारा। चितवत कामु भयउ जरि छारा ॥
१।८६।६

जब काम जल गया तो सबसे अधिक प्रसन्नता किसको हुई ? विचित्र बात है कि या तो योगियों को प्रसन्नता हुई या फिर राक्षसों को। यह तुलसीदासजी का दर्शन है, केवल घटनाक्रम नहीं। योगी इसलिये प्रसन्न हुए कि काम की बाधा मिट गई। और दैत्य क्यों प्रसन्न हुए ? इसलिये कि तारकासुर से ब्रह्मा ने पूछा--तुम क्या चाहते हो ? दैत्य ने कहा—अमरता ! 'अमरता संभव नहीं।' तो दैत्य ने कहा--फिर यही वरदान दीजिये कि शंकरजी के विवाह-संबंध के बाद जो पुत्र उत्पन्न हो उससे मेरी मृत्यु हो। तारकासुर का गणित क्या था ? विवाह तो व्यक्ति अपने अभाव की पूर्ति के लिये करता है। शंकरजी हैं पूर्ण। पूर्ण में कोई वासना हो नहीं सकती। अतः न शंकरजी विवाह करेंगे, न उनके बेटा होगा, न मैं मरूँगा। बड़ा विचित्र गणित था उसका और इसी गणित से उसने वरदान माँगा। इसका अर्थ यह है कि निष्कामता बहुत अच्छी भी है और बहुत घातक भी। निष्कामता से योगियों को तो सुख मिलेगा, मगर शंकर जैसे समर्थों की निष्कामता से दैत्यों को बड़ी सुविधा मिल जायेगी। बुरे लोग अगर सकाम बनें और अच्छे लोग निष्काम बन जायें, तब तो बुरे लोग ही सर्वत्र अधिकार कर लेंगे। तारकासुर शंकरजी के स्वभाव को जानता है कि वे आत्मलीन हैं, वे न बाहर देखेंगे, न विवाह करेंगे, न मैं मरूँगा। तब बड़ी समस्या आ गई। देवता शंकरजी से बोले—महाराज, आप विश्व को मिटाने पर तुले हुए हैं क्या ?—

समुझि कामसुखु सोचहिं भोगी। भए अकंटक साधक जोगी ॥
१।८६।८

—योगी अकंटक हो गये, साधक निष्कंटक हो गये। संसार के मिटने की समस्या आ गई। इसलिये अंत में शंकरजी से प्रार्थना की गई। ब्रह्मा जी ने कहा—महाराज, हम आपकी प्रशंसा इसलिये नहीं करते कि आपने काम को जला दिया—

कामु जारि रति कहुँ बरु दीन्हा। कृपासिंधु यह अति भल कीन्हा।।
१।८८।२

—बल्कि इसलिये करते हैं कि आपने काम को जलाकर रति को वरदान दे दिया। यह आपने बड़ा अच्छा किया। इसका अर्थ यह है कि काम को किसी न किसी रूप में समाज में जीवित रखना ही है। शरीर के विनाश के साथ देहमूलक काम का भले ही विनाश हो जाये, पर मनुष्य में लोक-कल्याण की भी तो एक कामना होती है। उस कामना की वृत्ति को विद्यमान रहना चाहिये। इसीलिये ब्रह्मा शंकरजी से कहते हैं— महाराज, आपको अपने लिये विवाह की आवश्यकता नहीं है पर आपके विवाह की आवश्यकता हम लोगों को है। इसीलिये तो नारदजी ने भगवान् को बड़ी उलाहना दी थी कि महाराज, यह भी कोई न्याय है, जो विवाह करना चाहे उसे आप न करने दें और जो न करना चाहे उसका करा दें ? शंकरजी विवाह नहीं करना चाहते थे तो आपने उनको बाध्य किया, और मैं विवाह करना चाहता था तो आपने मुझे रोक दिया। यह तो विचित्र बात है। तब भगवान् ने हँसकर कहा था—

मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी।।
३।४२।८

—शंकरजी ज्ञानी हैं, वे मेरे बड़े बालक हैं और तुम मेरे छोटे बालक हो। एक मीठा व्यंग्य है। घर में अगर बड़ा लड़का विवाह न करना चाहे तो माता-पिता बाध्य करते हैं कि करो और नन्हा बच्चा यदि कहे कि मेरा विवाह करा दो तो माता-पिता उसका विवाह थोड़े ही करा देते हैं। प्रभु हँसकर बोले—देखो, शंकर के विवाह की आवश्यकता लोक-कल्याण के लिये थी। पर जब तुमने विवाह का हठ किया तो मैं समझ गया कि तुम बिल्कुल बच्चे हो। बच्चे विवाह के लिये बड़े आतुर रहते हैं। उन बेचारों को पता ही क्या कि विवाह क्या होता है। उनसे पूछिये कि विवाह किससे करोगे तो शायद घर की किसी कन्या का नाम ले दें या पड़ोस की किसी लड़की का नाम बता दें। उन बेचारों को ज्ञात नहीं कि किससे विवाह होता है और किससे नहीं। इसी प्रकार, नारदजी से भगवान् हँसी करते हैं और कहते हैं—नारद, जब तुमने मेरी माया से विवाह करने की इच्छा प्रकट कर दी तभी मैं समझ गया कि

तुम बच्चे हो। इसका अंतत: अर्थ यही है कि निष्काम शंकर लोक-कल्याण के लिये सकामता स्वीकार करते हैं।

रावण में सद्वृत्ति है या नहीं ? उसमें प्रकाश है या नहीं ? लिखा है कि जब भगवान् राम के इकतीसवें बाण से उसकी मृत्यु हुई तो उसके मुख से तेज निकलकर प्रभु में समा गया—

तासु तेज समान प्रभु आनन। हरषे देखि संभु चतुरानन ॥
६।१०२।६

इस प्रकार सब लोगों ने देखा कि भगवान् राम ने जो युद्ध किया उसका उद्देश्य तेजांश का विनाश करना नहीं था—उसे तो ईश्वर में विलीन कर दिया गया; हाँ, जो असद् अंश था उसका विनाश किया गया। इस तरह भगवान् श्रीराम ने रावणत्व की विचारधारा के विरुद्ध एक महान् संघर्ष किया। वह युद्ध जीवन के हर क्षेत्र में लड़ा गया। अयोध्या में रामराज्य की स्थापना नहीं हो पाई इसकी चर्चा मैंने पहले की है। रामराज्य का अर्थ सिंहासन पर बैठकर राज्य करना नहीं है। वह तो हृदय और विचारधारा का परिवर्तन है। इसी कार्य को भगवान् राम और श्रीभरत ने मिलकर पूरा किया। ये चौदह वर्ष क्या हैं ? दशरथ-राज्य और रामराज्य के बीच में एक और राज्य की आवश्यकता है। जब तक वह राज्य नहीं बनेगा तब तक रामराज्य भी नहीं बन पायेगा। दशरथजी की भूल यही थी कि वे समझते थे, मेरे बाद रामराज्य बन जायेगा। पर दशरथ-राज्य और रामराज्य के बीच में और एक राज्य है—वह है भरत-राज्य। भरत-राज्य का अनोखापन क्या है ? इसे भरत-राज्य कहें या न कहें ? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, और इस प्रश्न का उत्तर ही रामराज्य का मूल आधार है।

भगवान् राम अपने छोटे भाई के लिये राज्य का परित्याग करके चले जाते हैं। भगवान् राम एक नया दर्शन, एक नई विचारधारा देते हैं। अधिकांश लोग यह मानते हैं कि व्यक्ति अपने कर्मों का परिणाम भोगता है। भगवान् राम यह मानते हैं कि जब तक व्यक्ति दूसरों के कर्मों का फल स्वयं भोगने को तैयार नहीं होगा तब तक रामराज्य नहीं बनेगा। यहाँ श्रीराम के चित्र का जो वर्णन किया गया है उसे भवभूति के शब्दों में देखिये। भवभूति ने तो कहा कि 'दुख की संवेदना ही राम हैं। तुलसीदासजी ने भी इसका संकेत किया। भगवान् राम ने

क्या किया ? अवतार लेते ही भगवान् राम से कौसल्याजी ने कहा—**'कीजै सिसु लीला**। ईश्वर को रोने का पाठ मिला और उसने रोना प्रारंभ किया। तुलसीदासजी कहते हैं—**'सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना'**—ईश्वर ने रोने का व्रत ले लिया। तुलसीदासजी से किसी ने पूछा—भगवान् रो रहे हैं तो हमें क्या करना चाहिये ? सहानुभूति में क्या हमें भी अश्रु बहाना चाहिये ? तुलसीदासजी ने कहा—**यह चरित जे गावहिं'**—भगवान् रो रहे हैं तो आइये, हम लोग गाना प्रारंभ कर दें। यह प्रसंग तो गाने योग्य है। भला वे रोवें तो हम गावें क्यों ? तुलसीदास जी ने कहा—ईश्वर के पास स्वयं के आँसू कहाँ थे ? वह तो हम लोगों के आँसू लेकर. हमारे आँसू पोंछने के लिये रो रहा है। इसलिये आज से हम लोग निश्चित हो जायें कि जब ईश्वर ने हमारी आँखों के आँसू ले लिये तो हम तो गावेंगे, अब हमारे बदले ईश्वर रोयेगा। किसी ने तब तुलसीदासजी से कहा—आप कहते हैं कि श्रीराम ईश्वर हैं। यानी, ईश्वर तो अब मनुष्य हो गया। तो ईश्वर का पद क्या रिक्त नहीं है ? तुलसीदासजी ने कहा—कोई पद यदि खाली होता है तो खाली थोड़े ही रखा जाता है, वह दूसरे को दे दिया जाता है अब देख लो, बड़ा सुन्दर पद खाली है। ईश्वर बन गया है मनुष्य, तो हम लोग क्या करें ?—**ये चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं**—उस रिक्त हरिपद को गाकर प्राप्त कर लें; हरि बन गये नर तो अब हम लोग बन जायें हरि। यही अवतारवाद है। हरि नर बन कर आये नर को हरि बनाने के लिये। मानो कहा, जरा आसन बदल लें। हम बहुत दिन ईश्वर रहे और तुम मनुष्य। अब तुम जरा ईश्वर बन जाओ और हम मनुष्य बन लें।

यदि श्रीराम के मनुष्य बनने का आनंद हम लोग नहीं ले पायें तो उनके मनुष्य बनने की सार्थकता फिर कहाँ रही ? उनकी आँखों के आँसू संसार के जीवों के लिये गिरे। जब वे मुस्कुरा रहे थे तो केवल कौसल्याजी ने देखा, केवल उन्होंने उनके मुस्कुरान का आनंद लिया। जब रोये तो—

सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी। संभ्रम चलि आइं सब रानी॥
हरषित जहँ तहँ धाइं दासी। आनँद मगन सकल पुरबासी॥

१।१९२।१-२

—इतने उच्च स्वर में रोये कि न जाने कहाँ तक उनके रुदन का स्वर पहुँचा। सब दौड़े हुए अयोध्या के प्रांगण में आ गये। ईश्वर को संतोष हुआ कि मेरे रोने से लोगों को सुख मिला। उसने निश्चय कर लिया कि यदि मेरे रोने से लोगों को आनंद मिला तो मैं जीवनभर रोना स्वीकार कर लूँगा। श्रीराम ने जीवन में दुख ही दुख तो स्वीकार किया। समाज ने उन्हें दुख छोड़ और क्या दिया ? आदि से लेकर अंत तक लोगों ने जो उनके प्रति-व्यवहार किया उसमें दुख और पीड़ा ही तो भरी हुई है। श्रीराम आँखों में आँसू स्वीकार करते हैं। जब जनकपुर गये तब भी आँखों में आँसू हैं। उनका मस्तक बड़ा सुंदर है भाल विशाल है, उसमें केसर का चंदन लगा हुआ है—**'भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाए'** —प्रभु के माथे पर श्रमबिंदु हैं। पसीने की बूँदे जिसे नहीं दिखाई देती वह शायद श्रीराम के अवतार के उद्देश्य को नहीं समझ पावेगा। भगवान् राम वन जाने लगे। उन्होंने सीताजी से कहा, मेरे साथ मत चलो, तुम थक जाओगी, वन में पैदल चलना होगा, वन का पथ बड़ा कठिन है।' सीताजी ने भगवान् राम की ओर देखा और कहा, 'प्रभो, मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि मैं नहीं थकूँगी।' 'इतनी लम्बी यात्रा में नहीं थकोगी ?' सीताजी ने एक बात की याद दिला दी कि थकान क्यों नहीं आवेगी। उन्होंने कहा—

श्रम कन सहित स्याम तनु देखें। कहँ दुख समउ प्रानपति पेखें॥
२।६६।४

—'प्रियतम, जब वनपथ में चलते हुए आपके माथे पर मैं श्रमबिंदु देखूँगी तो मुझे दुख कहाँ बल्कि सुख मिलेगा।' श्रीराम के माथे पर श्रमबिंदु का दर्शन सबसे पहले सीताजी ने किया था। जब पहली बार सीताजी ने भगवान् राम को पुष्पवाटिका में लताकुंज से प्रकट होते देखा था तो उनके मस्तक पर क्या था ?—**'भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाए'**—श्री सीताजी ने वही झाँकी मन में बसा ली। सीताजी ने कहा, 'मुझे वह झाँकी इतनी प्रिय लगी कि मैं उसी का ध्यान करती हूँ पर महाराज, आप तो बाद में ऐसे बदले कि कभी आपके माथे पर श्रमबिंदु आये ही नहीं।' बड़े अनोखे हैं राम—एक दिन पहले फूल तोड़ा और दूसरे दिन धनुष। यह विरोधाभास है चरित्र का। जहाँ फूल में कोमलता की सीमा है वहाँ धनुष में कठोरता की। विचित्र व्यंग्य है कि फूल

तोड़ने में तो पसीना आ गया पर धनुष तोड़ने में कोई श्रम ही नहीं हुआ ! धनुष कैसे तोड़ते हैं ?

लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े । काहुँ न लखा देख सबु ठाढ़े । :१।२६०।७

—श्रीराम के ये दो चित्र हैं; शंकर का धनुष तोड़ने में उन्हें श्रम की अनुभूति नहीं होती, पर जनक की वाटिका में पुष्प चुनते समय उनका मस्तक श्रमबिन्दुओं से सुशोभित हो जाता है । सीताजी ने कहा, वनपथ पर चलते हुए आपके माथे पर श्रमबिंदु आयेंगे, इसका मुझे पूरा विश्वास है । उसे देखकर मुझे वन, वन नहीं लगेगा; मुझे तो यही लगेगा कि आप पुष्पवाटिका में खड़े हैं और मैं आप का ध्यान कर रही हूँ ।' सीताजी ने तीन बातें कहीं—

नहिं मग श्रमु भ्रमु दुख मन मोरें । मोहि लगि सोचु करिअ जनि भोरें ।।
२।६८।२

—मार्ग की तीन समस्याएँ हैं—श्रम, भ्रम और दुख । चलने में शारीरिक श्रम होता है; बुद्धि में भ्रम हो जाता है कि इतनी देर से चल रहे हैं तो सही रास्ते पर हैं या नहीं; और लक्ष्य तक न पहुँचे तो मन में दुख होता है । मन में दुख, बुद्धि में भ्रम और शरीर में श्रम । श्री सीताजी ने कहा, 'प्रभो, आपके साथ चलते हुए इन तीनों समस्याओं का समाधान हो जाता है । भ्रम उसे होता है जिसके सामने यह प्रश्न हो कि मार्ग सही है या नहीं । पर जो आपके पीछे चल रहा है उसे भ्रम कहाँ से हो ? आप जिधर चल रहे हैं वह मार्ग गलत हो ही नहीं सकता, इसलिये भ्रम की कोई समस्या नहीं है । आपको निरंतर देखूँगी तो दुख की कोई समस्या नहीं है । प्रभो, आपने अवतार लिया है दूसरों का श्रम दूर करने के लिये । चलते तो आप हैं, पर जीव व्यर्थ ही अपने को कर्ता मानकर श्रम को स्वीकार कर लेता है । जब आप चलेंगे तो श्रमित आप होंगे, मैं क्यों श्रमित होऊँगी ? इसलिए मुझे श्रम की कोई समस्या सताने वाली नहीं है ।' तो, भगवान् राम जीवों का दुख हरने के लिये आँखों में आँसू और माथे पर श्रमबिंदु स्वीकार करते हैं ।

आपने भगवान् राम की वनयात्रा में देखा होगा कि वन में नंगे पैर गये । जब अयोध्या में थे तो चरण में पादत्राण था । जन चौदह वर्ष तक वन में चले तो उनके सुकुमार चरण काटों से ऐसे छिद गये कि

वेदों ने जब उन्हें सिंहासन पर बैठे देखा तो स्तुति करते हुए उनसे कहा —प्रभो, आप कितने उदार हैं—

ध्वज कुलिस अंकुस कंज जुत बन फिरत कंटक किन लहे।
पद कंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे॥ ७।१२।४

—आपका सारा चरण काँटों से विद्ध है। इसका अर्थ क्या है? यही कि श्री राम अपने चरणों में काँटे स्वीकार करते हैं, आँखों में आँसू और मस्तक पर श्रमबिन्दु। पसीना श्रम का प्रतीक है, आँसू दुख का और काँटा विघ्न का। भगवान् राम ने निर्णय किया—मैं आगे चलूँगा, सीता और लक्ष्मण पीछे रहेंगे। तुलसीदासजी ने भगवान् राम के चरणों में तो काँटे लगने का वर्णन किया पर कहीं भी उन्होंने सीताजी या लक्ष्मण के चरणों में काँटे लगने की बात नहीं कही। मानो प्रभु ने इसीलिये आगे चलना स्वीकार किया कि मेरे पीछे चलने वालों के चरणों में जो काँटा आने-वाला होगा उसे मैं अपने चरणों में ले लूँ, जिससे कोई विघ्न हमारे पीछे चलनेवालों को न हो। उनके अवतार का उद्देश्य ही यही है कि वे विघ्नों को अपने आपमें ले लेते हैं, अपने चरणों में धारण कर लेते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—लक्ष्मण जल लेने के लिये गये तो प्रभु वृक्ष के नीचे बैठ गये और सीताजी को विश्राम लेने में संकोच न हो इसलिये उन्होंने एक काँटा ले लिया और उस काँटे से अपने चरणों का काँटा निकालने लगे। पर काँटा निकालने में विलंब लग रहा था। तुलसीदास-जी 'कवितावली' में कहते हैं—**बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े** (अयो०-१२)। प्रभु ने कहा—'पता नहीं क्या बात है, काँटा जल्दी निकल ही नहीं रहा है।' सीताजी ने मुस्कराकर कहा—'निकल ही नहीं रहा है कि निकाल ही नहीं रहे हैं। आप निकालना चाहें और न निकले ऐसा कभी हो सकता है? मुझे तो संदेह हो रहा है कि यह न्याय और कृपा का संघर्ष है। न्यायवृत्ति कहती है कि काँटे को निकाल फेंको और कृपावृत्ति कहती है कि जो चरणों में आ गया उसे रहने दो। इसी द्वंद्व में संभवतः विलंब हो रहा है! वस्तुतः विलंब आपके लिये कहाँ है? आप अपने चरणाश्रित का त्याग नहीं करते। आप कृपा को ही विजयी बनाते हैं। इसीलिये शायद काँटा कभी नहीं निकला!' वेदों ने भी देखा तो चरणों में काँटा लगा हुआ है। जनकपुर में गये तो श्रमबिंदु स्वीकार किया। अयोध्या में अवतार लिया तो आँसू स्वीकार किया। चित्रकूट की ओर

चले तो वन में काँटे स्वीकार किये। अब एक नगर रह गया लंका। वहाँ गये तो सबसे भीषण वस्तु झेलनी पड़ी। जिस समय रावण लड़ने के लिये आया और उसकी दृष्टि विभीषण की ओर पड़ी, उसने क्रोध में भरकर सोचा कि राम से हम बाद में लड़ेंगे, पहले इस घरभेदिये को समाप्त कर दें। उसने विभीषण को मारने के लिये एक शक्तिशाली बाण छोड़ा जो काल का ही मूर्तिमान रूप था। **'चली बिभीषन सन्मुख मनहुँ काल कर दंड'** (६।९३)—जैसे काल ही शरीर धारण करके चल रहा हो इस प्रकार वह बाण चला। भगवान् राम ने जब यह बाण देखा तो उन्होंने तुरंत विभीषण को **'पाछे मेला'** विभीषण को पीछे ढकेल दिया तथा उस महान् शक्तिशाली बाण को अपनी छाती पर झेल लिया। वे गिर पड़े और मूर्छित हो गये। श्री राम चाहते तो उस बाण को काट भी सकते थे। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। क्यों ? क्या वे यह दिखाना चाहते थे कि मैं कितना उदार हूँ—नहीं। तब ? ज्योंही भगवान् गिर पड़े, विभीषण गदा लेकर रावण से लड़ने चल पड़े। भगवान् तो मूर्छा का अभिनय कर रहे थे। उन्होंने कहा—'मित्र, जब तुमने रावण के विरुद्ध गदा उठा ली तो रावण की मृत्यु अवश्य होगी। मैं तो समझा था कि तुम अपने को इतना दुर्बल मान बैठे हो कि रावण से लड़ नहीं सकते।' इस प्रकार श्रीराम ने विभीषण की ओर आ रहा बाण अपनी छाती पर झेल लिया—जीवन में मोह के विरुद्ध संघर्ष करने की जो क्षमता है उसे जगाने के लिये।

तो, श्रीराम का हृदय बाणों से भिदा है, उनके चरण काँटों से छिदे हैं, उनके नेत्र आँसुओं से भरे हैं, उनका मस्तक श्रमबिंदुओं से शोभायमान है। उनका यह रूप जीवन को बताता है कि मैं तुम्हारी मृत्यु, तुम्हारा विघ्न, तुम्हारा दुख और तुम्हारा श्रम लेने के लिये आया हूँ। अगर मुझे यह भेंट देने में भी मतुकृपणता करते हो तो मैं क्या करूँ ? यही भगवान् का पूरा चरित्र है।

वनयात्रा में श्रीराम सभी का दुख हरते हैं। तुलसीदासजी ने रामराज्य की व्याख्या करते हुए कहा—

रामराज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥ ७।२१

—रामराज्य में न तो किसी व्यक्ति को काल का दुख था, न कर्म का, न स्वभाव का, न गुण का। यह सब आखिर चला कहाँ गया ? इसका एक

ही उत्तर है—काल, कर्म और स्वभाव के इन दुखों को भगवान् राम के सारे परिवार ने झेल लिया और अपना आनंद सारे संसार को बाँट दिया। यही रामराज्य है। जब दूसरों का दुख लेकर अपने आनंद के वितरण की चेष्टा की जाये तब भगवान् राम के दर्शन का ठीक-ठीक पालन होता है। तभी तो भगवान् राम ने चित्रकूट में भरत से कहा—'भरत, हम दोनों भाई हैं, हम दोनों में बँटवारा होगा, हम दोनों अलग-अलग हो गये हैं, विधाता ने हमें अलग-अलग कर दिया है।' क्या सुंदर बात प्रभु ने कही। बोले, 'भरत, संसार में भाइयों में संपत्ति का बँटवारा होता है पर हमारे-तुम्हारे बीच संपति का बँटवारा नहीं होगा। संसार को संपत्ति लेने दो पर हमारे और तुम्हारे बीच तो विपत्ति का बँटवारा हो सकता है। **'बाँटी बिपति सबहिं मोहि भाई** (२।३०५।६)—'तुम्हारे हिस्से में मैं विपत्ति अधिक दूँगा, अपने हिस्से में कम लूगा। पर हम दोनों को विपत्ति ही लेनी पड़ेगी।' यही दर्शन है। भगवान् राम की वनयात्रा और श्रीभरत का चौदह वर्षों का विचित्र राज्य ही रामराज्य की नींव है। भगवान् राम के राज्य की यही दृढ़ आधारशिला है। इसका तात्पर्य क्या है ? भगवान् श्रीराम गये हुए थे रामराज्य का विस्तार करने—रामराज्य का श्रीगणेश नगर से नहीं, वन से हुआ। सर्वप्रथम चित्रकूट में रामराज्य बना, अयोध्या में नहीं। श्री भरत जब चित्रकूट में जाते हैं तो देखते हैं कि वहाँ रामराज्य बन चुका है। रामराज्य के मूल सूत्र को व्यक्त करते हुए वहाँ पर तुलसीदासजी लिखते हैं—

जीति मोह महिपालु दल सहित बिबेक भुआलु।
करत अकंटक राजु पुर सुख संपदा सुकालु॥ २।२३५

श्री भरतजी ने देखा—

ईति भीति जनु प्रजा दुखारी। त्रिबिध ताप पीड़ित ग्रह मारी॥
जाइ सुराज सुदेस सुखारी। होहिं भरत गति तेहि अनुहारी॥
राम बास बन संपति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा॥
२।२३४।३-५

गोस्वामीजी कहते हैं—चित्रकूट में मोह का विनाश हो चुका है, विवेक का राज्य है, शांति और सुमति वहाँ की रानी है। यही रामराज्य का वह विस्तार है जो आगे चलकर प्रकट होने वाला है। मानो दोनों भाइयों

ने बँटवारा कर लिया है। दोनों लड़ाई लड़ने जा रहे हैं। एक का युद्ध लंका में है तो दूसरे की लड़ाई अयोध्या में ही है। भगवान् राम की लड़ाई तो दिखाई भी देती है, पर श्री भरत का युद्ध दिखाई नहीं देता।

जिस समय भगवान् राम वन चले गये, एक मार्ग निकाला गुरु वसिष्ठ ने। वे बोले—'भरत, तुम क्यों नहीं चौदह बरस के लिए राज्य ले लेते? जब राम आवें तो लौटा देना।' सीधा-सा प्रस्ताव था, मंत्रियों ने भी उसका समर्थन किया। कौसल्याजी ने अनुमोदन किया। किंतु श्री भरत ने स्वीकार नहीं किया। एक सज्जन कहने लगे कि अंत में स्वीकार किया ही, तो पहले ही वसिष्ठजी का प्रस्ताव क्या बुरा था? नहीं, वह तो मूल में ही बुरा था। भरतजी प्रारंभ वहाँ से नहीं करते हैं, जहाँ स्वार्थ होता है। धर्म का श्रीगणेश जब वहाँ से होगा जहाँ व्यक्ति का स्वार्थ होगा, तो धर्म कभी भी धर्म नहीं रहेगा। हम लोगों का स्वभाव ही यह है कि धर्म का नाम तब लेते हैं जब अपने ऊपर कोई समस्या आ जाये। इस प्रकार से धर्म की दुहाई तो रावण भी देता है। रावण भी कहता है भगवान् राम से—'**हतो ब्याध इव बालि बिचारा।**'—तुम कितने अधार्मिक हो, कितने अन्यायी हो कि बालि को तुमने छिपकर मारा! रावण को लगता है कि यह अधर्म है। स्वयं साधु का वेष बनाकर छलपूर्वक सीताजी का हरण करने में उसे कहीं अधर्म नहीं दिखाई दिया। पर अपने प्रसंग में बालि की स्मृति आती है। ऐसे धर्म से काम नहीं बना करता।

धर्म का श्रीगणेश कहाँ से हो? गुरु वसिष्ठ कहते हैं—भरत, तुमको राज्य मिला है, तुम ले लो—

रायँ राजपदु तुम्ह कहुँ दीन्हा। पिता बचनु फुर चाहिअ कीन्हा॥
२।१७३।३

—'पिता ने तुम्हें राज्य दिया है, अब राज्य तुम्हारा हो गया। अब तुम्हें अधिकार है कि तुम दूसरे को दे सकते हो।' पर श्री भरतजी कहाँ से शुरू करते हैं? वे कहते हैं, 'न; पहले यह भी तो पता चल जाय कि पिता जी को राज्य देने का अधिकार था भी या नहीं।' ठीक है, कोई व्यक्ति कोई वस्तु आपको उठाकर दे दे, तो ले लीजिये, पर किसी दूसरे की वस्तु आपको उठाकर दे दे, दूसरे का मकान आपको दान दे दे और आप बिना यह पता लगाये अधिकार करने पहुँच जायें कि सम्पत्ति इन्हीं की है या नहीं, तो उसका परिणाम क्या होगा? श्री भरत कहते हैं, राज्य तो पिता

जी का था ही नहीं, व्यक्ति का राज्य नहीं होता। रामराज्य तब तक स्थापित नहीं होगा, जब तक कोई व्यक्ति राजा होगा। व्यक्ति के राजा न होने का अभिप्राय यह नहीं कि कोई व्यक्ति पदाधिकारी नहीं होगा। इसका तात्पर्य यह है कि जब भी कोई व्यक्ति यह मानेगा कि मैं सत्ता का स्वामी हूँ, रामराज्य नहीं बनेगा। श्रीभरत का दर्शन यह है कि अगर राज्य दशरथ का होगा, या रघु का या अज का अथवा दिलीप का तो भी उसका पतन होगा। व्यक्ति तो अच्छाई-बुराई का संघात है, वह बदलता ही रहता है। अत: राज्य व्यक्ति का होने से वह भी बदलता रहेगा। राज्य तो वास्तव में एक मात्र ईश्वर का है और किसी का नहीं। श्रीभरत की स्पष्ट घोषणा है कि पिताजी को राज्य देने का कोई अधिकार नहीं है। **'संपति सब रघुपति कै आही'** (२।१८५।३)—संपति तो श्रीराम की है। पिताजी उसे कैसे दे सकते हैं? भरत जो चित्रकूट गये थे वह भगवान् राम को लौटाने नहीं, वे तो स्वीकृति प्राप्त करने गये थे। गुरु वसिष्ठ उनसे कहते हैं--राज्य तुम ले लो और स्वामी बनकर राम को दान दे दो। इस पर भरतजी कहते हैं, 'इससे बढ़कर चोरी क्या होगी कि कोई व्यक्ति किसी के धन पर अधिकार करके फिर दानी बनकर उसी को दान देने लगे? क्या मैं अन्यायपूर्वक प्रभु के राज्य को ले लूं?' बड़ी सुन्दर बात उन्होंने कही—'आप लोग मुझे राजा बनाने के लिये क्यों इतने बेचैन हैं?' लोगों ने कहा—'इसलिये कि राजा के बिना समाज उच्छृंखल हो जावेगा।' इस पर श्रीभरत ने कहा—जो राजा स्वयं डाका डालकर राजा बनेगा, वह क्या आपकी रक्षा करेगा?' बड़ी सार्थक बात उन्होंने कही। जो व्यक्ति सत्ता को अन्यायपूर्वक प्राप्त करेगा वह बाद में न्यायपूर्वक राज्य करेगा, इसकी कल्पना ही हास्यास्पद है। श्री भरत कहते हैं—**पितु सुरपुर सिय रामु बन**—जिस व्यक्ति के राज्य के मूल में पिता की मृत्यु है, बड़े भाई और मातृतुल्या भाभी का वनगमन है, छोटे भाई को वन में भटकना पड़ रहा है, वह व्यक्ति राजा होकर आप लोगों के राज्य को सम्हालेगा, ऐसी आशा करना बुद्धिहीनता का परिचायक है। आप भला किस दृष्टि से मुझे राजा बनाना चाहते हैं?—

पितु सुरपुर सिय रामु बन करन कहहु मोहि राजु।
एहितें जानहु मोर हित कै आपन बड़ काजु॥ २।१७७

—मैं आप लोगों से कहता हूँ—

कहउँ साँचु सब सुनि सब पतिआहू। चाहिअ धरमसील नरनाहू॥
२।१७८।१

—आप लोगों ने कहीं बलपूर्वक मुझे राज्य दे दिया तो जानते हैं क्या होगा ?

मोहि राजु हठि देइहहु जबहीं। धरा रसातल जाइहि तबहीं॥
२।१७८।२

—पृथ्वी रसातल को चली जायेगी। गुरु वसिष्ठ मुँह ताकने लगे। रावण हुआ, हिरण्यकशिपु हुआ ? पृथ्वी रसातल को नहीं गई और तुम्हारे राजा होते ही पृथ्वी रसातल को चली जायगी ! क्या यह अतिशयोक्ति की पराकाष्ठा नहीं है ?

श्री भरत कहते हैं—नहीं, यह अतिशयोक्ति नहीं है। हिरण्यकशिपु के राज्य से पृथ्वी रसातल को नहीं जायेगी, क्योंकि पृथ्वी जानती है कि वह दैत्य है, राक्षस है। लेकिन यदि पृथ्वी देखेगी कि राम का भाई कहलाने वाला व्यक्ति भी इतना पतित हो गया है कि वह मेरा स्वामी बनने का दुस्साहस कर रहा है तो वह समाप्त ही हो जाना चाहेगी। जब राम का भाई ही उस अनर्थ-पथ पर चलेगा तो पृथ्वी का सारा विश्वास समाप्त हो जावेगा। अभी तक पृथ्वी धैर्य धारण किये हुये इस विश्वास पर टिकी है कि केवल दैत्य ही उस पर अधिकार पाना चाहते हैं पर एक दिन कोई राम का प्रेमी, कोई भगवान् का भक्त, कोई आस्तिक अवश्य मेरा बेटा बनेगा और मेरे दुख को दूर करेगा। लेकिन जब पृथ्वी देखेगी कि राम का भाई भरत ही अब स्वामी बन रहा है तो सोचेगी कि अब तो पाताल में जाकर नष्ट ही हो जाना चाहिये। इसलिये आप लोगों ने यदि कहीं मुझे बलपूर्वक राज्य दे दिया तो पृथ्वी अवश्य रसातल को चली जायेगी। इसीलिये श्रीभरत जब चित्रकूट गये तो राज्याभिषेक की सारी सामग्री लेकर गये; सिंहासन, छत्र और मुकुट लेकर गये। श्रीभरत का इसमें तात्पर्य क्या था ? लोग आश्चर्य कर रहे थे कि जब ये प्रभु को लौटाकर लावेंगे तो राज्याभिषेक तो अयोध्या में होगा, चित्रकूट में क्या होगा ? पर श्री भरत कहते हैं—नहीं,

बनहिं देव मुनि रामहि राजू। **२।१८६।३**

—राज्याभिषेक तो वन में ही होगा, अयोध्या में नहीं। श्री भरत कितने भावुक, कितने सूक्ष्म हृदय के स्वामी थे ! उनका भाव यह है कि संसार में अधिकांश लोग छोटे होते हैं और पद पाकर बड़े हो जाते हैं, इसलिये वे पद की ओर भागते हैं, पर हमारे प्रभु तो इतने बड़े हैं कि क्या हम उनसे कहेंगे, आप पद लेने के लिये अयोध्या चलिये ? अगर अयोध्या के सिंहासन को अपने को धन्य बनाना है तो वहां चलकर प्रभु से प्रार्थना करे कि आप मुझ पर बैठिये। हमारे प्रभु राज्य लेने नहीं आवेंगे, राज्य को चाहिये कि उनको लेने जाये। जिसको आवश्यकता है वह जाये। श्री भरत इसी भावना से सेना, छत्र, मुकुट, पादुका आदि लेकर गये थे। जो पादुका भगवान् राम ने भरतजी को दी थी, वह उन्हीं उपकरणों में से दी थी। भरत और राम दोनों का अनोखा संबंध था, दोनों एक दूसरे को अपना इष्ट मानते थे। भगवान् राम भरत का ध्यान करते थे और श्री भरत राम का—

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जपु जेही॥
२।२१७।७

और प्रभु ने चित्रकूट में एक सुंदर विनोद किया। श्री भरतजी बार-बार कहा करते थे कि मैं तो बड़ा पापी हूँ, तो प्रभु ने हँसकर कहा—भरत, तुम अपने को पापी कहते हो पर मैं तो, भाई, अपने को पुण्यात्मा मानता हूँ। मैंने तो वाल्मीकिजी से कह दिया—

तात बचन पुनि मातु हित भाइ भरत अस राउ।
मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु सबु मम पुन्य प्रभाउ॥ २।१२५

भरत, एक निर्णय हो गया, तुमने मेरे नाम का जप किया किंतु फिर भी पाप नहीं मिटा, पर मैंने तुम्हारे नाम का जप किया और मेरा पाप तो मिट गया, इसलिये नाम तो तुम्हारा ही कल्याणकारी है, परिवर्तन तुम्हारे ही नाम से आता है, मेरे नाम से नहीं ! प्रभु का संकेत यह है कि ईश्वर परिवर्तन नहीं करता। परिवर्तन तो प्रेम करता है। भरत मूर्तिमान प्रेम हैं। प्रेम और ईश्वर का जब मिलन होता है तो रामराज्य बनता है। अकेला ईश्वर रामराज्य नहीं बना सकता। अकेले श्रीराम रामराज्य नहीं बना सकते थे, इसके लिये मूर्तिमान प्रेम श्री भरत की आवश्यकता थी जो भगवान् राम के दर्शन को अपने चरित्र के द्वारा,

अपने जीवन के द्वारा समाज में साकार कर सके। यह कार्य श्री भरत ने किया। इसीलिये जब भरत लौटने लगे तो भगवान् राम ने कह दिया, 'भरत, मेरा तो एक ही निर्णय है, मैं स्वभाव से सत्यवादी हूँ। आज मैं शंकरजी की शपथ लेकर कहता हूँ—

कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी॥
२।२६३।१

—अगर यह पृथ्वी बचेगी, तो तुम्हारे स्वीकार करने से। तुमने कहीं अस्वीकार कर दिया तो रसातल में चली जायगी। अब दोनों के अलग-अलग विचार हैं। भरतजी ने कहा कि अगर कहीं उन्हें राजा बना दिया गया तो पृथ्वी रसातल को चली जायेगी और इधर प्रभु कहते हैं कि यदि तुम राज्य स्वीकार न करोगे तो वह रसातल को चली जावेगी। यह विरोधाभास क्यों ? प्रभु का संकेत यह है कि 'भरत, असुरगण पृथ्वी पर अधिकार करना चाहते हैं और तुम्हारे जैसे संत यदि स्वीकार करना नहीं चाहेंगे तब तो असुरों का ही अधिकार हो जायेगा। यदि तुम जैसे संत इसे स्वीकार करके दिखायें कि बिना अधिकार के भी कैसे राज्य चलाया जा सकता है तभी यह पृथ्वी बचेगी, तभी मेरा दर्शन पूरा होगा। तुम अगर सत्ता से भागोगे तो असुरों के सामने मार्ग रह जायेगा कि वे अधिकार करके सत्ता चलावें। इसलिये, भरत, मैं तो चाहता हूँ कि तुम जैसा संत एक बार पृथ्वी को स्वीकार करके दिखाये तो। केवल स्वामी-बुद्धि से ही पृथ्वी को नहीं स्वीकार किया जाता, सेवक और पुत्र बनकर भी तो उसकी सेवा की जा सकती है।' और तब श्री भरतजी श्रीराम से एक आधार की याचना करते हैं। फलस्वरूप अंत में प्रभु भरतजी को पादुकाएँ प्रदान करते हैं।

ज्योंही प्रभु ने पादुका दी, भरतजी ने उसे सिर पर रख लिया। तब प्रभु ने हँसकर पूछा, 'भरत, तुमको आधार मिला कि भार मिला ?' अगर पादुका को पाँव में पहना जाये तो आधार है और सिर पर ढोया जाये तो भार है! प्रभु ने कहा—'भरत मैं तो समझता हूँ कि तुम भार उठाने योग्य हो, इसलिये मैं तुम्हें आधार नहीं दूँगा; भार दूँगा।' श्री भरत ने गद्‌गद होकर कहा, 'नहीं प्रभो, जो आधार मैं चाहता था, वह मिल गया।' उनका भाव यह था कि यह जो पादुका आपने दी वह सिर पर ही धारण करने योग्य है। पादुका का सिद्धांत ही यह है कि जिसकी

पादुका रहती है उसी के पैर में ठीक होती है। 'दोहावली रामायण' में तुलसीदासजी ने कहा—"**बिनु आँखिन की पानहीं लख तेहि चालत पाय।**' जूते के पास आँख भले ही नहीं होती पर वह पैर को इतना पहचानता है कि धोखे से कोई दूसरा पैर पड़ जाये तो तुरंत कह देगा हम आपके नहीं हैं! पैर डालने वाला सभ्य होगा तो पैर निकाल देगा और चोरी की दृष्टि से आया होगा तो निकालने से रहा।

श्री भरत ने कहा, 'प्रभो, पादुका आपने दी है। मैं तो बस यही चाहता था कि आप अयोध्या का राज्यपद स्वीकार कर लें। यह पादुका आपकी है। इस पादुका में भरत यदि अपना पैर डालने की चेष्टा करेगा तो वह चोरी होगी। बस, संसार को यह ज्ञान रहे कि अयोध्या का राज्यपद, विश्व का राज्यपद प्रभु का है तथा यह पादुका ही इसकी वास्तविक स्वामिनी है। भरत राज्य चलावेगा। और सचमुच उस पादुका को भरतजी ने सिंहासन पर बैठा दिया!

तो, रामराज्य और दशरथ-राज्य के बीच में एक ऐसे राज्य की आवश्यकता थी जिसमें सत्ता चलती तो है पर सत्ताधीश कोई नहीं होता। इसमें प्रभु की पादुका ही सिंहासन की स्वामिनी है। व्यक्ति केवल सेवक के रूप में रहता है—

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राजकाज बहु भाँति॥ २।३२५

श्री भरत ने इस प्रकार के दर्शन के द्वारा, अपने चरित्र और हृदय के द्वारा अयोध्यावासियों में परिवर्तन ला दिया।

भगवान् श्रीराम ने अपनी इस यात्रा में अपने परिवार का विस्तार किया। कोल-किरात उनके मित्र बने, पर उतने से संतोष नहीं है। दंडकारण्य गये पशु-पक्षियों से मित्रता की और आगे बढ़कर बंदरों से बन्धुत्व स्थापित किया। पर तब भी लंका पर आक्रमण नहीं किया।

तौलौं न दापु दल्यो दसकंधर जौलौं बिभीषन लातु न मारो।
कवितावली, उ० का० ३

अब तक राक्षसजाति का कोई प्रतिनिधि उनके पास नहीं आया था। प्रभु का भाव तो यह है कि जब तक रावण के विरुद्ध उसी की जाति के लोग कुछ नहीं कहते तब तक मैं लंका में प्रवेश नहीं करूँगा। श्रीराम

तो सबके लिये लड़ रहे थे। यह उनका अपना युद्ध नहीं था। इसीलिये भगवान् श्रीराम के द्वारा दुर्गुण-दुर्विचार की विचारधारा का विनाश होता है। आवश्यकता होने पर दुर्गुणों को भी दंड प्राप्त होता है, और श्री भरत के द्वारा समाज का मानसिक परिवर्तन होता है। और तब जाकर वह रामराज्य बनता है, जिसकी सब झाँकी ही गोस्वामीजी ने प्रस्तुत की है। जिस दिन रामराज्य होने वाला था, गुरु वसिष्ठ ने कहा— राघवेन्द्र को स्नान कराओ। भगवान् राम ने कहा—पहले मेरे मित्रों को नहलाओ—

राम कहा सेवकन्ह बुलाई। प्रथम सखन्ह अन्हवावहु भाई ॥
७।१०।२

जिस समय भरत प्रभु को स्नान कराने बढ़े, प्रभु ने कहा—'नहीं भरत, अभी तक हम भाई-भाई थे, हम तुम्हारी सेवा ले सकते थे, पर ये अब तो हम राजा हो गये हैं, सेवा कर ही सकते है; ले नहीं सकते।' भगवान् श्रीराम ने उसी दिन से नियम ले लिया कि अब किसी की सेवा नहीं लेंगे। यहाँ तक कि अपने स्नान के लिये भरत से भी सहायता नहीं ली। श्री भरत को उन्होंने सामने, अपने लिये रखे गये आसन पर बैठा दिया और पीछे खड़े हो गये, बोले, 'मैं' राजा के रूप में जो कार्य करता हूँ उसे चुपचाप देखते रहो।' गोस्वामीजी कहते हैं—

पुनि करुनानिधि भरतु हँकारे। निज कर राम जटा निरुआरे ॥
अन्हवाए प्रभु तीनिउ भाई। ७।१०।४-५

—श्रीराम भरत की जटाएँ सुलझाते हैं और जब स्वयं स्नान करने गये तो किसने स्नान कराया ? जिसके इतने प्रिय भाई रहे हों, इतने अनुचर —सेवक रहे हों, कौन नहीं चाहता होगा कि राम को स्नान करा दूँ, पर गोस्वामीजी कहते हैं—**निज कर राम जटा निरुआरे** —अपनी उलझी जटाओं को किसी को भी सुलझाने नहीं दिया। और—**गुरु अनुसासन मागि नहाए**—गुरु का आदेश ले स्वयं स्नान किया। भरतजी व्याकुल हो गये; बोले, 'प्रभु, हम लोगों को कम से कम यह सेवा तो करने दीजिये।' प्रभु ने हँसकर कहा, 'अरे भाई, छोटे के सिर पर बड़े का हाथ रहे तो ठीक रहता है, बड़े के सिर पर छोटे का हाथ क्या शोभा

देता है ? नहीं ! नहीं ! यह उचित नहीं होगा।' श्री भरत समझ गये कि प्रभु सेवा नहीं लेंगे।

गोस्वामीजी का जो दर्शन है तथा जिस रूप में उन्होंने श्रीराम के चरित्र को रखा है वह हमारे जीवन के लिये बहुत प्रेरणा दे सकता है। भगवान् श्रीराम शाश्वत हैं ; वे त्रेतायुग के ही सत्य नहीं थे, वे आज के भी सत्य हैं और व्यक्ति किसी भी क्षण उन्हें अपने जीवन में पा सकता है। इसीलिये तुलसीदासजी बार-बार कहते हैं—श्रीराम के नाम का आश्रय लीजिये, श्रीराम के चरित्र का गायन कीजिये, श्रीराम के चरित्र का श्रवण कीजिये—

रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि। संतत सुनिअ राम गुन ग्रामहि॥
जासु पतित पावन बड़ बाना। गावहिं कबि श्रुति संत पुराना॥
ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई। ७।१२१।६-८

गोस्वामीजी कहते हैं कि श्रीराम का ध्यान करके, उनके नाम का जप करके, उनके चरित्र का अनुगमन करके व्यक्ति के जीवन में उनके गुणों का अविर्भाव हो सकता है। मुझे विश्वास है कि परिस्थितियाँ चाहे जैसी भी हों, लोगों के मन की प्यास, उनकी सुनने की रुचि यह बताती है कि मनुष्य के अंतःकरण में प्यास तो सच्चाई की ही है। प्रतिकूल परिस्थितियों के संघर्ष में यही आशा करनी चाहिये कि बुराइयों की पराजय के साथ-साथ हमारे हृदय में, इस मानस चतुश्शती के विशेष संदर्भ में, भगवान् के गुणों का प्रकाश होगा।

आठवाँ व्याख्यान समाप्त

आषाढ़ **JULY** श्रावण

MON	TUE	WED	THU	FRI
	1 तृतीया	2 चतुर्थी	3 षष्टी	4 सप्तमी
7	8	9	10	11

3 ऱु० १	14 द्वितीया	15 तृतीया	16 चतुर्थी	17 पंचमी	18 षष्टी	1 सप्त
0 ष्टमी	21 नवमी	22 दशमी	23 एकादशी	24 द्वादशी	25 त्रयोदशी	2 चतुर्द
7 मा	28 श्रावण कृ० १	29 द्वितीया	30 तृतीया	31 चतुर्थी		

1980 श्रावण **AUGUST** भाद्रपद २०३७

UN	MON	TUE	WED	THU	FRI	SA
31 ष्टी	14th Id-ul Fitar	15th Independ Day			1	2
3	4	5				